प्रकाशक :
हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया
सुजानगढ़ (बीकानेर)

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी
वीरनिर्वाण संवत् २४८०
प्रथम संस्करण १००० प्रतियाँ
मूल्य ५)

मुद्रक :
मदनकुमार मेहता
(आदर्श-साहित्य-संघ द्वारा संचालित)
रेफिल आर्ट प्रेस,
३१, बड़तल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता।

समर्पित

वहुश्रुतों में वहुश्रुत
प्रज्ञा, सेवा और विनय
की
जीवन्त मूर्त्ति
तपोपूत स्थविर मंत्री
मुनि श्री मगनलालजी को

तीर्थङ्कर वर्द्धमान

(जीवन-चरित और प्रवचन)

नाणेणं दंसणेणं च, चरित्तेणं तवेण य ।
खन्तीए मुत्तीए, वड्ढमाणो भवाहि य ॥

उत्त० २२ : २६

—तुम ज्ञान, दर्शन और चारित्रसे तथा तप, क्षमा और निर्लोभतासे सदा वृद्धि पाते रहना ।

प्रस्तावना

हिन्दी भाषाभाषी जनताके सम्मुख तीर्थङ्कर वर्द्धमानके चरितका यह प्रथम खण्ड उपस्थित करते हुए एक आत्म-तृप्तिका अनुभव हो रहा है। इस महान् विभूतिके सम्बन्धमे हिन्दी साहित्यमे नगण्य-सा ही लिखा मिलता है। युग-युग प्रकाशकारी इस महान् पुरुषके व्यक्तित्वका पूरा तो क्या स्वल्प मात्र भी नाप-तोल अभी तक हिन्दी-जगत् में नही हुआ।

इस प्रथम खण्डमे दो भाग हैं। प्रथम भागमें जीवन-चरित और द्वितीय भागमें प्रवचन-संग्रह है।

आज तक जो महावीर चरित लिखे गये हैं वे प्रायः कलिकाल-सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यके 'त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र' काव्यकी सामग्रीके आधार पर ही हैं। वर्षोंसे इच्छा थी कि तीर्थङ्कर महावीरका, प्राचीन-से प्राचीन सामग्री पर आधारित, एक प्रामाणिक जीवन-चरित हिन्दीमें लिखा जाय। यह उसी दिशामें एक प्रयत्न मात्र है।

इस जीवनीकी सामग्री अधिकांशतः आगम-ग्रन्थोसे ली गई है और पाद टिप्पणीमें संदर्भ दे दिये हैं। जिन घटनाओंका आगम-ग्रन्थोंमें उल्लेख नही, इन्हे छोड दिया गया है। इस तरह प्राचीन-से-प्राचीन सामग्रीके आधार पर महावीरके जीवनकी जो रूप-रेखा बनती है, वही

सहज भावसे इस खडके प्रथम भागमें आई है। जीवन-चरितमें महावीरके प्रभावशाली व्यक्तित्वके विषयमे लेखककी ओरसे एक शब्द भी नही लिखा गया और न उनकी विशेषताओको दिखानेकी चेष्टा की गई है। पाठकोको यह कमी अखरेगी पर ऐसा जान-बूझ कर ही किया गया है। महावीरका अद्भुत और अनन्य व्यक्तित्व उस समय तक अतिरंजित ही बना रहेगा जबतक उनके जीवनके सारे प्रसग सामने नहीं आ जायेंगे। ऐसे प्रसगोके अध्ययनसे ग्रन्थित व्यक्तित्व ही महावीरका सच्चा व्यक्तित्व होगा और वही सर्वाधिक विश्वसनीय बन सकेगा, इसी दृष्टिसे लेखकने उनके व्यक्तित्वके बारेमें अभी इस खण्डमें कोई जिक्र नही किया।

'तीर्थङ्कर वर्द्धमान' का द्वितीय खण्ड प्रेसमे है, जिसमें भगवान महावीरके जीवन-प्रसगोका सग्रह है। इस प्रथम खण्डके द्वितीय भाग में प्रवचनोका सग्रह है। ज्ञाता धर्म सूत्रके आधार पर लेखक द्वारा प्रस्तुत महावीरकी धर्मकथाओका सग्रह* पहले ही प्रकाशित किया जा चुका है। तृतीय खण्डमें इसी सब सामग्रीके आधारपर भगवान् महावीरके अद्वितीय व्यक्तित्व और उनकी महान् देनके विषय पर प्रकाश डाला जायगा और इसमें भगवान् महावीर, तथागत बुद्ध और महात्मा गाधीका तुलनात्मक अध्ययन भी रहेगा। यह प्रथम खण्ड समूची जीवनी उपस्थित करनेकी योजनाका एक अश मात्र ही है।

इस प्रथम खण्डके उत्तरार्द्धमे महावीरके प्रवचनोका सिलसिलेवार और एक योजनापूर्वक सग्रह किया गया है। अर्थमें मूलके यथाशक्य नजदीक रहनेकी चेष्टा की है। सारे प्रवचनोको पढ़ लेनेपर तीर्थङ्कर-

---

* 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ'—प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापथी महासभा ३, पोर्च्युगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता मूल्य ।।।)

वर्द्धमानका जीवन किस सिद्धान्तवाद और कैसी जीवन-साधनाके लिए था, यह सहज ही समझमें आ सकेगा।

यह प्रवचन-संग्रह पहले मैंने गद्यमें तैयार किया और बादमें मूल सहित। विद्वतवर पं० बेचरदासजी दोशीकी 'महावीर वाणी' सस्ता साहित्य से सन् १९४२ में प्रकाशित हुई उसके पहले ही यह संग्रह तैयार हो चुका था और इसके फुटकर अंश कुछ पत्रोंमें प्रकाशित भी हुए थे। एक समर्थ विद्वान द्वारा सम्पादित उपरोक्त संग्रहके प्रकाशनके बाद इस संग्रहके प्रकाशनकी आवश्यकता न देख मैंने इसे यों ही रख छोड़ा।

सं० २००५ की बात है। मैं चातुर्मासमें पूज्यपाद आचार्य श्री तुलसीके दर्शनके लिए छापर गया था। इन दिनों आचार्यश्री प्रवचन-संग्रहका ही कार्य करा रहे थे। सहज ही एक सुझाव मुंहसे निकल पड़ा। आचार्यदेवको वह पसन्द पड़ा और अकस्मात् इस तरहका सुझाव कैसे दे पाया—पूछने की कृपा की। मैंने अपने संग्रहकी बात चलाई, जो संयोगवश उस समय मेरे साथ छापरमें था। महती कृपाकर आचार्यश्रीने संग्रह अवलोकनार्थ रख लिया। मैं कुछ दिनों बाद कलकत्ता चला आया। समाजभूषण छोगमलजी चोपड़ाने इस संग्रहका जिक्र करते हुए एक बार लिखा—आचार्य देवने तुम्हारे संग्रहको परिश्रमसाध्य और उपयोगी बतलाया है। मैंने अपना अहोभाग्य समझा।

छापर चातुर्मासके बाद आचार्य देव राजलदेसर पधारे जहां, सं० २००५ का माघमहोत्सव था। सतोंने देखनेके बाद संग्रह एक श्रावकको सभला दिया। वे मुझे देना भूल गये और उसका पता न चल पाया। सं० २००७में मैं लुधियाना आचार्यदेवके दर्शनके लिए

गया हुआ था और अपने एक मित्रके साथ भोजन कर रहा था। उसी समय एक सज्जन आए और कपड़ेमें बधा हुआ एक पुलिन्दा मेरे हाथमें देते हुए बोले—"रामपुरियाजी, देखिए यह क्या चीज है। किसीको देनी थी। सतोंने राजलदेसरमें सभलाई थी, पर मैं नाम ही भूल गया। हिफाजतसे रख छोडी है पर किसको दूँ?" मैंने बडी उत्सुकतासे भोजन करते-करते ही बण्डल खोली। मेरे आनन्दका ठिकाना न रहा। अपनी ही चीजें उसमें पा उन सज्जनको धन्यवाद देते हुए बोला—"अब आपको और किसीकी खोज नही करनी होगी। ये कागजात मेरे ही है।" उस समय जीवनीवाला अश प्रेसमें दिया जा चुका था। कुछ फोर्म छप भी चुके थे। सोचा इस सग्रहका इस समय मिलना इस बातका सकेत है कि इसका उपयोग उसके उत्तरार्द्ध में कर लेना चाहिए। इसी भावना से इस सग्रहको इस खण्डके द्वितीय भागके रूपमें जोड दिया गया है।

प्रवचनोको चार विभागोमे बाटा गया है। प्रथम विभाग—शिक्षापदमें—भगवान् महावीरकी सार्वभौम शिक्षाओका सग्रह है, जो निर्विशेष रूपसे मानव-मात्रके लिए उपयोगी है—चाहे वह किसी जाति या धर्मका हो, चाहे वह गृहस्थ हो या मुनि हो। दूसरे विभाग—निर्ग्रंथपद—में उन शिक्षापदोका समावेश किया गया है जिन पर महावीरके मुनियोको चलना पडता था। इससे महावीरकी मुनि-जीवनकी कल्पना क्या थी और उनके मुनियोको कैसा कठोर साधना-मय और अहिंसक जीवन व्यतीत करना पडता था इसका पता चल सकेगा। तीसरे विभाग—दर्शन-पदोसे महावीरके वाद—उन्होंने जिस दर्शनधाराका प्रतिपादन किया, उसका सहज बोध हो सकेगा। अन्तिम विभाग—क्रांतिपदसे—भगवान् महावीरने अपने जमानेकी

बुराइयों और जड़ताओंके विरुद्ध जो तुमुल मोर्चा लिया, उसका सहज चित्र सामने आ जायगा।

विदेशी विद्वानोंका अनुसरणकर महावीरको जन्मभूमि वैशाली मानी जाने लगी है पर लेखकका मत है कि वैशाली महावीरकी जन्मभूमि नहीं हो सकती। उनकी जन्मभूमि क्षत्रियकुण्ड ग्राम (पुर) था। इस विषयकी चर्चा जीवनीमें जन्मभूमि शीर्षकके अन्तर्गत आई है।

इस पुस्तकके लिखनेमें जिन-जिन विद्वानोंकी पुस्तकोंका सहारा लेना पड़ा है, उनके प्रति लेखककी हार्दिक कृतज्ञता है।

'जीवन-साहित्य'के सम्पादक सहृदय भाई यशपालजी जैनने मेरे अनुरोधको स्वीकारकर भूमिका लिखनेकी कृपा की, उसके लिए मैं उनका हार्दिक आभार मानता हूं।

यह जीवनी महावीरका प्रामाणिक जीवन-परिचय देनेकी दृष्टिसे लिखी गई है। यदि यह प्रयास उस दिशामें थोड़ा भी सफल रहा, तो मैं अपनेको कृतकृत्य समझूंगा।

६५।३ पांचागली
कलकत्ता
ता० २८।४।५३

श्रीचन्द रामपुरिया

भूमिका

वन्धुवर श्रीचन्दजी रामपुरियाने जब प्रस्तुत पुस्तककी भूमिका लिख देनेका आग्रह किया तो अत्यधिक व्यस्त होने और अपनी मर्यादाओंको जानते हुए भी मैं सहसा इन्कार न कर सका। इसका मुख्य कारण था अपने भारको हल्का करनेकी भावना। आजसे कुछ महीने पूर्व जब मैं श्री रामपुरियाजीसे मिला था तो उन्होंने इस पुस्तककी चर्चा करते हुए सहज भावसे पूछ लिया था कि भूमिका किससे लिखवाना ठीक होगा। मैंने उन्हें न केवल नाम ही सुझाया, अपितु भूमिका लिखवा देनेका आश्वासन भी दे दिया। मेरे इस आश्वासन पर रामपुरियाजी कई महीने तक छपी पुस्तक को केवल भूमिकाके लिए रोके रहे। लेकिन वचन देकर और चाहते हुए भी जब वह सज्जन अत्यधिक व्यस्तताके कारण भूमिका न भेज सके और कई महीने निकल गये तो मेरे हृदय पर बोझकी एक चट्टान-सी खड़ी हो गई। उसी बोझको हल्का करनेके लिए, भूमिकाके रूपमें इन पक्तियोंके लिखनेकी मांग होने पर, मेरे लिए बचनेका कोई अवसर न रहा। मुझे खेद है कि रामपुरियाजीको पुस्तक प्रकाशित करने और पाठकोंको उसे पानेके लिए इतनी प्रतीक्षा करनी पड़ी।

भारत एक विशाल भू-खण्ड है। लगभग पैंतीस करोड़ लोग यहां बसते हैं। उनकी अनेक जातियां हैं, धर्म हैं और अलग-अलग विश्वास हैं। प्राचीनकालसे ही यह परम्परा चली आ रही है। जिस समय

आर्य लोग इस देशमें आये थे, उनकी सख्या अधिक न थी, लेकिन वे सब-के-सब किसी एक स्थान पर केन्द्रित न होकर भिन्न-भिन्न जनपदोमें फैल गये। इस प्रकार विकेन्द्रित होकर उनकी अलग-अलग शाखाए हो गईं और क्षेत्र एव कालके अनुसार उनकी धार्मिक मान्यताओमें भी अन्तर पड गया। वे एक ईश्वरके उपासक थे और प्रकृति की विभिन्न शक्तियोमें ईश्वरके नाना रूपोंकी कल्पना करके देवी-देवताओके रूपमे उनकी पूजा करते थे। देवी-देवताओको प्रसन्न करने के लिए उन्होने यज्ञकी परिपाटीको प्रोत्साहन दिया, परन्तु कालातर में धर्म सबधी उनकी मूल भावनामें भारी परिवर्त्तन हो गया। यज्ञ उनके लिए मोक्षके साधन बन गये और उनमें वे हजारो-लाखो निरीह पशुओकी बलि देने लगे। वे समझने लगे कि पशुओंकी बलिसे देवी-देवता प्रसन्न हो जायगे और उनके लिए मोक्षका द्वार अनायास खुल जायगा। घोर हिंसाका प्रचार हो गया। पूजामे हिंसा आई तो जीवन के अन्य व्यवहारोमें उससे कैसे बचा जा सकता था? इस प्रकार क्या पूजा-आराधनामें और क्या पारस्परिक व्यवहार और व्यवसाय में, हिंसाका बोलबाला हो गया।

अपनी सुविधाकी दृष्टिसे आर्योंने कार्य-विभाजन करके एक-एक वर्गको उसकी योग्यतानुसार काम सौप दिया था। आगे चलकर वह वर्ग-विभाजन वर्णके रूपमें परिवर्तित हो गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, ये पृथक्-पृथक् चार वर्ण बन गये। उनमें ऊच नीचकी भावना उत्पन्न हो गई और ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अपनेको उच्च मानकर वैश्य और शूद्रोको हेय दृष्टिसे देखने और तदनुसार उनके साथ आचरण करने लगे। सेवा-कार्य करनेवाले शूद्रो और दासोका तो एक ऐसा वर्ग ही बन गया, जो न केवल नीचा ही समझा जाने लगा,

अपितु उसे सामान्य मानवीय अधिकारोंसे भी वंचित कर दिया गया। जो आर्य-जाति संगठित होकर इस भूमि पर आई थी, वह बिखर गई और आदमी आदमीके बीच दुर्भेद्य दीवार खड़ी हो गई। अपने-अपने मताग्रहोंके कारण लोगोंके सिर फूटने लगे।

राजनैतिक क्षेत्रमें भी विषम स्थिति पैदा हो गई। भौतिक जय-पराजयमें लोग अपने पराक्रमकी चरम सीमा मानने लगे।

ऐसी भयावह स्थितिमें विहारके ज्ञातृकगणके अधीनस्थ कुण्डलग्राम (कुण्डलपुर) के राजघरानेमें ईसासे ५९९ वर्ष पूर्व वर्द्धमान नामक एक बालक उत्पन्न हुआ। चैत्रका मास, ग्रीष्म ऋतु, शुक्ल त्रयोदशी का दिन और मध्य रात्रिकी वेला। पिता सिद्धार्थ और मा त्रिशला तो पुलकित हुए ही, सारा राज्य आनन्दित हो उठा। जबसे बालक मा के पेटमें आया था तभीसे कुलकी सुख-समृद्धि और मान-मर्यादामें आश्चर्यजनक वृद्धि हुई थी। स्वभावत. बालकका नाम उसके गुणोंके अनुसार वर्द्धमान रक्खा गया।

वर्द्धमानका बचपन वैसे ही बीता जैसे अन्य बालकोंका बीता करता है। वह उदार थे और उनका शरीर बलिष्ठ और कांतिवान था। उन्हें सब प्यार करते थे।

दिगम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है कि महावीरने विवाह नहीं किया और आजन्म ब्रह्मचारी रहे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय मानता है कि उन्होंने मा के विशेष आग्रह पर यशोदा नामकी लड़कीसे विवाह किया और उनके एक कन्या भी उत्पन्न हुई। जो हो, बचपनसे ही उनमें वैराग्यका बीज विद्यमान था और वह धीरे-धीरे उनकी मानस-भूमिमें जमता जा रहा था। ३० वर्षकी आयु तक वर्द्धमान घरमें रहे; लेकिन अनासक्त रहकर। घरके किसी काम-काज अथवा राज-पाटमें उन्हें

रस न था। वैराग्यका बीज जो पनप रहा था। जब वह विकसित हुआ तब ३० वर्षकी भरी जवानी, भरा-पूरा घर-बार, विस्तृत राजपाट, कुछ भी उन्हे न रोक सका। सबको लात मार कर वह तपश्चर्या करने घरसे निकल पड़े। उन्होने प्रतिज्ञा की :

"सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं"

अर्थात्—"आजसे मैं कोई पाप नही करूंगा।" इतना ही नहीं, उन्होंने पचमहाव्रतके पूर्ण पालनकी भी प्रतिज्ञा की।

आश्चर्य होता है कि उन्होंने ऐसे कठोर मार्गको कैसे चुना! आज के युगका बुद्धिवादी यह भी कह सकता है कि उस सबकी आवश्यकता ही क्या थी। भगवानने उन्हे साधन दिये थे तो वे उनका उपयोग करते और उनके द्वारा दूसरोका कष्ट-निवारण करते, लेकिन वह वर्द्धमान का मार्ग नही था।

घरसे बाहर निकलनेके बादके उनके बारह वर्षोंका जीवन इतना कठोर और रोमाचकारी है कि पढकर हृदय काप उठता है। न कोई शिष्य, न उपासक, मौन आत्मशोधनमें लीन, उनकी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्यागके कठोर नियमोका पालन, शारीरिक अनासक्ति, वन्य जतुओका उपद्रव, लोगोका उत्पात, कभी खुलेमें तो कभी पेडकी छांहमें, कभी श्मशानमें तो कभी सूने घरमे उनका पडा रहना, खान-पानका अद्भुत सयम, नीद पर विजय, आदि-आदि बातोंके बडे ही विशद और रोचक वर्णन मिलते है। काया सूख गई, वस्त्र जीर्ण होकर नष्ट हो गया। उनकी वह दुर्द्धर्ष तपश्चर्या महीने दो महीने अथवा साल दो साल नही, बारह वर्ष तक निरन्तर चली। अनेक उपसर्ग हुए, अनेक प्रलोभन आये; परन्तु वर्द्धमानकी तपस्याको कोई खण्डित न कर सका। अपनी इस निष्ठायुक्त साधना,

असामान्य धैर्य, कष्ट-सहिष्णुता एव आत्म-सयमके कारण ही वह वर्द्धमानसे महावीर बने ।

तेरहवें वर्षमें उनकी तपश्चर्या पूर्ण हुई और वह 'केवली' पदको प्राप्त हुए । ससारके सुख-दु ख, मोह-माया, राग-द्वेष आदिसे वह ऊपर उठ गये । तीर्थका अर्थ होता है, जिसके द्वारा तिरा जा सके और चूकि महावीरने अपनी वाणी द्वारा भवसागरको पार करनेका मार्ग प्रशस्त किया, इसलिए वह तीर्थंकर कहलाये ।

केवली पद प्राप्त कर लेनेके बाद उन्होने धर्मोपदेश देना आरम्भ किया । उनके अनुयायियोमें स्त्री-पुरुष सब थे । जो पूर्ण व्रती थे वे 'श्रमण' और जो स्थूल व्रती थे वे उपासक व श्रावक कहलाये । श्रमण, श्रमणी, उपासक, उपासिका—यह चतुर्विध अनुयायी-समुदाय सघ कहलाया । भगवान महावीरकी दृष्टि सम्पूर्णतः आध्यात्मिक थी । आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म-विजय करनेका अभिलाषी कोई भी व्यक्ति सामर्थ्यानुसार व्रत ग्रहण कर सघका अंग हो सकता था । सघकी नींव ८ तत्वो पर आधारित थी :—(१) आत्म-जय, (२) अहिंसा, (३) व्रत, (४) विनय, (५) शील, (६) मैत्री, (७) समभाव और (८) प्रमोद । जो पूर्ण व्रती थे वे किसी भी सवारीका उपयोग नही कर सकते थे, वे पैदल चलते थे । पैरोमें जूते नही पहन सकते थे और न खाट आदि आरामके उपकरण ही काममें ला सकते थे । सादा और स्वावलम्बी जीवनका उनके लिए विधान था । वे वाणिज्य-व्यापार भी नही कर सकते थे और अपना जीवन-यापन उन्हे भिक्षा मांग कर करना पडता था ।

महावीर ७२ वर्षकी आयु तक जीवित रहे । अनन्तर राजगृहमें शरीर त्याग मोक्षको प्राप्त हुए ।

अपने उपदेशोमें महावीरने सभी विषयोका समावेश किया। वह जानते थे कि जीवनकी छोटी-से-छोटी बात भी महत्वपूर्ण होती है और तनिक-सी असावधानी बडी-से-बडी साधनाको विकृत कर सकती है। अत उन्होने गृहस्थोके लिए नियमादिक बनाये तो साधु, भिक्षु आदिको भी बधनमुक्त नही छोडा। वह यह भी जानते थे कि सबके लिए समान नियम नही बनाये जा सकते, कारण सबकी अपनी-अपनी सीमाए होती है। अत. साधुके लिए जहां उन्होने पचमहाव्रतोके सूक्ष्म पालनकी शर्त रक्खी, वहा गृहस्थोको उपदेश दिया कि यदि वे अहिसा आदि व्रतोका उनके सूक्ष्म रूपमे पालन नही कर सकते तो कम-से-कम स्थूल रूपसे तो उन पर चलें।

महावीर चाहते तो अपने प्रवचन पाडित्यपूर्ण भाषामे दे सकते थे; लेकिन इससे उनका सदेश पण्डित-वर्ग तक ही सीमित रह जाता। इसलिए उन्होने लोक-भाषाको अपनाया और अपनी शिक्षाए इतनी सरल और बोधगम्य भाषा और शैलीमें दी कि सामान्य व्यक्ति भी उन्हें बिना कठिनाईके समझ सकता था। उनके विचार बहुत स्पष्ट थे। कही भी उनमें उलझन न थी। इसीसे उनका सदेश व्यापक रूप से फैला। फिर एक बात यह भी थी कि उन्होने अपने उपदेश किसी वर्ग-विशेषके लिए नही दिये, बल्कि बिना जाति-पातिके भेद-भावके सबको उनसे लाभ पहुचे, यह दृष्टि रक्खी। जिस प्रकार उनके सघका द्वार सबके लिए समान रूपसे खुला था, उसी प्रकार उनके उपदेश भी सबके लिए कल्याणप्रद थे।

प्रस्तुत पुस्तकमें बड़े परिश्रम और अध्ययनके बाद बन्धुवर राम-पुरियाजीने भगवान् महावीरके जीवन-चरितकी सामग्री तथा उनके चुने हुए प्रवचन दिये हैं। जीवन-चरित सम्बन्धी सामग्रीका उन्होने

चार भागोमें विभक्त किया है (१) गृहस्थ-जीवन, (२) साधक जीवन, (३) तीर्थंकर-जीवन और (४) परिनिर्वाण। महावीरका समूचा जीवन इतना घटनापूर्ण है कि सारी उपलब्ध सामग्रीको एक पुस्तकमे देना एक प्रकारसे असम्भव है। अत. लेखकने वडी कुशलता से मुख्य-मुख्य घटनाए देकर शेपके लिए पुस्तको आदिके सन्दर्भ पाद-पाठोमे दे दिये है। उन सन्दर्भोके कारण अधिक जानकारी पाने की जिज्ञासा रखनेवाले पाठकोको पुस्तकोके ढूढनेमें कठिनाई नही होगी।

पुस्तकका सबसे मूल्यवान भाग महावीरके प्रवचन है, जिन्हें चार भागोमें वाटा गया है (१) शिक्षा-पद, (२) निर्ग्रन्थ-पद, (३) दर्शन-पद और (४) क्रान्ति-पद। प्रवचनोका प्रत्येक विभाग अमूल्य रत्नोसे भरा पडा है। पहले मूल भाषामें एक-एक पद दिया गया है। साथ ही सुवोध भाषामे उसका अर्थ। अर्थको सरल बनानेकी चेष्टा की गई है और जहां पारिभाषिक शब्दोका रखना अनिवार्य हो गया है, वहा उनकी व्याख्या कर दी गई है। अर्थ करनेमें मूलके निकट रहनेका प्रयत्न भी स्पष्ट दीख पडता है।

लगभग २५०० वर्ष बाद भी महावीरका सदेश कितना ताजा और कितना स्फूर्तिदायक है, इसके कुछ नमूने देखिये। प्रमादके विरुद्ध चेतावनी देते हुए वह कहते है :

दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए॥

—जैसे वृक्षके पत्ते पीले पडते हुए समय आने पर पृथ्वी पर झड़ जाते है, उसी तरह जीवन भी (आयु शेष हो जाने पर समाप्त हो जाता है)। हे जीव, क्षण भरके लिए भी प्रमाद न कर। (पृ० १०१)

एक छोटे-से पदमें उन्होंने जीवनका कितना बडा सत्य भर दिया है :

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

—उसने दुःखका नाश कर दिया, जिसके मोह नही होता । उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नही होती । उसकी तृष्णा नष्ट हो गई, जिसके लोभ नहीं होता । उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिंचन है । (पृष्ठ १२४)

वैरके दूषित परिणामके सबधमें उनका विश्लेषण देखिये :

वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई ।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो ॥

—वैरी वैर करता है और फिर दूसरोके वैरका भागी होता है । इस तरह वैरसे वैर आगे बढता जाता है । पापोत्पन्न करनेवाले आरम्भ अंतमें दुःखकारक होते है । (पृ० १४४)

कितनी सुन्दर उपमा देकर उन्होंने अधर्मके भयकर चक्रसे बचनेकी चेतावनी दी है :

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

—जिस तरह कोई जानकार गाड़ीवान समतल विशाल मार्गको छोड़कर विषम मार्गमें पड़ जाता है और गाड़ीकी धुरी टूट जानेसे सोच करता है, उसी तरह धर्मको छोडकर अधर्ममें पड़नेवाला मूर्ख मृत्युके मुंहमें पड़ा हुआ जीवनकी धुरी टूट जानेकी तरह शोक करता

है। (पृष्ठ १५६)

क्रोध, मान, माया और लोभसे मनुष्य किस प्रकार उत्तरोत्तर नीचे गिरता जाता है, इस सम्बन्धमे महावीरकी व्याख्या देखिये :

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई।
मायागईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं॥

—क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है, मानसे अधोगति पाता है, मायासे सद्गतिका रास्ता रुकता है और लोभसे इहभव और परभव दोनो बिगडते है। (पृष्ठ १७६)

आजके युगकी सबसे बडी बुराई यह है कि अधिकाश लोग स्पष्ट भाषाका प्रयोग नही करते। असत्य भाषण भी प्राय. कर जाते है। भगवान् महावीरकी भाषाके विषयमें सावधानता देखिये :

तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुतप्पई।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियण्ठिया॥

—भाषा चार प्रकारकी होती है। उनमे झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है। विवेकी पुरुष ऐसी मिश्र भाषा न बोले। न वैसी भाषा बोले, जिससे बादमें पश्चाताप करना पड़े। न प्रच्छन्न बात कहे। यही निर्ग्रंथ ऋषियोकी आज्ञा है। (पृष्ठ १७९)

जीवनकी क्षणभगुरताके विषय में :

जहेह सीहो व मियंगहाय, मच्चू नरं नेइ हु अंतकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति॥

—निश्चय ही अतकालमें मृत्यु मनुष्यको वैसे ही पकड़ कर ले जाती है, जैसे सिह मृगको। अन्तकालके समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार नही होते। (पृष्ठ १८७)

भोगोकी निस्सारताके बारेमें उन्होने कितने सुन्दर ढंगसे अपनी

बात कही है :

अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

—काल बीता जा रहा है। रात्रियां भागी जा रही हैं। मनुष्यों के ये काम-भोग नित्य नहीं हैं। जैसे पक्षी क्षीण फलवाले द्रुमको छोड़ कर चले जाते हैं, उसी तरह काम-भोग क्षीणभाग्य पुरुषको छोड़ देते हैं। (पृष्ठ १९१)

दुनियाके सम्बन्धोंके विषयमें उनका संदेश आज भी कितना ताजा है :

दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य ॥

—स्त्री और पुत्र, मित्र और बान्धव जीवनकालमें ही पीछे-पीछे चलते हैं, मरनेके बाद वे साथ नहीं देते। (पृष्ठ २००)

नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परम दुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे ॥

—जैसे अत्यन्त दुःखी पुत्र मृत पिताको घरके बाहर निकाल देते हैं, वैसे ही माता-पिता भी मरे पुत्रको बाहर निकाल देते हैं। सगे-सम्बन्धियोंके विषयमें भी यही बात है। हे राजन्! यह देखकर तू तप कर। (पृष्ठ २००)

आसक्त और अनासक्त व्यक्तियोंकी मनोभावनाओंका निरूपण उन्होंने कितनी सरल उपमा देकर किया है .

उल्लो सुक्खो च दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई ॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥

—जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टीके गोलोंको फेंकने पर उनमेंसे गीला ही दीवारसे चिपकता है और सूखा नहीं चिपकता, उसी प्रकार जो काम-लालसामें आसक्त और दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य होते हैं, उन्हींको संसारका बन्धन होता है, पर जो काम-भोगोंसे विरत होते हैं, उनके ऐसा नहीं होता। (पृष्ठ २११)

अधिकांश व्यक्ति सदाचारी जीवनके राजमार्गको छोडकर बुराई के मार्ग पर चल पडते हैं। उन्हें चेतावनी देते हुए वे कहते हैं :

पुरिसोरम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥

—हे पुरुष ! पाप कर्मोंसे निवृत्त हो। यह मनुष्य-जीवन शीघ्रतासे दौड़ा जा रहा है। जो लाभ लेना हो, वह ले ले। भोग-रूपी कादे (दलदल) में फंसा हुआ और काम-भोगोंमें मूछित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेकको खो कर मोहग्रस्त होता है। (पृष्ठ २१६)

मानवके लिए सबसे महत्वकी बात अपनी आत्मा पर विजय पाना है। वही सबसे कठिन काम भी है। इस सम्बन्धमें वे कहते हैं :

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ जुद्धारिहं
खलु दुल्लभं।

—हे प्राणी, अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करनेसे क्या मतलब ? दुष्ट आत्माके समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है। (पृष्ठ २१७)

नीचेके पदोमें उन्होने सत्य-भाषणका कितना सूक्ष्म विवेचन किया है :

सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं।
जं णेव सच्चं णेव मोसं, असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं ॥

—भाषा चार प्रकारकी होती है—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) सत्यासत्य और (४) न सत्य-न-असत्य ।

चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ॥

—प्रज्ञावान उपरोक्त चार भाषाओको अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओसे व्यवहार करना सीखे और एकात मिथ्या या सत्यासत्य इन दो भाषाओको कभी न बोले। (पृष्ठ २३१)

सामान्य उपमा देकर बडी-से-बडी बात समझा देनेमें तो महावीर का कमाल हासिल था। धनके मोहमें फसे लोगोके विषयमें उन्होने कितने तथ्यकी बात कितने सरल ढगसे समझा दी है

वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंत मोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥

—प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें। हाथमे दीपक होने पर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामनेका मार्ग नही दिखाई देता, उसी तरहसे धनके असीम मोहसे मूढ मनुष्य न्याय-मार्गको देखता हुआ भी नही देख सकता। (पृष्ठ २५३)

साधु पुरुषोके लिए उन्होने कितने पतेकी बात कही है

वहुं सूणेइ कन्नेहिं, वहुं अच्छीहिं पिच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥

—साधु कानोसे वहुत वातें सुनता है, आंखोसे वहुत वातें देखता है, परन्तु देखी हुई, सुनी हुई सारी वातें किसीसे कहना साधुको उचित नही है। (पृष्ठ ३१२)

साधु-असाधुकी उनकी परिभाषा पर ध्यान दीजिये :

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो॥

—गुणोसे साधु होता है और अगुणोसे असाधु। सद्‌गुणोको ग्रहण करो और दुर्गुणोको छोड़ो। जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्मा को जानकर राग और द्वेपमें समभाव रखता है, वह पूज्य है। (पृष्ठ ३३४)

भगवान वास्तवमें क्रान्तिकारी थे। सच वात निर्भीकतापूर्वक कहनेसे कभी नही चूकते थे :

न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण वंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो॥

—सिर मुडा लेने मात्रसे कोई 'श्रमण' नही होता, 'ओम्' के उच्चारण मात्रसे कोई ब्राह्मण नही होता, अरण्यवास करने मात्रसे कोई मुनि नही होता और न वल्कल चीर-धारण मात्रसे कोई तापस (तपस्वी) होता है। (पृष्ठ ४४४)

उनकी दृष्टिसे ब्राह्मणके रूपकी कल्पना कीजिये :

तवस्सियं किसं दन्तं, अवचयमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं वूम माहणं॥

—जो तपस्वी है, कृश है, जितेन्द्रिय है, तप साधनासे जिसने

रक्त-मांस सूखा दिया है, जो सुव्रती है और जिसने क्रोध, मान, माया और लोभसे मुक्ति पा ली है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

समूची पुस्तक ऐसे ही अमृत-वचनोसे परिपूर्ण है। महापुरुष दृष्टा होते है और वे ऐसे सनातन सत्योका प्रतिपादन करते है, जो कभी वासी नही होते। उनके वचन प्रत्येक युगमें स्फूर्ति और प्रेरणा देनेवाले होते है। भगवान महावीरके उपदेशोसे ऐसा लगता है, मानो आज ही कोई महापुरुष अपनी बात कह रहा हो। पाठक यह भी देखेंगे कि उनकी भाषा कितनी सरल थी। यद्यपि आज उस भाषाका प्रचलन नही है, तथापि थोडा-सा ध्यान देने पर वह भाषा आज भी आसानीसे समझमें आ जाती है। प्रस्तुत पुस्तकके लेखकने मूल पदोका अनुवाद भी वैसे ही सरल ढगसे करके 'सोनेमें सुहागे' की कहावत चरितार्थ की है।

हिन्दीमें भगवान महावीरके छोटे-बडे कई जीवन-चरित निकले है और उनके उपदेशोके कुछ सग्रह भी प्रकाशित हुए है। अर्द्धमागधीके सुप्रसिद्ध विद्वान् प० बेचरदासजी दोशीका सग्रह 'महावीर-वाणी' तो बहुत ही सुन्दर और उपादेय है। 'तीर्थंकर महावीर' का प्रकाशन उसी दिशामें एक अभिनन्दनीय प्रयास है। पुस्तककी सबसे बडी खूबी यह है कि लेखकने कही भी अपना मत पाठको पर लादनेका प्रयत्न नही किया।

पुस्तककी प्रामाणिकता, विशेषकर प्रवचनोके पदोके अनुवादके विषयमें तो मूल भाषाके विज्ञ लोग ही राय दे सकेंगे; लेकिन इतना हम अवश्य कहेगे कि अनुवादकी भाषा हमें बहुत सरल, सुबोध और प्रवाहयुक्त प्रतीत हुई है।

पुस्तककी एक और विशेषता उसकी सामग्रीके वर्गीकरणमें है।

महावीरके जीवन्के क्रमिक विकासकी दृष्टिसे पहले भागकी सामग्री इस प्रकार दी गई है कि गर्भसे लेकर मोक्ष तककी पूरी झाकी पाठको को मिल जाती है। इसी तरह प्रवचनोका भी उन्होने इस ढगसे क्रम और विभाजन किया है कि कोई भी आवश्यक विषय नही छूटने पाया है।

लेखककी योजना विशद् है। इस मालामे वह कई पुस्तकें निकालनेके अभिलाषी है। पहला खण्ड तो पाठकोके सामने है ही। दूसरे खण्डमें वह महावीर के जीवन-प्रसग रोचक और सजीव ढगसे देना चाहते है। तीसरे खण्डमे महावीर, बुद्ध और गाधीका तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करना चाहते है। बुद्ध और महावीर तो समकालीन थे और जिस प्रकार महावीरने लोक-जीवनके आध्यात्मिक स्तरको ऊचा उठानेका प्रयत्न किया, उसी प्रकार बुद्धने भी अपने ढगसे उस दिशामे महान् कार्य किया। गाधीजी यद्यपि उस युगके नही है तथापि उन्होने अपने जीवनकालमे जिन सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया वे उसी युगकी एक अटूट कड़ी है। मानवकी पावनताके साथ-साथ गाधीजीने राजनीतिमें भी धर्म-नीतिका प्रवेश करानेका जो भगीरथ प्रयत्न किया, वह उनकी भारतको ही नही, समूचे विश्वको एक महान् देन है। इसमे वह महावीरसे भी एक कदम आगे बढ गये दिखाई देते है। उनकी सप्त महाव्रतोको व्याख्या भी गजबकी चीज है।

निश्चय ही यह हम सबका परम सौभाग्य है कि इस धरा पर महावीरका अवतरण हुआ। महापुरुष सहस्रो वर्षोंमें एक बार पैदा होते है, लेकिन जब पैदा होते है तो ससारको धन्य कर जाते है। भगवान् महावीर ऐसे ही महापुरुष थे। अपनी कठोर तपश्चर्या और महान् व्यक्तित्वसे उन्होने विश्वके समक्ष एक ऐसा कल्याणकारी मार्ग

प्रशस्त कर दिया, जिस पर चलकर प्रत्येक व्यक्ति अपना हित कर सकता है। वह किसी एक समाज या दलके नहीं थे, इसलिए सारी दुनिया उनकी और वे सबके थे। जीवनके जिन सनातन सत्यों का उन्होंने निरूपण किया, वे मानवताके लिए सदा दीप-स्तंभका काम करेंगे।

आज भगवान महावीरके सिद्धान्तोंके मूल तत्वोंको बहुत कुछ अंशोंमें भुला दिया गया है। इतना ही नहीं, आजका युग उन सिद्धांतों को भारी चुनौती दे रहा है। लगता है, जैसे आजकी भौतिकता, मानवता और आध्यात्मिकताको लील जायगी। ऐसी अवस्थामें भगवान महावीरके सिद्धान्तोंको निःस्वार्थ भावसे जनसाधारणमें प्रसारित करनेकी दृष्टिसे उठाया गया यह कदम न केवल सामयिक है, अपितु स्तुत्य भी। लेखक इसके लिए हम सबकी बधाईके पात्र हैं। इसके विवरणोंमें थोड़े मतभेदकी गुंजाइश हो सकती है; लेकिन फिर भी इस पुस्तकका प्रकाशन एक सराहनीय प्रयत्न है। आजकी सबसे बड़ी आवश्यकता लोगोंमें विचार-क्रान्ति उत्पन्न करनेकी है। उन्हें बताना है कि जीवनके सही मूल्य क्या हैं और किन तत्वों पर चल कर जीवन सार्थक और कृतार्थ बन सकता है। इसके लिए बिना किसी भेद-भाव के उन महापुरुषोंके सिद्धान्तों और विचारोंका सीधी-सादी भाषामें व्यापक प्रसार करना अपेक्षित है, जिन्होंने 'प्रेय' से अधिक 'श्रेय' पर जोर दिया और जिन्होंने अपने आचरणसे सिद्ध कर दिया कि आत्मिक बलका मुकाबिला संसारकी कोई भी शक्ति नहीं कर सकती। ऐसे महापुरुष हमेशा जीवित रहेंगे और उनके महान् वचन भूली-भटकी मानव-जातिका मार्ग-दर्शन करेंगे। इन वचनोंको समझनेके साथ-साथ मुख्य बात निष्ठा-पूर्वक उनके अनुसार आचरण करनेकी है। वाणीके

पीछे यदि कर्मका बल न हो तो वह विशेष लाभदायक नहीं होती। जीवन पूर्ण तभी बनता है जब मनुष्यकी कथनी और करनीमें सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। एक महापुरुषके कथनानुसार यदि विचारोंके अनुरूप कार्य न हो तो वह गर्भपात करनेके समान है।

हम चाहते हैं कि पाठक इस पुस्तकको ध्यानपूर्वक पढ़ें, इसके विचारोंका मनन करें और तदनुसार अपना जीवन ढालनेका प्रयत्न करें। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि जो इसमें जितना गहरा जायगा, उतने ही मूल्यवान रत्न उसके हाथ पड़ेंगे।

हमें विश्वास है कि इस पुस्तकका सर्वत्र स्वागत होगा और सर्वसाधारण, विशेषकर आत्मार्थियोंको इससे बड़ा लाभ पहुंचेगा।

७/८, दरियागंज, दिल्ली। —यशपाल जैन
१२ फरवरी १९५३

विषय-सूची

संकेत-सूत्री

आ०	=	आचारांग सूत्र
उ०	=	उत्तराध्ययन सूत्र
उत्त०	=	उत्तराध्ययन सूत्र
उव०	=	उववाइय (औपपातिक) सूत्र
द०	=	दसवैकालिक सूत्र
द० चू०	=	दसवैकालिक चूलिका
द० श्रु०	=	दसाश्रुत-स्कंध सूत्र
प्रश्न०	=	प्रश्नव्याकरण सूत्र
सू०	=	सूत्रकृतांग सूत्र
ज्ञा०	=	ज्ञाताधर्मकथा सूत्र

१ : जीवन-चरित

२ : प्रवचन

तीर्थंकर वर्द्धमान

भाग १

जीवन-चरित

१ : जन्मकाल

अनन्त काल-प्रवाह बीत चुका। न उसके सिरेका पता है और न उसके छोरका। वह बहता ही चला जा रहा है और बहता ही रहेगा। इस अनन्त काल-प्रवाहके वर्तमान कालचक्रमें ही तीर्थंकर वर्द्धमानका जन्म हुआ था।

एक घड़ीकी ओर आख उठाकर देखिये—एक कालचक्र क्या है, यह सहज ही समझ सकेंगे। घड़ीको उलटाकर देखिये, उसके १२ का अङ्क नीचेकी ओर और ६ का अङ्क ऊपरकी ओर रखिये। १२ के अङ्कसे लेकर ६ के अङ्क तक घडीका आधा चक्र होगा और ६ के अङ्कसे १२ के अङ्क तक बाकी आधा चक्र। दोनो मिलाकर घड़ीका एक पूरा चक्र होगा। इसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—ऐसे दो—कालभाग मिलकर एक कालचक्र पूरा करते हैं।

उलटाई हुई घड़ीकी कोई भी सुई १२ के अङ्कसे क्रमश· ऊर्ध्वगति करती हुई—ऊपरकी ओर चढती हुई—६ के अङ्कपर सीधी ऊर्ध्व हो जायगी और ६ के अङ्कसे पुनः नीचेकी ओर उतरती हुई क्रमश. १२ के अङ्कपर पहुचकर सीधी अधोमुखी हो जायगी। ठीक उसी तरह

कालचक्रका उत्सर्पिणी भाग[1] उत्तरोत्तर उत्थान और अवसर्पिणी भाग[2] क्रमश अवनतिका समय होता है तथा उत्क्रान्ति करता कालचक्रका आधा उत्सर्पिणी भाग जहा शेष होता है, वहीसे अधोगति करता कालचक्रका दूसरा अवसर्पिणी भाग आरम्भ हो जाता है।

जिस तरह १२ के अङ्कसे ६ के अङ्क तक घडीके चक्रके ६ विभाग होते है और फिर ६ के अङ्कसे १२ के अङ्क तक ६ विभाग, उसी तरह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—प्रत्येक—कालभागके भी ६ विभाग होते है, जिन्हे जैन परिभाषामे 'आरा' कहा जाता है। अन्तर केवल इतना ही है कि घडीके चक्रके बारह ही भाग बराबर होते है, जबकि कालभागोमेंसे प्रत्येकके केवल दो ही 'आरे' समान अवधिके होते है और परस्पर एक दूसरेके समान नामवाले आरे ही बराबर होते है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनो—कालभागोके आरोके नाम इस प्रकार है—(१) दुषमा-दुषमा, (२) दुषमा, (३) दुषमा-सुषमा, (४) सुषमा-दुषमा, (५) सुषमा और (६) सुषम-सुषमा। उत्सर्पिणी

१—पूछकी ओरसे मुंहकी ओर जिस तरह सर्पकी मोटाई उत्तरोत्तर अधिक होती जाती है, उसी तरह जीवोके सहनन, सस्थान, आयु, अवगाहना, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम, पुद्गलोके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध तथा अन्य भाव एव विषयोमे, जो क्रमश उन्नति और वृद्धिका काल हो, वह उत्सर्पिणी कालभाग।

२—मुहकी ओरसे पूछकी ओर जिस तरह सर्पकी मोटाई क्रमश ह्रासको प्राप्त होती जाती है, उसी तरह टिप्पणी न० १ मे उक्त विषयोमें जो क्रमश. अवनति—ह्रास—का समय हो, वह अवसर्पिणी कालभाग।

कालभागके ६ आरोका क्रम उपर्युक्त रूपसे ही है, परन्तु अवसर्पिणीके आरोंका क्रम ठीक उलटा है अर्थात् उसका पहला आरा सुषमा-सुषमा और इसी तरह अन्तिम आरा दुषमा-दुषमा होता है। उत्सर्पिणीका सुषमा-सुषमा नामवाला आरा अवसर्पिणीके सुषमा-सुषमा आरेके बराबर होता है और इसी तरह समान नामवाले अन्य आरे भी। उत्सर्पिणी कालमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते हुए सुषमा-सुषमा आरेमें उच्चतम अवस्था आ जाती है और अवसर्पिणी कालमें क्रमश ह्रास होते हुए दुषमा-दुषमा आरेमें हीनतम अवस्था आ जाती है।

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीके बने ऐसे अनन्तकाल चक्र[1] बीत चुके थे। वर्तमान कालचक्रका उत्सर्पिणी भाग बीत चुका था और अवसर्पिणी

१—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी—दोनों—कालभाग बराबर अवधिके होते हैं। अवसर्पिणी भागकी माप इस प्रकार है

पहला आरा :	४ × (१ करोड × १ करोड)	सागर वर्ष
दूसरा आरा :	३ × (१ करोड × १ करोड)	"
तीसरा आरा :	२ × (१ करोड × १ करोड)	"
चौथा आरा :	१ × (१ करोड × १ करोड)	" कम ४२००० वर्ष
पाचवा आरा :	२१०००	वर्ष
छठा आरा :	२१०००	वर्ष
	१० × (१ करोड × १ करोड)	सागर वर्ष

उपर्युक्त हिसावसे एक कालचक्र २×१०×(१ करोड़×१ करोड) सागर वर्ष अर्थात् २० क्रोडाक्रोड़ी सागर वर्षका होता है।

सागर वर्ष किसे कहते हैं, यह गणनासे नहीं वताया जा सकता। वह उपमासे ही समझा जा सकता है। इसलिए इसे औपमिक काल

भागके भी प्रथम तीन आरे बीत चुके थे। चौथे आरे—दुषमा-सुषमा—का भी अधिकांश भाग बीत चुका था और उसके अवशेष होनेमें केवल ७४ वर्ष ११ महीने ७॥ दिन बाकी थे[1]। वर्द्धमानका जन्म इसी समय हुआ। इसका अर्थ यह हुआ कि तीर्थङ्कर वर्द्धमानका जन्म हुआ उस समय प्रकर्षभावों—शुभभावों—के पतनकी हीनतम अवस्था नहीं पहुंची थी। दुषमा-सुषमाके बाद दुषम और दुषम-दुषम समय आता है और ये कालांश ही ह्रासकी उत्तरोत्तर चरम सीमाएं मानी गई है। महावीरका जन्म इन कालांशोंके पूर्व हुआ था।

कहा जाता है। इसे सूत्रमें पल्य (कूएं) और केशाग्रका उदाहरण देकर समझाया गया है।

एक योजन आयाम और विष्कंभक, एक योजन ऊंचाई और तीन योजन परिधिवाले एक पल्य—कूएकी कल्पना कीजिये। उसे उत्कृष्ट भोगभूमिमें उत्पन्न १ से ७ दिनके जन्मे हुए बालकके केशोंके कोमल-कोमल अग्रभागोंसे ठसाठस भर दीजिये। सौ-सौ वर्ष बाद उसमेंसे केशका एक-एक अग्र भाग निकालिए। इस तरह निकालते-निकालते इस कूएको सम्पूर्ण खाली करनेमें जितने वर्ष लगेंगे, उस अवधिको पल्योपम कहा जाता है। ऐसे कोटाकोटी पल्योपमको १० गुण करनेसे एक सागरोपम होता है—भगवती सूत्र (अमोलक ऋषि) श० ६ उ० ७. ४, ५। योजनकी परिभाषा और विस्तारके लिए भी वही देखिये।

१—आचारांग सूत्र (रवजी भाईवाली आवृत्ति)—श्रु० २ अ० २४: ९९१, ९९५,

कल्पसूत्र (अमृतलाल अमरचन्दवाली आवृत्ति)—२, ९६,

आजके शब्दोंमें कहे, तो तीर्थङ्कर वर्द्धमानका जन्म ईस्वी सन्‌से ५९९ वर्ष पूर्व हुआ था[1]। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्रका महीना था। शुक्ल त्रयोदशीका दिन था। मध्य-रात्रिकी वेला थी। हस्तुत्तरा—उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रका योग था। ऐसे ही समय त्रिशला क्षत्रियाणीने वर्द्धमानको क्षेम-कुशलपूर्वक जन्म दिया[2]।

२: जन्मभूमि:

उस समय ब्राह्मणकुण्डग्राम (पुर) और क्षत्रियकुण्डग्राम (पुर)—ऐसे नगर होनेके उल्लेख जैनागमोंमें है। कही-कही इन्हे नगर न कह सन्निवेश भी कहा गया है[3]। पाश्चात्य विद्वानोका मत है कि कुण्डग्राम

१—"जैनोके अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामीके निर्वाणसे जो सवत् माना जाता है, उसको वीर-निर्वाण सवत् कहते है। ×× वास्तवमें विक्रम सं० से ४७० वर्ष पूर्व, शक सवत्‌से ६०५ वर्ष पूर्व और ईस्वी सन्‌से ५२७ वर्ष पूर्व भगवान् महावीरके निर्वाण-सवत्‌का प्रारम्भ मानना युक्ति-सगत है, जैसा कि प्राचीन जैन-आचार्योने माना है।"—महामहोपाध्याय, रायवहादुर गौरीशकर हीराचन्द ओझा, (अजमेर)—श्री जैन सत्यप्रकाश, वर्ष २, अंक ४-५, पृ० २२७-२८।

महावीर ७२ वर्ष जिए। इस तरह उनका जन्म ई० सन्‌से ५९९ वर्ष पूर्व ठहरता है।

२—आचारांग सूत्र (रवजी भाईवाली आवृत्ति) श्रु० २, अ० २४.९९५ कल्पसूत्र : ९६;

३—भगवती सूत्र : (अमोलक ऋषिवाली आवृत्ति) श०९ उ० ३३ १,२१ (देवानन्दा और जमालि-प्रकरण);
आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ ९९१, ९९३;
कल्पसूत्र : २, १५, २०, २१, २४, २६, २८, ३०, ६७, १००;

एक ही नगर था, जिसके दो विभाग थे। जिस विभागमें प्रधानत ब्राह्मणोकी वसति थी, उसे ब्राह्मणकुण्डग्राम और जिसमे प्रधानत क्षत्रियोकी वसति थी, उसे क्षत्रियकुण्डग्राम कहा जाता था[1]। पर आगमोमें जो वर्णन मिलता है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनो नगर भिन्न-भिन्न थे। ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि क्षत्रियकुण्डग्राम ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके पश्चिमकी ओर था[2]। ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके बाहर बहुशालक नामक चैत्य होनेका वर्णन है[3] और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके बाहर 'णायसड'—ज्ञातृखड नामक उद्यान या वन[4] होनेका। इससे भी दोनोके अलग-अलग होनेका सकेत मिलता है। क्षत्रियकुण्डग्रामसे निकलकर जिस तरह ब्राह्मणकुण्डग्राममें जानेका वर्णन मिलता है[5], उससे अनुमान होता है कि दोनो नगरोके बीच काफी दूरी होनी चाहिए दोनो नगरोके बाहर अलग-अलग उद्यानका होना उनके अलग-अलग अस्तित्वको ही सिद्ध नही करता, पर उनकी विशालता पर भी प्रकाश डालता है। क्षत्रियकुण्डग्राम नगरसे एक साथ ५०० क्षत्रियोके प्रव्रजित

१—Uvasagadasao (Hoernle)—Lecture 1. §§ 3. Note 8 Page 3 to 6

२—भगवती सूत्र . श० ९ उ० ३३·२१

३—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३.१, २२, २३, (देवानन्दा और जमालि-प्रकरण)

४—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४—१०१७;
कल्पसूत्र : ११५;
आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३३१;

५—भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३:२१, २२, २५ (जमालि प्रकरण)

होनेका उल्लेख मिलता है[१], जो उसकी विशाल जनसंख्याका पर्याप्त सूचक है। उपर्युक्त प्रव्रज्याके अवसरपर क्षत्रियकुण्डग्रामको बाहर भीतरसे सजानेकी बात आई है[२]। नगरमें शृंगाटक, त्रिक, चौक आदि रास्ते थे[३]। इन सब परसे—क्षत्रियकुण्डग्राम एक विशाल नगर था, यह कहा जा सकता है और ब्राह्मणकुण्डग्राम भी उतना ही बड़ा रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। ये दोनो नगर जम्बूद्वीपके भारतवर्षके दक्षिणार्द्ध भारतमें अवस्थित कहे गये है[४]। तीर्थङ्कर वर्द्धमान ब्राह्मणकुण्डग्राम नगरके दक्षिण भागमे माताके गर्भमें आए और क्षत्रियकुण्डग्राम नगरके उत्तर भागमे उनका जन्म हुआ था[५]।

कुण्डग्राम नगरोके आसपासके स्थानोमे वाणिज्यग्राम नगर, वैशाली नगरी, कोल्लागसन्निवेश और कर्मार गावेके नाम उल्लेखनीय है। चौथी पौरुषीमें प्रव्रजित हो अपनी जन्मभूमिसे विहार कर वर्द्धमान उसी दिन मुहूर्त्त रहते कर्मार गाव पहुचे थे[६]। इससे कर्मार और क्षत्रियकुडग्राम नगरका समीप होना सिद्ध होता है। कर्मार गावसे सूर्योदयके बाद रवाना होकर उसी सुबह कोल्लागसन्निवेशमें भगवान्‌ने पारणा किया[७]। इससे क्षत्रियकुडग्राम नगर और कोल्लागसन्निवेशकी

१—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३:७३ (जमालिप्रकरण)

२—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३.४१

३—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३३ २२; कल्पसूत्र. १००;

४—आचाराग सूत्र . श्रु० २ अ० २४:९९१;
कल्पसूत्र २, १५; २०, २४, २८,

५—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ ९९१, ९९३

६—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ १०१७, १०२१

७—आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३१९, ३२५,

सन्निकटता सिद्ध होती है। एक बार गौतम वाणिज्यग्राम नगरके बाहर उत्तर-पूर्व आए हुए दूइपलासय[1] चैत्यसे निकल वाणिज्यग्राम नगरमें भिक्षाके लिए आए। वापिस जाते समय वाणिज्यग्राम नगरसे निकल कोल्लागसनिवेश होकर लौटे[2]। कोल्लागसनिवेश वाणिज्यग्राम नगरके बाहर उत्तर-पूर्व दिशाकी ओर अवस्थित था[3]। इस तरह प्रमाणित होता है कि क्षत्रियकुडपुर और वाणिज्यग्राम—ये दोनो—नगर सन्निकट थे। वाणिज्यग्राम और वैशालीके बीच जलातर था—गडकी नदी पडती थी[4]। इस तरह वैशाली नगर भी सन्निकट ही था।

तीर्थंकर वर्द्धमानको जैनागमोमें 'वेसालिए'—'वैशालिक' भी कहा गया है[5]। इसपरसे अनुमान लगाया गया है कि उनकी जन्मभूमि वैशाली ही थी[6]। कहा गया है कि "कुडग्राम और वाणिज्यग्राम वैशालीकी ही

१—विपाक सूत्र . अ० २:३

उपासकदशा सूत्र (अमोलक ऋषिवाली आवृत्ति) . अ० १ ३;

२—उपासकदशा सूत्र अ० १.७८-८०

३—उपासकदशा सूत्र : अ० १ ७

४—विशेषावश्यक निर्युक्ति : गा० ४२९

त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र पर्व १० सर्ग ४ श्लोक १३९

५—सूत्रकृताग सूत्र .श्रु० १ अ० २ उ० ३ २२

उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ६ १७

भगवती सूत्र . श० २ उ० १ ८, श० १२ उ० २ : १, यथा .

"पिंगलेए णाम नियठे वेसालिअसावए परिवसइ"

६—(१) सूत्रकृताग . श्रु० १ अ० २ उ० ३ : २२ पर शीलाका चार्यकी टीका।

अन्तर्भुक्त बस्तियाँ या स्थान थे और इच्छानुसार वैशालीको ही कुड-ग्राम या वाणिज्यग्राम कहा जाता रहा। कुडग्राम और वाणिज्यग्राम वैशालीके ही दूसरे नाम थे। वैशालीमे तीन जिले (Districts) थे। वैशाली, कुडपुर और वाणिज्यग्राम ही ये तीन जिले बताये जा सकते है। कुडपुरके उत्तर-पूर्वमे कोल्लागसन्निवेश था। कोल्लाग-सन्निवेशसे सलग्न, पर उसके बाहर, ज्ञातक्षत्रियोका दूइपलाश नामक धार्मिक प्रतिष्ठान—चैत्य—था। इसे उद्यान भी कहा गया है। यह ज्ञात-क्षत्रियोका उद्यान था और इसीसे इसे नायसड वन-उद्यान या नायमड उद्यान कहा गया है[१]। कोल्लागसन्निवेशमे ज्ञातक्षत्रियोकी पोषधशाला होनेका उल्लेख मिलता है—"कोल्लागसन्निवेसे नायकुलसि पोसहसाला" (उवासगदसा—अ० १ : ६७) और चूकि वर्द्धमान ज्ञातृवशी क्षत्रिय ही थे—कोल्लागसन्निवेशमे ही वर्द्धमानका जन्म हुआ था[२]।"

हमने कतिपय प्रमाणोके आधारपर यह दिखाया ही है कि वाणिज्य-ग्राम और दोनो कुडपुर समीप होते हुए भी स्वतन्त्र नगर थे। इन नगरोके अस्तित्वके विषयमे असदिग्ध उल्लेख है। 'होत्था'—था—शब्द के प्रयोग द्वारा उनके अस्तित्वको कायम किया गया है। एक स्थान

१—(१) Uvasagadasao (Hoernle) L. I. $$ 3 Page F N. 8

(२) The Sacred Books of the East Vol 22 (Gaina Sutras, Part I.) Introduction by Hermann Jacobi pp x-xiii

(३) Archaeological Survey of India (Annual Report 1903—04) by J. H. Marshall, pp. 87—88.

२—Uvasagadasao (Hoernle) L. I. $$ 3 F. N 8

यह स्पष्ट है कि वाणिज्यग्रामके [illegible] हुए वर्द्धमानकी [illegible] थी। वाणिज्यग्राम और वैशालीका एक साथ एक प्रसंगमें नाम आना और [illegible] नहीं होना इस बातका प्रमाण है कि [illegible] अलग नगर थे। बौद्ध [illegible] वैशालीका [illegible] है, पर कहीं भी स्पष्ट रूपसे नहीं लिखा कि वैशालीके [illegible] नाम वाणिज्यग्राम या कुण्डपुर थे। इस तरह स्पष्ट है कि वाणिज्यग्राम, वैशाली और कुण्डपुरग्राम अलग अलग नगर थे। [illegible] स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि कोल्लाग सन्निवेश वर्द्धमानकी जन्मभूमि या [illegible] भी था। [illegible] [illegible] लिखना कि वह वर्द्धमानकी जन्मभूमि थी, ठीक प्रतीत नहीं।

तीर्थंकर वर्द्धमानकी जन्मभूमि क्षत्रियकुण्डग्रामका दक्षिण भाग और जन्मभूमि क्षत्रियकुण्डग्रामका उत्तर भाग था। कोल्लागसन्निवेश जन्मभूमि नहीं थी और न वैशाली ही जन्मभूमि थी। वैशाली जन्मभूमिके पास ही एक बड़ा नगर था और कोल्लाग एक छोटी बस्ती। हालांकि स्पष्ट रूपसे कहना अभी कठिन है, फिर भी पूर्वापर वर्णन (उपासकदशा सूत्र—१·३, १·७, १·८, १·६७; १·७०;) से अनुमान होता है कि कोल्लागसन्निवेशमें जो पोषधशाला थी, वह आनन्द श्रावकके ज्ञातियों—सम्बन्धियोंकी थी, न कि वर्द्धमानके परिवारके ज्ञातृक्षत्रियोंकी। यह भी दिखाया जा चुका है कि दूइपलासय चैत्य और नायसंड उद्यानोंकी स्थिति अलग-अलग स्थानोंपर थी और वे क्रमशः वाणिज्यग्राम और कुण्डपुरग्रामके बाहर स्थित उद्यान थे। ऐसी हालतमें दोनोंका एक मान लेना निराधार कल्पनामात्र है।

१—पृ० ८ टिप्पणी नं० ४

कल्प सूत्रमें वर्द्धमानके पिताको राजा, उनके घरको राज-भवन, उनके कुलको राजकुल कहा गया है[१]। इससे कुण्डग्रामका राजा सिद्धार्थ था, ऐसा अनुमान सम्भव है। वाणिज्य ग्रामका राजा जित-शत्रु या मित्र था और वैशाली राजा चेटकके अधीन थी[२]। इससे भी इनकी स्वतन्त्रता सिद्ध है।

३ : माता-पिता

तीर्थङ्कर वर्द्धमानके पिताका नाम प्राय. सिद्धार्थ क्षत्रिय और माता का नाम प्राय. त्रिशला क्षत्रियाणी उल्लिखित है[३]। एक बार ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरके निवासी ब्राह्मण ऋषभदत्त और उनकी भार्या देवानन्दा तीर्थङ्कर महावीरके दर्शनके लिए गयी थी। वर्द्धमानको देखते ही देवानन्दाका शरीर रोमाञ्चित हो उठा। स्तनोसे दूधकी धारा छूट पडी। यह देखकर गौतमने पूछा—'भदन्त! देवानन्दाके रोमाञ्च क्यो हुआ—उसके स्तनसे दूधकी धारा क्यो वह निकली? महावीरने जवाब दिया—'देवानन्द मेरी माता है और मैं उसका आत्मज हू। पूर्व पुत्र-स्नेहानुरागसे यह सब हुआ है[४]।' इस प्रसगसे सर्वविदित धारणासे

१—कल्पसूत्र : ४६, ५०, ५५, ५६, ६३, ६७, ६८, ७२, ८१, ८७, ८८, ९२, ९८, १०२, १०३

२—उपासक दशा अ० १ : ३; विपाक सूत्र (चौकसी मोदीवाली आवृत्ति) २ . ८ निरियावलियाओ सूत्र (जैन-धर्म प्रसारक सभा, भावनगर) वर्ग १ : पृ० ३६, ३७, ३९, ४०, ४२, ४५.

३—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ : ९९५, १००३ आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३८६, ३८९

४—भगवती सूत्र : श्रु० ९ उ० ३३ : १०—१४

भिन्न यह निष्कर्ष निकलता है कि तीर्थङ्कर वर्द्धमानकी माता ब्राह्मणी देवानन्दा और पिता ब्राह्मण ऋषभदत्त थे और यह प्रश्न खडा हो जाता है कि जब देवानन्दा ब्राह्मणी और ऋषभदत्त ब्राह्मण ही वास्तव में माता-पिता थे, तब त्रिशला क्षत्रियाणीको माता और सिद्धार्थ क्षत्रिय को पिता कैसे बतलाया गया।

इसका प्राचीनतम स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि वास्तवमें तीर्थंकर महावीर ब्राह्मणी देवानन्दके ही गर्भमें उत्पन्न हुए थे और ८२ दिन तक उसीके गर्भमे रहे, पर ८३ वे दिन अनुकम्पाशील देवने जीताचार (तीर्थंकर ब्राह्मण-कुलमें जन्म नही लेता) की ओर ध्यान दे देवानन्दा और त्रिशला क्षत्रियाणीके गर्भका परस्पर परिवर्तन कर दिया[१]। इस तरह गर्भ सहरणके कारण महावीरका जन्म त्रिशला क्षत्रियाणीकी कोखसे हुआ और त्रिशला सिद्धार्थ माता-पिताके रूपमे जगविदित हुए। ऋषभदत्त ब्राह्मण कुण्डग्राम नगरके निवासी थे और सिद्धार्थ क्षत्रिय क्षत्रियकुडग्राम नगरके। अत ब्राह्मण कुण्डग्राम नगर वर्द्धमानकी अवतार भूमि और क्षत्रियकुण्डग्राम नगर उनकी जन्मभूमि हुई। इस गर्भ-सहरण की घटनाके स्पष्टीकरणके लिए प्राचीन-आधुनिक अनेक विद्वानोने अनेक कल्पनाएँ रखी है[२] और हम नही चाहते कि किसी नई कल्पनाको उप-

---

१—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ . ९९३

२—(१) कल्पसूत्र : १६—३०;

(२) आवश्यक सूत्र (आगमोदय समिति)—श्रीमन्मलयगिर्याचार्य कृत विवरण—पृ० २५३—४,

(३) रेवरेन्ड जे० स्टिवेनशन : Kalpa Sutra (English Translation) p. 37

स्थित कर उनमे वृद्धि करे। हम केवल इतना ही स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि आगममें गर्भ-सहरणकी क्रिया सम्भव बतायी गई है। हाथके सहारेसे गर्भको योनिद्वारसे बाहर निकाल अन्य गर्भमे सहरण किया जाता था। शक्रदूत हरिनैगमेषी गर्भ-संहरण-क्रियामें सिद्धहस्त बताया गया है[1] और यह क्रिया महज डाक्टरी क्रियाके ढगकी दृष्टि-गोचर होती है।

४ : जन्म-नाम

तीर्थङ्कर वर्द्धमानका वर्द्धमान नाम ही जन्म-नाम है। जबसे बालक क्षत्रियाणी त्रिशलाकी कोखमें आया, तबसे सिद्धार्थ क्षत्रियके कुलमे धन-धान्य, सोने-चांदी, मणि-मुक्ता आदिकी विपुलता—अति वृद्धि—होने लगी। इसलिए माता-पिताने गुणानुसार पुत्रका नाम

---

(४) डॉ० जेकोबी · The Sacred Books of The East Vol. XXII. Part 1. Introduction P. XXXI F. N 2

(५) प० बेचरदासजी—भगवती सूत्र : (जिनागम प्रकाशक सभा वाली आवृत्ति) द्वितीय खण्ड पृ० १७५ नोट १

(६) पं० सुखलालजी—धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण-ओसवाल नवयुवक वर्ष ७ सं० ७ पृ० ४३९-४०
भगवान महावीरका जीवन पृ० ३—८,

(७) प० दरबारीलालजी—जैन-धर्म-मीमांसा : भाग १, पृ० ९९—१०१;

१—भगवती सूत्र . श० ५ . उ० ४

वर्द्धमान रखा[1]। भगवान्के इस नामका उल्लेख अनेक स्थलोंपर है[2]।

५ : गोत्र, जाति और वंश परिचय :

ऋषभदत्त कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण थे। उनकी भार्या देवानन्दा जालधरायण गोत्रकी थी[3]। पुत्रका गोत्र पिताके अनुसार ही माना जाता था, अत मूल पिताकी अपेक्षासे वर्द्धमान कोडाल गोत्रीय ब्राह्मण थे।

सूत्रोंमें वर्द्धमानको अनेक स्थलोंपर काश्यप कहा गया है[4]। इसका कारण यह है कि सिद्धार्थ क्षत्रिय काश्यप गोत्रीय थे[5]। त्रिशला वाशिष्ठ

१—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ ९९९, १००२,
कल्पसूत्र . ९०, १००, १०८,

२—सूत्रकृताग सूत्र . श्रु० १ अ० ६ : २२;
उत्तराध्ययन : सूत्र अ० २३ ५, १२, २३, २९;
आवश्यक निर्युक्ति . गा० २४०, २९९

३—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ ९९१;

४—सूत्रकृताग . श्रु० १ अ० ६ · ७, श्रु० १ अ० १५ . २१
सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २५
भगवती सूत्र श० १५ · ८७, ८६
दसवैकालिक सूत्र अ० ४—१, २, ३
उत्तराध्ययन सू० . अ० २ आरम्भ; अ० २ · १, ४६, अ० २९ · १,
सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० ३ उ० २ . १४
श्रु० १ अ० ५ उ० १ : २
श्रु० १ अ० ११ : ५; ३२

५—आचाराग श्रु० २ अ० २४ : ९९३, १००३;
कल्पसूत्र : १०९

गोत्री थी[1]। पुत्रका गोत्र पिताके गोत्रके अनुसार होता था। इसलिए वे काश्यप (काश्यप गोत्रवाले) कहलाए[2]।

जैनागमोमे वर्द्धमानका उल्लेख जगह जगह णाय, नाय, नायपुत्त, नायसुत्त, णायपुत्त आदि सम्बोधनोसे किया गया है[3]। बौद्ध पिटकोमें[4]

१—आचाराग सूत्र . श्रु० २ अ० २४ : १००४ :
कल्पसूत्र : १०९

२—कल्पसूत्र . १०८

३—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७;
उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३६ : २६७;
सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० १ उ० ५ : २७;
सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० २ उ० ३ : २२;
सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० ६ : १४, २१, २३,
सूत्रकृताग सूत्र . श्रु० १ अ० २ उ० २ : २६, ३१;
उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : १७;
भगवती सूत्र : श० १५ : ७९;
कल्पसूत्र : ११०;
सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ६ : २;
आचाराग : श्रु० १ अ० ८ उ० ८ : ४४८;
आचाराग . श्रु० २ अ० २४ : १००७;
सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ६ : २४;
सूत्रकृताग : श्रु० २ अ० ६ . १९;
आचाराग : श्रु० १ अ० ९ : ४७१;
दशवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ गाथा ५१; अ० ६ : २१

४—मज्झिम निकाय (हिन्दी-अनुवाद) : उपालि-सुत्तन्त २२२; चूल-सकुलुदायि-सुत्तन्त. पृ० ३१८; चूल-दुक्ख-क्खन्ध-सुत्तन्त पृ० ५९ चूल-सारोपम-सुत्तन्त : पृ० १२४; महासच्चक-सुत्तत—पृ० १४७;

भी भगवानका निगठ नातपुत्त नामसे उल्लेख आया है। 'नाय' उस समय एक क्षत्रिय कुल था[1] और उसकी गणना उस समयके प्रसिद्ध क्षत्रिय कुलीन वंशोंमें की जाती थी[2]। वर्द्धमान इसी कुलके क्षत्रिय थे[3]। इसी कारण उन्हे नाय, नायपुत्त आदि कहा जाता था।

तीर्थङ्कर वर्द्धमानकी माता क्षत्रियाणी त्रिशला वैशालीके राजा चेटककी बहिन थी[4]। उसे विदेहदिन्ना—विदेहदत्ता भी कहा गया है[5], क्योंकि वैशाली विदेह जनपदमें अवस्थित थी[6] और उसकी राज-

---

अभयराजकुमार-सुत्तन्त पृ० २३४, देवदह-सुत्तन्त पृ० ४२८, सामागान - सुत्तन्त पृ० ४४१
दीघनिकाय (सामञ्ञफल सुत्त) १८, २१
(सगीति परियाय-सुत्त) २८२
(महापरिनिब्बाण-सुत्त) १४५
(पासादिक-सुत्त) २५२
सुत्तनिपात (सुभियसुत्त) १०८
विनयपिटक (महावग्ग) पृ० २४२

१—आचारांग श्रु० २ अ० २४—१००७
कल्पसूत्र—२१, २६, ८९, १०४, १०५, ११०
उववाई (धनपतसिंह प्रकाशन) पृ० ७२

२—सूत्रकृतांग श्रु० २ अ० १ १३, कल्पसूत्र २१

३—आचारांग श्रु० २ अ० २४ ९९३, कल्पसूत्र ३०,

४—आवश्यक चूर्णि (पूर्व भाग) पत्र २४५ "भगवतो माया चेऽगस्स भगिणी।"

५—आचारांग श्रु २ अध्याय २४ . १००८, कल्पसूत्र १०९,

६—निरयावलियाओ (ए० एस० गोपानी और वी० जे० चोक्सी द्वारा सम्पादित) पृ० २६,

धानी भी थी[१]। विदेहके राजवंशकी कन्याको विदेहदिन्ना या विदेह-दत्ता कहना परम्परागत परिपाटीके अनुसार ठीक ही था। सीताका नाम वैदेही इसी कारणसे पडा था कि वह विदेह-वंशी राजा जनककी पुत्री थी।

वर्द्धमानके अनेक नामोंमें विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्य, विदेह-सुकुमार आदिका भी उल्लेख है[२]। वर्द्धमानके ये नाम विदेह राजकुलके साथ उनकी माताके सम्बन्धके परिचायक है और विदेहवंशकी कुलकन्या वैदेही, विदेहदिन्ना, विदेहदत्ताके पुत्र होनेसे पडे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। जिस तरह चेटककी कन्या चेलनाका पुत्र 'वैदेहीपुत्त'—विदेह-पुत्र—कहा गया है[३], उसी प्रकार चेटककी बहिनका पुत्र भी विदेहपुत्त आदि कहा गया है। भगवान्को "वैशालिए"—वैशालिक भी कहा गया है[४]। इसका कारण यह नहीं कि वैशाली उनकी जन्मभूमि थी अथवा कुण्डग्राम वैशालीका ही दूसरा नाम था। वर्द्धमानकी माता विशाला नगरीमें जन्मी थी। इसलिए उसका नाम विशाला हुआ। वैशालीकी राजकन्या 'विशाला'के पुत्र होनेसे ही वर्द्धमानका नाम वैशालिक पडा था। वर्द्धमानका ननिहाल वैशालीके अधिपति राजा

१—*Gleanings of Early Buddhism p. 12*
History of Tirhut p. 34

२—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १००७; कल्पसूत्र: ११०

३—भगवती सूत्र श० ७ उ० ९
दीघनिकाय : (सामञ्ञफल-सुत्त) पृ० १६, ३३
(महापरिनिब्बाण-सुत्त) पृ० ११७

४—पृ० ८ नोट ५। "विशाला महावीर जननी, तस्या अपत्यमिति वैशालिको भगवान्, तस्य वचन शृणोति तद्रसिकत्वादिति वैशालिक श्रावक."—अभयदेव

चेटकके यहा था, यह हम ऊपर लिख आए है।

वर्द्धमानके बड़े भाईका नाम नन्दिवर्द्धन था[1] और उनका विवाह लिच्छवीराज चेटककी पुत्री ज्येष्ठाके साथ हुआ था[2]। चेटकके सात पुत्रिया थी, जिनमेंसे एक सुज्येष्ठा अविवाहित अवस्थामें ही दीक्षित हो गई थी। सबसे बडी प्रभावतीका विवाह सिंधु सौवीर देशके वीतभय नगरके राजा उदायनके साथ, पद्मावतीका अगदेशकी चम्पा नगरीके राजा दधिवाहनके साथ, मृगावतीका वत्सदेशके कौशाम्बीके राजा शतानीकके साथ, शिवाका उज्जयिनीके राजा प्रद्योतके साथ और चेल्लणाका मगधके राजा श्रेणिक बिंबिसारके साथ हुआ था[3]। इस तरह वर्द्धमानका सम्बन्ध मातृपक्षकी ओरसे अनेक राजघरानोके साथ था।

उनके काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहनका नाम सुदर्शना था[4]।

६ : यौवन और विवाह :

वर्द्धमानके बाल्य जीवनकी किसी महत्त्वपूर्ण घटनाका कोई जिक्र नही मिलता। उनके शरीरके विषयमें कहा गया है कि वह उदार,

---

१—आचाराग श्रु० २ अ० २४ : १००५; कल्पसूत्र : १०९;

२—आवश्यक चूर्णि (पूर्व भाग) पत्र २४५—"भगवतो भो (जा) यी चेडगस्स धूया।"

३—आवश्यक चूर्णि (उत्तर भाग) पत्र १६४

त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक १८४-१९३

निरयावलिका सूत्र : पृ० ३८-४०

४—आचाराग श्रु० २ अ० २४ . १००५, कल्पसूत्र १०९

शृगारित, अलंकार-रहित होते हुए भी विभूषित, लक्षण, व्यंजन और गुणसे युक्त तथा श्रीसे अत्यन्त-अत्यन्त शोभान्वित था[१]। वर्द्धमानके मस्तकसे लेकर पैरके तलवो तकके एक-एक अवयवका वर्णन आगममें उपलब्ध है, पर स्थानाभावसे हम उसे यहा नही दे रहे हैं[२]। वे दीर्घ-काय—७ हाथ लम्बे—थे[३]। उनके वर्णके बारेमें कहा गया है कि वह उत्तम तपे हुए सोनेकी तरह कान्तिवाला निर्मल-गौर था[४]। उनके शरीरके विषयमे कहा गया है कि वह समचतुरस्र सस्थान और उत्कृष्ट सुदृढ संहननवाला था[५]। उनकी वृत्तियोके विषयमें जो उल्लेख है, उनसे पता चलता है कि वे बडे ही शान्त और उदासीन थे। वे चतुर, प्रतिज्ञा-निर्वाहमें दृढ, सर्वगुण-सम्पन्न, भद्र और विनयी थे[६]।

वर्द्धमानकी इच्छा नही थी कि वे विवाह करे, पर कहा गया है कि माताके विशेष आग्रहसे उन्होने विवाह करना स्वीकार किया[७]। विवाह कितने वर्षकी अवस्थामें हुआ, इसका उल्लेख नही मिलता, पर इतना तो स्पष्ट ही है कि बालभावसे मुक्त हो जाने और विज्ञान द्वारा

१—भगवती सूत्र : श० २ उ० १ . १४

२—उववाई सूत्र : पृ० ४४ से ५४

३—उववाई सूत्र : पृ० ४१

आवश्यक निर्युक्ति . गा० ३८०;

४—उववाई सूत्र : पृ० ५०

आवश्यक निर्युक्ति : गा० ३७७,

५—उववाई सूत्र : पृ० ४१

६—आचारांग . श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

७—कल्पसूत्र : ११०; त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र पर्व १०, सर्ग २

परिणत मतिवाले हो जानेपर ही उनका विवाह हुआ था। उनकी पत्नीका नाम कौडिन्य गोत्री क्षत्रिय कन्या यशोदा था[१]। उनके एक कन्या हुई, जिसे प्रियदर्शना या अनवद्या कहा जाता था[२]।

वर्द्धमानकी ज्येष्ठ बहन सुदर्शनाका विवाह क्षत्रियकुण्डग्राममें ही हुआ और उनके जमालि नामक एक पुत्र हुआ था[३]। उनकी पुत्री प्रियदर्शना का विवाह कौशिकगोत्री जमालिके साथ किया गया था[४]। उनके एक दौहित्री हुई, जिसके दो नाम थे—शेषवती और यशस्वती[५]।

७ : वैराग्य और प्रव्रज्या :

वर्द्धमान सहज वैरागी पुरुष थे। उन्हे अत्यन्त सुन्दर और बलवान शरीर प्राप्त हुआ था। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शके उत्तमसे उत्तम भोग उन्हे सुलभ थे, पर ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन सबके प्रति वे उदासीन और अनुत्सुक रहते[६]। गृहस्थावस्थामे कामभोगोको भोगते हुए भी उनकी चित्तवृत्ति बडी अनासक्त थी।

सिद्धार्थ क्षत्रिय और क्षत्रियाणी त्रिशला तीर्थङ्कर पार्श्वनाथकी परम्पराके श्रमणोके अनुयायी और उपासक थे। उनके जीवनान्तकी घटना मिलती है, जिससे पता चलता है कि उनका धर्मानुराग बडा

१—आचाराग . श्रुत० २ अ० २४ . १००५, कल्पसूत्र : १०९

२—आचाराग . श्रुत० २ अ० २४ . १००५

३—विशेषावश्यक सूत्र गा० २३०७ और उसकी टीका

४—उपर्युक्त, कल्पसूत्र . १०९,

५—आचाराग सूत्र श्रुत० २ अ० २४ १००५, कल्पसूत्र १०९

६—आचाराग सूत्र . श्रुत० २ अ० २४ . १००१

उत्कट था। उन्होने अनेक वर्षो तक श्रमणोपासक धर्मका पालन किया था और अन्तमे अहिंसाकी साधनाके लिए अपने पापोंकी आलोचना, निन्दा, गर्हा करते हुए प्रतिक्रमण कर, प्रायश्चित्त ले, यावज्जीवनके लिए अन्न-जलका त्यागकर कुश सस्तारक—दर्भशय्या पर शरीरको कृश करते हुए शेष जीवन पूरा किया था[1]। महावीरकी वैराग्यपूर्ण चित्तवृत्ति ऐसे सस्कारपूर्ण वातावरणमे काफी फलीफूली और पनपी होगी। भगवान्का अवतार देवानन्दके गर्भमे हुआ था। उसके सम्बन्धमे उल्लेख है कि वह जीवाजीवकी ज्ञाता और श्रमणोकी उपासिका थी। ऋषभ-दत्तके विषयमें भी उल्लेख है कि वह चारो वेदोमे निपुण था। वह इतिहास, पुराण तथा निघटु नामक कोशका प्रवर्त्तक, याद करनेवाला और भूलोको पकडनेवाला था। वह वेदके छ अगोका ज्ञाता और षष्टि-तन्त्रमे विशारद था। गणित, शिक्षा, आचार, व्याकरण, छद, व्युत्पत्ति, ज्योतिष तथा अन्य ब्राह्मण और परिव्राजक नीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्रमे पारगत था। वह पुण्य-पापका जानकार और श्रमणोका उपासक था[2]। इन सब परसे भगवान्की वैराग्यपूर्ण धार्मिक चित्तवृत्तिकी भूमिकाका कुछ अदाज लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त रूपसे अपश्चिम मरणान्तिक सलेषना कर वर्द्धमानके माता-पिता समाधिपूर्वक देहावसानको प्राप्त हुए, उस समय वर्द्ध-मानकी अवस्था २८ वर्षकी थी[3]। माता-पिताके देहावासनके बाद वे कोई दो ही वर्ष तक और गृहवासमे रहे[4]। इन दो वर्षोमे उन्होने कच्चा

१—आचाराग सूत्र . श्रु० २ अ० २४ . १००६

२—भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ १, २

३—महावीर-कथा : पृ० ११३

४—महावीर-कथा . पृ० ११३

जल नहीं पिया, रात्रि-भोजन नहीं किया, और ब्रह्मचर्यका पालन करते रहे[1]। उन्होंने एकत्व भावना भाते कषायरूपी अग्निको शान्त कर डाला। वे हमेशा सम्यक्त्व भावसे भावित रहते[2]। राज्यसत्ता प्राप्त करनेकी, अभिषिक्त होनेकी तो उन्होंने कभी मनसा तक न की और तीस वर्ष तक कुमार वासमें रहे[3]। २९ वें वर्ष वे सोना-चादी, सेना-वाहन, धन-धान्य, कनक-रत्न आदि द्रव्योंको छोड़ने—उनका त्याग करने लगे। दीक्षाके पहले-पहले उन्होंने सारा धन बाट दिया—दानमें दे दिया और इस तरह निष्किंचन बन दीक्षाके लिए उद्यत हुए[4]।

जब वर्द्धमान ३० वर्षके हुए, तो वे समाप्तप्रतिज्ञ हुए अर्थात् उन्होंने जो प्रतिज्ञा कर रखी थी, वह सम्पूर्ण हुई[5]। इस प्रतिज्ञाके सम्बन्धमें मतभेद है। एक मत यह है कि उन्होंने माताके गर्भमें ही प्रतिज्ञा कर ली थी कि मातापिताके जीवन कालमें दीक्षा नहीं लूगा। मातापिताके देहान्तके बाद वह प्रतिज्ञा समाप्त हुई[6]। दूसरा मत यह

१—(१) आचारांग : श्रुत० १ अ० ९ उ० १ . ४७२

(२) सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २८

२—अचाराग सूत्र : श्रुत० १ अ० ९ उ० १ : ४७२

३—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२१, २२२, २२३, २९९;

आचाराग : श्रु० २ अ० २४ . १००७

४—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

कल्पसूत्र. ११२, आवश्यक निर्युक्ति गा० २१२

५—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १००७;

कल्पसूत्र. ११०;

६—कल्पसूत्र : ९४, त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र-पर्व १० सर्ग २,

कल्पसूत्र : पृ० १४३

है कि मातापिताके देहत्यागके अवसर पर उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धनको दो वर्ष तक दीक्षा न लेनेका वचन दिया था, वह पूरा हुआ। जो भी हो, ३० वर्ष गृहवासमें बीता, वर्द्धमानने प्रथम वयमें मार्गशीर्ष कृष्णा १० के दिन प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनेका निश्चय किया[1]।

दीक्षाके पूर्व दो वर्ष तक उन्होंने जो कठिन जीवन-साधना की, उससे उनकी आन्तरिक वैराग्य-भावनाका निदर्शन होता है। भगवान् वैरागी थे, उतने ही ज्ञानी भी थे। उन्हें जगह-जगह ज्ञानी, कुशल, मतिमान, माहन, आशुप्रज्ञ आदि कहा गया है[2]। ऐसा उल्लेख मिलता है कि दीक्षाके पूर्व वे तीन ज्ञानके स्वामी थे[3]। क्रियावाद, अक्रियावाद विनयवाद, अज्ञानवाद आदि सब वादोको अच्छी तरह जानकर वे संयम-मार्गमें उपस्थित हुए थे[4]। इस तरह उत्कट वैराग्य और उत्तम ज्ञान-मय स्थिर प्रज्ञाको लेकर भगवान् त्याग मार्गके लिए उद्यत हुए।

८ : अभिनिष्क्रमण

भगवान्‌की दीक्षा उनकी जन्मभूमि क्षत्रियकुंडग्राम नगरके 'नायसंड'

१—(१) आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७
(२) भगवती सूत्र : श० १५ : २०
(३) कल्पसूत्र : ११०
(४) आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२६
२—आचारांग श्रु० १ अ० ४ उ० २ : २३४
श्रु० १ अ० ५ उ० ६ : ३२२
श्रु० १ अ० ८० उ० २ : ४११
श्रु० १ अ० ८ उ० १ : ३९७
३—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : ९९२
४—सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ६ : २७

—ज्ञातृखण्ड उद्यान या वनखण्डमें अशोक वृक्षकी छायामें हुई थी[१]। वे अकेले ही प्रव्रजित हुए[२]। भगवान् रात्रि-भोजन नही करते थे, ऐसा हम पहले कह आये है। दीक्षाके दिन उनके छट्ठभक्त उपवास था, जिसका पारणा उन्होने दीक्षाके दूसरे दिन सुबह किया[३]। इसका अर्थ यह हुआ कि मार्ग शीर्ष कृष्णा ८मीके दिन सूर्यास्तके बादसे उन्होने आहार-पानी नही लिया अर्थात ६० घण्टाका निर्जल उपवास किया। इस तरह हम देखते है कि भगवान्ने पवित्र प्रव्रज्याके पहलेसे ही अपने मनको शान्त सोपवास प्रार्थनामें लगा दिया।

दीक्षाके दिन वर्द्धमानने केवल एक ही दूष्य—वस्त्र—धारण किया[४]। फिर सहस्रवाहिनी चन्द्रप्रभा पालकीमें बैठ वृहत् जनसमूहके साथ उत्तर क्षत्रिय कुडपुर सन्निवेशके बीचसे होकर ज्ञातवशी क्षत्रियके 'नायसड' उद्यानमें पहुचे। वहा उन्होने दाहिने हाथसे दाई और बाएँ हाथसे बाईं ओरके समस्त केशोको पचमुष्ठि लोचकर उपाड डाले। विजय मुहूर्तका समय था, हस्तोत्तरा—उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रका योग था।

१—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १०१७
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २२९, २३१
कल्पसूत्र ११५

२—आवश्यक निर्युक्ति गा० २२४, कल्पसूत्र - ११६

३—आचाराग सूत्र श्रु० २ अ० २४ १०१७ ; कल्पसूत्र · ११६
आवश्यक निर्युक्ति गा० २२८, ३१९

४—भगवती सूत्र · श० १५ २०
आचाराग श्रु० २ अ० २४ १०१७, कल्पसूत्र - ११६
आवश्यक निर्युक्ति गा० २२७

छाया पूर्वमे ढल चुकी थी। चौथी पौरुषीका समय था। वर्द्धमानने केश लुचनकर सिद्ध भगवान्‌को नमस्कार किया और यावज्जीवनके लिए प्रतिज्ञा की "सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मं"—आजसे सब पाप मेरे लिए अकृत्य हैं—मैं आजसे कोई पाप नहीं करूंगा।" इस प्रकार वर्द्धमानने यावज्जीवनके लिए सामायिक चारित्र अङ्गीकार किया और पाच महाव्रत ग्रहण किये[1]। उस समय चारों ओर स्तब्ध शान्ति छा गई। लोग चित्राकितसे निश्चल हो सारा दृश्य एकटक देखने लगे[2]। महावीरने प्रव्रज्याके समय जो पाच महाव्रत ग्रहण किए वे इस प्रकार हैं:—

१—मैं प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातका त्याग करता हू। मैं यावज्जीवनके लिए सूक्ष्म या बादर, स्थावर या जगम—किसी भी प्राणीकी मन, वचन और कायासे स्वयं हिंसा नही करूगा, दूसरेसे हिंसा नही कराऊंगा और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हूं, उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हू और अपने आपको उससे हटाता हू।

२—मैं दूसरे महाव्रतमें यावज्जीवनके लिए सर्व प्रकारके मृषा—झूठ बोलनेका—वाणी दोषका त्याग करता हू। क्रोधसे, लोभसे, भयसे या हास्यसे, मै मन, वचन और कायासे झूठ नहीं बोलूगा, न दूसरोंसे झूठ बुलाऊंगा, न झूठ बोलते हुए अन्य किसीका अनुमोदन करूगा। मैं अतीतके उसपापसे निवृत्त होता हू। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हू और अपने आपको उससे हटाता हूं।

३—मैं तीसरे महाव्रतमें यावज्जीवनके लिए सर्व अदत्तका त्याग

१—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २३६

२—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०१७

करता हू। गाव, नगर या अरण्यमे अल्प या बहुत, छोटी या बड़ी, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु बिना दी हुई नही लूगा, न दूसरे से लिराऊगा और न कोई दूसरा लेता होगा तो उसे अनुमति दूगा। मै अतीतके उस पापसे निवृत्त होता हू। उसकी निंदा करता हू, गर्हा करता हू और अपने आपको उससे हटाता हू।

४—मै चौथे महाव्रतमें सर्व प्रकारके मैथुनका यावज्जीवनके लिए त्याग करता हू। मै देव, मनुष्य और तिर्यंच सम्बन्धी मैथुन स्वयं सेवन नही करूगा, दूसरेसे सेवन नही कराऊगा और सेवन करनेवालेका अनुमोदन नही करूगा। मै उस पापसे निवृत्त होता हू। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हू और अपने आपको उससे अलग हटाता हू।

५—मै पाचवें महाव्रतमें सर्व प्रकारके परिग्रहका यावज्जीवनके लिए त्याग करता हूं। मै अल्प या बहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रहको ग्रहण नही करूगा। न ग्रहण कराऊगा, न परिग्रह ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूंगा। मैं उस पापसे निवृत्त होता हू। उसकी निंदा करता हूं, गर्हा करता हू और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे अलग हटाता हू।

८ : अभिग्रह :

प्रव्रज्याके बाद मुनिने मित्र, ज्ञाति, स्वजन और सम्बन्धी वर्गको विसर्जित किया और अभिग्रह—निश्चय किया—"आजसे मै बारह वर्ष पर्यन्त कायाका उत्सर्ग करता हुआ—उसकी चिन्ता न करता हुआ—देव, मनुष्य, पशु एव पक्षी-कृत जो भी उपसर्ग—सङ्कट—उपस्थित होगे, उन्हे समभावपूर्वक सहन करूगा, उनके उपस्थित होनेके समय क्षमा-भाव रखूगा और सहनशीलता दिखलाऊँगा[1]।"

१—आचाराग सूत्र . श्रु० २ अ० २४ : १०२०,

२ : साधक जीवन :

१२ वर्षका तपस्वी जीवन :

प्रव्रज्याके बादके वर्द्धमान मुनिके १२ वर्षके जीवन-कालको हम उनके जीवनका साधना-काल कहेंगे। इस जीवन-कालमें उन्होंने उत्कट आत्म-साधना की, दीर्घ तपस्या और मौन-चिन्तनमें अपनी सारी शक्ति एकाग्र चित्तसे लगा दी। "वोसट्ठचत्त देहे···मुत्तिमग्गेण अप्पाणं भावेमाणे विहरइ"[१]। आत्म-साधनाके लिए मानो उन्होंने शरीरको व्युत्सर्ग कर दिया—न्योछावर कर दिया।

जैन-ग्रन्थोंमें "उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स" अन्य तीर्थङ्करोंकी अपेक्षा वर्द्धमानका तपकर्म विशेष उग्र था—ऐसा उल्लेख मिलता है[२]। सुधर्मा स्वामीने एक बार जम्बू स्वामीसे कहा था—"जैसे सर्व समुद्रोंमें स्वयंभू श्रेष्ठ है, रसोंमें इक्षु-रस श्रेष्ठ है, वैसे ही तप उपधानमें मुनि वर्द्धमान जयवंत—श्रेष्ठ है[३]।" वर्द्धमान किस तरह उग्र तपस्या करते हुए जीवन-यापन करते थे, इसका वर्णन भगवती सूत्र शतक १५

१—आचारांग · श्रु० २ अ० २४—१०२२

२—आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०

३—सूत्रकृतांग . श्रु० १ . ६ : २०

में कुछ मिलता है। दीक्षाके बाद प्रथम वर्षमें भगवान् १५।१५ दिनका उपवास करते हुए रहे। दूसरे वर्ष महीने-महीनेका उपवास करते रहे[1]। उपवासमें भी विहार तो चालू ही रखते। वर्द्धमान दीक्षाके बारहवे वर्षमें निरन्तर छट्ठभक्त उपवास करते रहे, ऐसा उल्लेख भी मिलता है[2]। उस समयकी एक बारकी तपस्याका वर्णन इस तरह है.—"भगवान् सुसमार नगरमे आ एक अशोक वनखण्डमे एक अशोक वृक्षके नीचे शिलापर बैठ आठ भक्तका उपवास करने लगे। दोनो पैर इकट्ठे कर, हाथोको नीचे फैला, मात्र एक पदार्थपर नजर रख, आखे फुरकाए बिना, शरीरको जरा आगेकी ओर झुका, सर्व इन्द्रियोको अधीन कर, उन्होने एक रात्रिकी बडी प्रतिमा स्वीकार की[3]।" इन सबसे स्पष्ट दीर्घकालीन उग्र तपस्या और कठोर आत्म-दमन वर्द्धमानके इस जीवन-कालकी अनन्य विशेपता रही।

वर्द्धमानने इस दीर्घ-साधना-कालमें धर्म-प्रचार—उपदेश-कार्य—नही किया, न शिष्य मुण्डित किए[4] और न उपासक बनाए, परन्तु अबहु-वादी—प्रायः मौन रह, जागरूकतापूर्वक आत्मशोधनमें—तीव्र ध्यान और आत्म-चिन्तनमें—समय लगाया। उनका यह जीवनकाल एकान्त आत्म-शोधनका काल था। सूत्रोमे इसके काफी प्रमाण मिलते है। एक बार दीक्षित जीवनके आरम्भिक कालमें छ. वर्ष तक वर्द्धमानके

१—भगवती सूत्र : श० १५ : २१

२—भगवती सूत्र . श० ३ उ० २ : १७

३—भगवती सूत्र : श० ३ उ० २ : १७

४—केवल गोशालककी अन्तवासी होनेकी बातको प्रतिश्रुत किया—माना था। भगवती : श० १५ : ४१

साथीके रूपमे रहनेवाले और बादमें उनका साथ छोड़ अलग ही आजी-विक सम्प्रदायकी स्थापना करनेवाले गोशालकने निर्ग्रन्थ मुनि आर्द्रकुमार से बातचीत करते हुए वर्द्धमानके तीर्थङ्कर कालकी जीवन-चर्याकी कड़ी आलोचना की थी। गोशालक और आर्द्रकुमारके बीचका यह वार्तालाप अभी तक सूत्रमे उपलब्ध है[1]। इस आलोचना-प्रसंगसे साधना-कालके जीवन पर प्रामाणिक प्रकाश पड़ता है। वह प्रसंग इस प्रकार है—

"हे आर्द्र ! महावीरने पहले किया, वह सुन। महावीर श्रमण पहले एकान्ताचारी था। अब उसने अनेक भिक्षुओंको इकट्ठा कर लिया है और उन्हे भिन्न-भिन्न रूपसे विस्तारपूर्वक धर्म कहता है।

"इस तरह उसने अपनी आजीविकाका रास्ता निकाल लिया है। वह सभास्थानमे भिक्षुगणमें रह अनेक लोगोंमे धर्म कहता है। इस तरह उसके पूर्वापर आचार-विचारमें सन्धि नहीं।

"या तो एकान्त ही अच्छा था अथवा यह ही—इस प्रकार अनेक साधु-परिवारके साथ रहना और उपदेश देना—ये दोनों बातें परस्पर भिन्न-भिन्न हैं—परस्पर मिलती नही।"

"तुम्हारा श्रमण शून्य, घर अथवा आराम—उद्यानादि—में नही ठहरता, क्योंकि वहा छोटे-बड़े बहुविद् तार्किक या वादी लोगोंका आवागमन होता रहता है और उसे भय है कि वह कहीं निरुत्तर न हो जाय।"

इस वार्तालापमें भिक्षु—शिष्य—बनानेकी, सभा-परिषद्‌मे धर्मोपदेश देनेकी, शून्य घर आरामादिमे वास न करनेकी तीव्र आलोचना की गई है। इससे सिद्ध होता है कि वर्द्धमान साधक-जीवनमें मौन रहते थे,

---

१—सूत्रकृताग : श्रु० २ अ० ६ : १-३, १५

धर्मोपदेश नही करते थे। किसीको प्रव्रजित नहीं करते थे और आरामादि शून्य घरोमें रहते थे।

वर्द्धमानकी इस बारह वर्षकी चर्याका बडा ही रसप्रद वर्णन आचारांग सूत्र श्रु० १ अ० ९ में मिलता है। वर्द्धमानकी रोमांचकारी कष्ट-सहिष्णुता, अडिग ब्रह्मचर्य-साधना, अहिंसा और त्यागके कठोर नियमोका पालन, अनुकरणीय दृष्टि-योग, अनुकूल-प्रतिकूल—सब परिस्थितियोमें मुदित समभाव, निस्पृह शारीरिक अनासक्ति और व्युत्सर्ग भाव, अपूर्व तितिक्षा और तपस्या, विस्मृतिपूर्ण आत्म-लवलीनता और धर्मध्यान—इन सबका एक सजीव चित्र सामने खडा हो जाता है। हम इस हृदयग्राही वर्णनके आधार पर साधक-जीवनका कुछ दिग्दर्शन करावेगे।

: अचेलक अणगार :

वर्द्धमानकी अचेलक दशाका वर्णन इस प्रकार है:—

वर्द्धमानने दीक्षा ली, उस समय उनके शरीर पर एक ही वस्त्र था[1]। उन्होने कोई तेरह महीने तक उस वस्त्रको कंधो पर डाले रखा। दूसरे वर्ष आधी शरद ऋतु बीत चुकी, तब उस वस्त्रको त्याग वे सम्पूर्ण अचेलक—वस्त्र-रहित—अनगार हो गए (४६३, ४६५)[2]। वे बाहुओको सीधा—नीचे फैलाकर विहार करते। शीतके कारण बाहुओको समेटते अथवा कन्धोको बाहुओसे संकोच करते कभी किसीने नही देखा (४८२)। शिशिर ऋतुमे जब पवन जोरोसे फुफकार मारता, जब अन्य साधु किसी छाये हुए स्थानकी खोज करते, वस्त्र लपेटना चाहते और

१—कल्पसूत्र. ११६;

२—कल्पसूत्र ११७;

तापस लकडिया जला शीत दूर करते—ऐसी दुःसह कडकड़ाती सर्दीमें भी वर्द्धमान खुले स्थानमें नगे वदन रहते और किसी प्रकारके वचाव की इच्छा तक नही करते। कभी-कभी तो शीतकालमें खुलेमें ध्यान करते (४९६)। नगे वदन होनेके कारण सर्दी-गर्मीके ही नहीं, पर दंसमशक तथा अन्य कोमल कठोर स्पर्शके अनेक कष्ट उन्हे झेलने पडे।

: निवासस्थान :

इस समयके निवासस्थानका वर्णन भी वडा रोचक है।

साहसी वर्द्धमान कभी निर्जन झोपडोमें, कभी धर्मशालाओंमें, कभी पानी पीनेकी पोहोमें वास करते, तो कभी लुहारकी शालामें। कभी मालियोके घरोमें, कभी शहरमें, कभी श्मशानमें, कभी सूने घरमें, तो कभी वृक्षके नीचे रहते और कभी घासकी गजियोके नीचे गुजर करते (४८५, ४८६)। ऐसे-ऐसे स्थानोमें रहते हुए वर्द्धमानको नाना प्रकारके उपसर्ग हुए। सर्प वगैरह जीव-जतु और गीध आदि पक्षी उन्हे काट खाते। दुराचारी मनुष्य उन्हे नाना यातना देते, गांवके रखवाले हथियारोसे पीटते, विषयातुर स्त्रिया कामभोगके लिए सताती। इस तरह मनुष्य और तिर्यञ्चोके नाना दारुण उपसर्ग, कठोर-कर्कश अनेक शब्दोके उपसर्ग, उनपर आये। जार पुरुष उन्हें निर्जन स्थानोमें देख चिढ़ते और पीटते और कभी उनका तिरस्कार कर उन्हे चले जानेके लिए कहते। मारने-पीटने पर भगवान् समाधिमें तल्लीन रहते और चले जानेको कहने पर अन्यत्र चले जाते (४९०-९२, ९४, ९५)।

: साधना-कालका आहार :

वर्द्धमानके भोजन-नियम वड़े कठिन थे। नीरोग होते हुए भी वे मिताहारी (५०९), खान-पानमें वड़े संयमी और परिमित भोजी थे।

मानापमानमे समभाव रखते हुए घर-घर भिक्षाचर्या करते। कभी दीनभाव नही दिखाते थे (४७९)। रसोमें उन्हे आसक्ति न थी और रसयुक्त पदार्थोकी कभी आकाक्षा नही करते थे (४८०)। भिक्षामें सूखा, ठण्डा, बहुत दिनोके पुराने उडदका, पुराने धान या यवादि नीरस धान्यका जो भी आहार मिलता, उसे वे शान्त भावसे और सन्तोषपूर्वक ग्रहण करते। न मिलनेपर भी वैसी ही शान्त मुद्रा और सन्तोष रखते (५१६)। स्वादजय उनका खास लक्ष्य रहता।

: निस्पृहता और शारीरिक दमन :

शरीरके प्रति वर्द्धमानकी निरीहता बडी रोमाञ्चकारी थी। रोग उत्पन्न होनेपर भी वे ओषध-सेवनकी इच्छा नही करते (५०९)। जुलाब, वमन, तेल-मर्दन, स्नान और दन्त-प्रक्षालनकी वे जरूरत नही रखते (५१०)। आरामके लिए पगचप्पी नही कराते। आखोमे किरकिरी गिर जाती तो वह भी उन्हे विचलित नही करती। ऐसी परिस्थितिमें भी वे आख नही खुजलाते। शरीरमें खाज आती, तो उसे भी जीतते। इस तरह उन्होने अपूर्व मन और देह-दमन साधा।

: नींद जय :

वर्द्धमानने कभी पूरी नीद नही ली। उन्हे जब नीद अधिक सताती, तब वे बाहर निकल शीतमें मुहूर्त्तभर चक्रमण कर निद्रा दूर करते। वे अपनेको हमेशा जागृत रखनेकी चेष्टा करते रहते (४८८-८९)।

: अनासक्त योगी :

वसतिवासमें भी भगवान् न गीतोमें आसक्त होते और न नृत्य और नाटकोमें, न उन्हे दण्डयुद्धकी बातोमें उत्सुकता होती और न मुष्टियुद्धकी बातोमें (४७०)। स्त्रियो व स्त्री-पुरुषोको परस्पर काम-कथामे तल्लीन देखकर भी वर्द्धमान मोहाधीन नही होते थे। वीतराग-

भावकी रक्षा करते हुए (४७१) वे इन्द्रियोके विषयोमें विरक्त रहते (५११)।

मौन ध्यानी

उत्कुटुक, गोदोहिका, वीरासन वगैरह अनेक आसनो द्वारा वर्द्धमान निर्विकार ध्यान ध्याया करते (५२०)। कितनी ही वार ऐसा होता कि जब वे गृहस्थोकी वस्तीमें ठहरते, तो रूपवती स्त्रिया, उनके शरीर-सौन्दर्य पर मुग्ध हो, उन्हे विषय-सेवनके लिए आमन्त्रित करती। ऐसे अवसर पर भी वर्द्धमान आख उठाकर तक नही देखते और अन्तर्मुख हो ध्यान ध्याते (४६७)। गृहस्थोके साथ कोई ससर्ग नही रखते। ध्यानावस्थामे कुछ पूछने पर उत्तर नही देते (४६८)। वर्द्धमान अवहुवादी थे अर्थात् अल्पभाषी जीवन विताते थे (४९३)। सहे न जा सकें, ऐसे कटु व्यङ्गयो के सामने भी शान्त चित्त और मौन रहते। कोई गुणगान करता, तो भी मौन, और कोई दण्डोसे पीटता या केश खीच कष्ट देता, तो भी शान्त-मौन (४६९)। इस तरह वर्द्धमान निर्विकार, कषायरहित, मूर्छारहित, निर्मल ध्यान और आत्म-चिन्तनमें समय विताते।

दृष्टियोग और ईर्या समिति

विहार करते—चलते समय—वर्द्धमान आगेकी पुरुष प्रमाण भूमि पर दृष्टि डालते हुए चलते (४६६)। अगल-वगल या पीछेकी ओर नही ताकते, केवल सामनेके मार्ग पर ही दृष्टि रख सावधानीपूर्वक चलते। रास्तेमें उनसे कोई बोलना चाहता, तो भी नही बोलते थे (४८१)।

तपश्चर्या

शीतके दिनोमे वर्द्धमान छायामे बैठकर ध्यान करते। गर्मीके

दिनोमें उत्कुटुक जैसे कठोर आसन लगाकर धूपमें बैठकर तप सहन करते (५१२)।

शरीर-निर्वाहके लिए सूखे भात, मथु और उडदका आहार करते। एक बार निरन्तर आठ महीनो तक वर्द्धमान इन्ही चीजो पर रहे (५१३)।

वर्द्धमान पन्द्रह-पन्द्रह दिन, महीने-महीने, छ छ महीने तक जल नही पीते थे। उपवासमें भी विहार करते। अन्न भी ठण्डा और वह भी तीन-तीन, चार-चार, पाच-पाच दिनके अन्तरसे किया करते (५१४)।

अहिंसा और तितिक्षा भाव

भगवान्‌ने पल-पल अहिंसा और अनुपम तितिक्षा भावकी आराधना की। ऐसी घटनाओका उल्लेख मिलता कि भिक्षाके लिए जाते समय रास्तेमे कबूतर आदि पक्षी धान चुगते दिखाई देते, तो वर्द्धमान दूर टलकर चले जाते, जिससे कि उन जीवोको विघ्न उपस्थित न हो। यदि किसी घरमें ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्तोंको कुछ पानेकी आशामें या याचना करते हुए देखते, तो उनकी आजीविकामें कही बाधा न पहुचे, इस विचारसे वे दूर ही से निकल जाते। किसीके मनमें द्वेषभाव उत्पन्न होनेका वे मौका ही नही आने देते (५१८)।

वर्द्धमान दीक्षित हुए, तब उनके शरीर पर नाना प्रकारके सुगन्धित द्रव्य लगाये गये थे। चार महीनेसे भी अधिक समय तक भ्रमरादि जन्तु उनके शरीर पर मडराते रहे और उनके शरीरके मास और लहू को काटते और पीते रहे, पर वर्द्धमानने उन्हे दूर हटाने तककी इच्छा नही की, मारना तो दूर रहा।

भगवान्‌ने दुर्गम्य लाढ देशकी वज्रभूमि और शुभ्रभूमि—दोनो—पर

विचरण किया। वहा उनपर अनेक विपदाएं आयी। वहाके लोग भगवान्‌को पीटा करते। उन्हे खानेको रूखा-सूखा आहार मिलता। उतरनेके लिए हल्के स्थान मिलते। उन्हे कुत्ते चारो ओरसे घेर लेते और कष्ट देते (४८९-५००)। ऐसे अवसरो पर बहुत ही थोड़े होते जो कुत्तोसे उनकी रक्षा करते। अधिकांश तो उलटा भगवान्‌को ही पीटते और ऊपरसे कुत्ते लगा देते (५०१)। ऐसे विकट विहारमें भी अन्य साधुओंकी तरह वर्द्धमानने दण्डादिका प्रयोग नही किया। दुष्ट लोगोंके दुर्वचनोको वर्द्धमान बड़े क्षमाभावसे सहन करते (५०२)।

कभी-कभी तो ऐसा होता कि भटकते रहने पर भी वर्द्धमान गाव के निकट नही पहुच पाते। ग्रामके नजदीक पहुचते त्योही अनार्य लोग उन्हे पीटते और कहते—"तू यहासे चला जा।" (५०४)।

कितनी ही वार इस देशके लोगोने लकडियो, मुट्टियो, भालेकी अणियो, पत्थर तथा हड्डियोके खप्परोसे पीट-पीटकर उनके शरीरमे घाव कर दिये (५०५)।

जब वे ध्यानमें होते, तो दुष्ट लोग उनके मांसको नोच लेते, उनपर धूल वर्षाते, उन्हे ऊंचा उठाकर नीचे गिरा देते, उन्हे आसन परसे नीचे ढकेल देते (५०६)।

वर्द्धमान साधना कालमें ऐसा ही कठोर जीवन जीते रहे।

वर्द्धमानसे महावीर

स्व-आत्म-अनुभवसे संसारकी असारताको समझ मन, वचन और कायाको वशमें रखते हुए वर्द्धमानने १२ वर्षके दीर्घ साधनाकालमें इसी तरह आत्म साक्षीपूर्वक सयम-धर्मकी रक्षा की[1]।

१—आचाराग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ उ० ४ : ५२२

उपकार-अपकार, सुख-दु.ख, जीवन मृत्यु, आदर-अनादर, लाभ अलाभ सब परिस्थितियोंमें समस्थिति—समभावका अनुपम विकास किया[1]।

वे ससार-समुद्रसे पार पानेकी ही हमेशा सोचा करते और कर्म रूपी शत्रुओंके समुच्छेदमें निशिदिन तत्पर रहते। निशिदिन मुक्तिमार्ग द्वारा आत्माको भावित करते रहते[2]।

देव, मनुष्य, पशु-पक्षी कृत जो भी उपसर्ग हुए, उन्हें अदीन भावसे, अव्यथित मनसे, अम्लान चित्तसे, मन-वचन-कायाको वशमें रखते हुए सहन किया और अनुपम तितिक्षा और समभाव दिखलाया[3]।

इसी अनुपम चिन्तन, अनुपम ध्यान, अनुपम तप और अनुपम तितिक्षाके कारण ही वर्द्धमानका नाम स्थान-स्थान पर वीर—'महा-वीर मिलता है। दुर्जय रागद्वेषादि आन्तर शत्रुओंको निराकरण करने में विक्रात शूर—महान् वीर होनेसे ही वे महावीर कहलाए। कहा भी है.—

"भयभैरवमें अचल तथा परिषह और उपसर्गोंको क्षमापूर्वक—समभाव पूर्वक—सहन करनेवाले होनेके कारण ही वर्द्धमानका नाम महावीर पडा। अत्यन्त स्थिर धी, सुख-दु खमें हर्ष-शोक रहित तथा तपस्यामें अत्यन्त पराक्रमशील होनेके कारण वे महावीर कहलाए[4]।

१—कल्पसूत्र : ११९; आचाराग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४६९, ५१९

२—आचाराग : श्रु० १ अ० ९ उ० १ : ४७५;
श्रु० २ अ० २४ : १०२२

३—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १०२३,

४—आचाराग : श्रु० २ अ० २४ . १००२; कल्पसूत्र : १०८;

वर्द्धमान शरीरको त्याग कर रहते। उन्होंने वीर योद्धाकी तरह कष्टोंके सामने कभी पीठ नहीं दिखाई[1]। जिस तरह बलवान हाथी युद्धक्षेत्रके अग्रभागमे जाकर विजय प्राप्त करता है, उसी तरह दारुण विपदाओमे अडिग आत्मसाधन कर वर्द्धमानने वास्तवमे ही बड़ा पुरुषार्थ दिखलाया[2] और सच ही महावीर कहलाए।

साधनाकालके अनुभव और अन्तिम सिद्धि

ऊपर एक जगह बतलाया जा चुका है कि वर्द्धमानके माता-पिता पार्श्वनाथ भगवान्‌के श्रमणोके अनुयायी थे। इससे जन्मसे ही भगवान्‌को इस प्रसिद्ध श्रमण-परम्पराके धार्मिक आचार-विचारोंकी विरासत मिलनी स्वाभाविक थी, फिर भी यह नही कहा जा सकता कि उनका जीवन इस परम्पराके किसी सतपुरुषके प्रत्यक्ष ससर्गसे प्रभावित, प्रस्फुटित और विकसित हुआ था। कम-से-कम सूत्रोमे ऐसा कोई वर्णन नही मिलता। इससे यह प्रकट है कि वर्द्धमान स्वयसंबुद्ध थे। स्व-आत्म-अनुभवसे ही उन्होने ससारके स्वरूपको जाना था[3]। उन्हे अनेक स्थानो पर सहसबुद्ध कहा गया है[4], इसका रहस्य यही है।

जन्म दुःख है, आधि दुःख है, व्याधि दुःख है, जरा दुःख है, मृत्यु दुःख है—इस परम अनुभवसे ही वर्द्धमानको गृह-त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करनेकी प्रेरणा मिली। ससार दुःखसे जल रहा है। जहा दुःख ही दुःख है, वहा परम शाति कैसे मिले—इस एक प्रश्नके हलके लिए

१—आचाराग . श्रु० १ अ० ९ उ० ३ : ५०७

२—आचाराग : श्रु० १ अ० ९ उ० ३ . ५०३

३—आचारांग : श्रु० १ अ० ९ : ५२२

४—भगवती सूत्र : श० १ उ० १ : २,
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २१२

ही उन्होने महान् त्याग किया। अपने दीर्घ साधनाकालमें वर्द्धमानने, दु ख क्यो होते है, इसके कारणोकी खोज की, दु ख दूर करनेके उपायोका चिन्तन किया। दु.ख-क्षयके व्यापक सर्वाङ्गसम्पूर्ण नियमोको गभीर चिन्तनसे स्थिर किया[१]।

ससार क्या, ससारके तत्त्व क्या, ससार-बन्धनसे छुटकारा कैसे मिले—इस विषयमें जो सरल, बुद्धिगम्य और गम्भीर तत्त्वज्ञान वर्द्धमान ने दिया, वह साधनाकालके दीर्घ मौन, तत्त्वचिन्तन और आत्मशोध का ही परिणाम था। अब्रह्मचर्य आत्मसिद्धिके लिए कितना घातक है, इसकी सम्यक् सबोधि इसी कालमें हुई। गम्भीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ब्रह्मचर्यके व्यापक नियमोका स्थिरीकरण इसी कालके अनुभवोके आधार पर हुआ[२]। अहिंसाके सिद्धान्तको सम्पूर्ण रूपसे व्यवहारधर्म बनानेके लिए वर्द्धमानने चलने-फिरने, बोलने-बैठने, खाने-पीने, वस्तुको लेने-रखने तथा मलमूत्रादि विसर्जन करनेके सम्बन्धमें जो नियम बादमें अपने सघमें प्रचलित किए, वे इसी समयके गहरे चिन्तनके फल थे। उन्होने सर्व जीवोकी समानताके सिद्धान्तका प्रत्यक्ष अनुभव इसी कालमे किया[३]।

इस तरह यह साधनाकाल वर्द्धमानके जीवनका बडा ही महत्त्वपूर्ण समय था।

गभीर चिन्तन और धर्म-ध्यानके कारण उनके हृदयकी ज्ञान-ऊर्मिया विकसित होती जाती थी और अनेक प्रकारकी आत्मसिद्धिया उन्हे

१—आचाराग श्रु० १ अ० ९ उ० १ ४७५, ४७६

२—आचाराग श्रु० १ अ० ९ ४६७, ४७७

३—आचाराग श्रु० १ अ० ९ ४७३, ४७४

उपलब्ध हुई। दूसरोके मनोभावको जान लेनेकी अद्भुत शक्ति जिसे पारिभाषिक शब्दोमे 'मनःपर्यवज्ञान' कहा जाता है, वह तो वर्द्धमान को दीक्षा लेते ही प्राप्त हो गई थी[1]। निमित्तज्ञानकी अद्भुत शक्ति भी इस कालमें उनमें देखी जाती है[2]। तेजोलेश्या और शीतललेश्या जैसी प्रबल लब्धिया भी तप.बलसे उन्हें प्राप्त हुई[3]।

वर्द्धमानने अपनी इन शक्तियोका पूर्ण आत्मदशा प्राप्त करनेके बाद कभी दुरुपयोग नही किया और न किसीको करने दिया। हा, साधनाकालमें इन शक्तियोका दुरुपयोग भी हुआ। जागृत वर्द्धमान भविष्यत्के लिए सजग हो गये।

इस साधनाकालका सबसे बड़ा फल तो था केवल ज्ञान और केवल दर्शनकी प्राप्ति। ये सर्वोपरि ज्ञान और दर्शन उन्हे दीक्षा-जीवनके १३ वे वर्षके आरम्भमें प्राप्त हुए। केवल ज्ञान-दर्शन प्राप्त करनेकी घटनाका वर्णन इस प्रकार है।

: केवल ज्ञान केवल दर्शन :

तपस्वी वर्द्धमानको अनुपम ज्ञान, अनुपम दर्शन, अनुपम चरित्र, अनुपम आर्जव, अनुपम लाघव, अनुपम क्षान्ति, अनुपम मुक्ति, अनुपम गुप्ति, अनुपम तुष्टि, अनुपम सत्य, संयम और तपसे अपनी आत्माको भावित करते हुए १२ वर्षका दीर्घकाल बीत गया[4]।

१—आचारांग : श्रु० २ अ० २४ : १०१९

२—भगवती सूत्र : श० १५ : ४३, ४६; ५६-५९

३—भगवती सूत्र : श० १५ : ४८-५३

४—कल्पसूत्र : १२०;

आचाराग : श्रु० २ अ० २४ : १०२२;

१३वे वर्षमें वर्द्धमान जभियग्राम नगरके बाहर ऋजुवालिका नदीके उत्तर किनारे, श्यामाक गाथापतिकी कर्षणभूमिमें व्यावृत नामक चैत्यके अदूर-समीप उसके ईशान कोणकी ओर शालवृक्षके नीचे गोदोहिका —उत्कुटुक आसनमें स्थित होकर सूर्यके तापमें आताप ले रहे थे। उस दिन वर्द्धमानके दो दिनका निर्जल उपवास था। ग्रीष्म ऋतुका वैशाख महीना था, शुक्ल दशमीका दिन था। छाया पूर्वकी ओर ढल चुकी थी और पश्चान्ह—अन्तिम पौरुषीका समय था। उस निस्तब्ध शान्त वातावरणमें आश्चर्यकारी एकाग्रताके साथ भगवान् शुक्ल ध्यानमें लवलीन थे। ऐसे समय विजय नामक मुहूर्त्तमें उत्तराफाल्गुनी योगमें प्रबल पुरुषार्थी भगवान्ने घनघाति कर्मोका क्षय कर डाला और उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त हुए[1]।

यह चरम, उत्कृष्ट, अनुत्तर ज्ञानदर्शन इतना अनन्त, व्यापक, सम्पूर्ण, निरावरण और अव्याहत होता है कि इसकी प्राप्तिके बाद मनुष्य, देव, मनुष्य तथा असुर-प्रधान इस लोककी सर्व पर्याय जानने देखने लगता है। वर्द्धमान अब ऐसे ही ज्ञानदर्शनके धारक हुए—वे सर्वलोकके सर्वजीवोके सर्वभाव जानने देखने लगे[2]।

इस तरह केवली, अर्हत्, जिन, सर्वज्ञ और सर्वभावदर्शी बननेके बाद वर्द्धमान तीर्थङ्कर महावीर अथवा श्रमण भगवान् महावीर कहलाए।

१—आचाराग श्रु० २ अ० २४ १०२४,
आवश्यक निर्युक्ति गा० २५२, २५३, २५४, २५५,
कल्पसूत्र १२०,

२—आचाराग श्रु० २ अ० २४ १०२५
कल्पसूत्र १२१

३ : तीर्थंकर-जीवन :

गणधरवाद

तीर्थका अर्थ होता है जिसके द्वारा तिरा जा सके। तीर्थङ्करका अर्थ होता है तीर्थ करनेवाला। श्रमण भगवान् वर्द्धमानने प्रवचन दिया—ससार-समद्र तीरनेका मार्ग स्थापित किया—इसलिये वे तीर्थङ्कर कहलाए[1]। भगवान्का तीर्थङ्कर जीवन, केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्तिके बाद ही, शुरू होता है[2]। अनन्त ज्ञानदर्शन प्राप्तिके बाद भगवान् ग्राम-ग्राम पैदल विहार कर धर्मोपदेश देने लगे। भगवान्ने पहले देवोको और फिर मनुष्योको उपदेश दिया[3]। देवोको दिया गया उपदेश निष्फल गया[4]। तीर्थङ्करका उपदेश इस तरह निष्फल जाय, यह एक आश्चर्य माना गया है[5]।

१—भगवती सूत्र : (जिनागम प्रकाशक सभा) प्र० ख० अभयदेवसूरि टीका पृ० २०

तरन्ति तेन ससारसागरमिति तीर्थं प्रवचनम्,

तदव्यतिरेकाच्चेह सघतीर्थम्, तत्करणशीलत्वात् तीर्थकर.।

२—आचाराग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १०२७

३—उपर्युक्त

४—स्थानाग सूत्र · अ० १० उ० ३ सू० ७७७,

५—उपर्युक्त

भगवान् जंभियग्राम नगरसे मध्यम पावापुरी पधारे। वहां इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्यपुत्र, अकपित, अचल-भ्राता, मेतार्य, प्रभास—ये ग्यारह वेदविद् धुरधर विद्वान् भी उपस्थित थे। मध्यम पावापुरीमें उस समय सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मणने विशाल यज्ञ चालू कर रखा था और उपर्युक्त वेदविद् याज्ञिक ब्राह्मण उसी यज्ञके निमित्त अपने सैकड़ो शिष्योंके साथ वहा आये हुए थे। भगवान्के प्रवचनको सुननेके लिए अनेक लोगोंको जाते देख इन ब्राह्मणोंके मनमें पाण्डित्यका अभिमान जागृत हो गया और ईर्ष्यावश तथा कौतूहलवश वे भी एकके बाद एक महावीरके पास पहुचे।

इन विद्वानोंके मनमें जीव है या नही, कर्म है या नही, शरीरसे भिन्न जीवात्मा है या नही, जगत् क्या माया नही, भूत है क्या, क्या समान योनिमें ही जन्मान्तर नही होता, बन्ध और मोक्ष है या नही, देव है या नही, नैरयिक है या नही, पुण्य-पाप है या नही, परलोक-पुनर्जन्म है या नही, निर्वाण-मोक्षस्थान है या नही—आदि भिन्न-भिन्न चर्चायें—प्रश्न थे[1]। भगवान्ने एक-एक प्रश्नका अलग-अलग उत्तर दिया[2]। इन उत्तरो परसे भगवान्के वादकी संलग्न रूप-रेखा निम्न प्रकार बनती है।—

१—यह ससार शून्य नहीं वास्तविक है। जीव-अजीव इन दोनों तत्वोंसे बना हुआ संसार केवल माया नही हो सकता। यह प्रत्यक्ष

१—आवश्यक निर्युक्ति (यशो० ग्रं०)—१७, २५, ३१, ३५, ३९, ४३, ४७, ५१, ५५, ५९, ६३

२—आवश्यक निर्युक्ति (यशो० ग्र०) १८-२४; २६-३०, ३२-३४, ३६-३८; ४०-४२, ४४-४६, ४८-५०; ५२-५४; ५६-५८; ६०-६२, ६४-६५;

दिखनेवाला स्थूल-सूक्ष्म भूतात्मक जगत् वास्तविक है। पदार्थोमे सतत् परिवर्त्तन—उत्पाद-व्यय—होते रहते हैं। उनकी अपेक्षा ससार अशाश्वत है, पर द्रव्य—मूलभूत तत्त्वों—की दृष्टिसे वह शाश्वत है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—ये छ शाश्वत द्रव्य है और यह जगत् इन्ही छ द्रव्योंका समुदाय है। जगत्के परिवर्त्तन इन्ही छ द्रव्योमे होते हुए उत्पाद-व्ययको लेकर है।

२—(१) आत्मा है। ज्ञान, चैतन्यसे जो प्रत्यक्ष जानी जा सकती है, वह आत्मा है। जानने-देखनेका जो साधन है, वही जडसे भिन्न आत्मा है। यदि आत्मा न हो, तो धर्म, दान आदि क्रियाका आधार ही क्या रहे? (२) आत्मा शरीरसे भिन्न है। जड देह तथा इन्द्रियोसे भिन्न यदि आत्मा न हो, तो इन्द्रियोका नाश होनेपर भी इन्द्रियोसे प्राप्त ज्ञानकी स्मृति कैसे रह सकती है? जो स्वय इन्द्रिय नही है, पर जो इन्द्रियोकी चेतन-शक्ति है, जो स्वय देह नही, पर जो देहकी अन्तरशक्ति है, वह ही आत्मा है और शरीरसे भिन्न पदार्थ है। आत्मा चेतन है। शरीर आदि पुद्गल—जड है। इस तरह दोनो अपने लक्षणोसे भिन्न है और दोनो कभी एक नही हो सकते। आत्मा नित्य है, क्योकि वह हमेशा अपने चैतन्यरूपमे स्थिर रहती है।

३—(१) कर्म है। चेतन आत्मासे भिन्न जड कर्म है जो, आत्माके परिणामो—शुभ-अशुभ भावोके कारण, कषाययुक्त आत्माके प्रदेशोके साथ जुड जाते है और परिणामोके अनुसार भिन्न-भिन्न जीवोको भिन्न-भिन्न फल देते है। जीवोमें सुख-दु.खकी विचित्रता इन कर्मोके कारण ही है। (२) कर्म आत्माके नही लगते, पर आत्मा कर्मोको लगाती है। अतः आत्मा अपने कर्मोकी कर्त्ता है। कर्मोका फल भी आत्माको ही भोगना पडता है। कर्मोका कर्त्ता एक और फल-

भोक्ता दूसरा—ऐसा नही होता, अत आत्मा निज कर्मोंका फल भोगती है। वह पुण्य-पापकी कर्त्ता और भोक्ता है। (३) आत्मा शाश्वत है, पर अपने कर्मोंके अनुसार पुन॰-पुन॰ जन्म-जन्मान्तर करती रहती है। वार-वार भिन्न-भिन्न शरीर धारण ही पुनर्जन्म है। मनुष्य हमेशा मनुष्य-रूप ही धारण करेगा और पशु हमेशा पशु रूप ही—ऐसा नियम नही हो सकता। जिस जन्ममें जीव जैसा कर्म करेगा, भविष्यत्में उसीके अनुसार उसे फल मिलेगा। मनुष्य जन्मान्तरमें पशु-रूप शरीर धारण कर सकता है और पशु मनुष्य-रूप। देव, मनुष्य, नर्क और तिर्यञ्च (पशु-पक्षी, वृक्षादिकी योनि)—ये चार गतियां है। जीव अपने कृत कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न योनियोमें भ्रमण करता रहता है।

४—गति-भ्रमण ही ससार है और यह ससार-बन्धन कर्म-बन्धनसे होता है। जब तक कर्म-बन्धन रहता है, ससार-भ्रमण नही मिटता।

५—जैसे कर्म-बन्धनके कारण आश्रव है, वैसे ही कर्म-निरोधके हेतु सवर है। जब कर्म-निरोध होता है, तब ससार-भ्रमण भी मिट जाता है।

६—आत्मा और कर्मका सम्बन्ध तदात्मिक नही है। आत्माके कर्मोंका बन्धन होता है, पर इससे आत्मा कर्ममय नही हो जाती। उसका अलग अस्तित्व कभी विलीन नही होता। वह चेतनसे जड नही हो जाती, पर हमेशा चेतन-रूप ही रहती है। इसलिये जड पुद्गलसे आत्माकी अलग सिद्धि—उसका छुटकारा हो सकता है। आत्माकी स्वभाव-सिद्धि ही उसकी मुक्ति है। और चूकि स्वभाव-सिद्धि सम्भव है, अत मोक्ष भी सम्भव है। मोक्षालय—मोक्षस्थान-है, जहा शुद्ध चैतन्यमय आत्माए है। शुद्ध उपायसे—कर्मोंकी निर्जरा करते-करते कर्मोंको आत्म-प्रदेशोसे झाडते-झाडते आत्मा सम्पूर्ण शुद्ध

हो जाती है—मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

भगवान्‌के असीम ज्ञानके सम्मुख ब्राह्मण पण्डितोंका पाण्डित्य-मद स्वयं ही बिखर गया। सबके अद्‌भुत दृष्टि-उन्मेष हुआ और सबका मस्तिष्क भगवान्‌के चरणोंमें झुक गया। सूत्रकृतांगसूत्रमें भगवान्‌के बादकी रूप-रेखा उपस्थित करनेवाली कितनी ही गाथाएँ उपलब्ध हैं[1]। मालूम देता है जैसे वे ब्राह्मण-पण्डितोंके रहेसहे अभिनिवेशको दूर कर उन्हें स्थिर करनेके लिये कही गई हों। भगवान्‌ने कहा—

"मत विश्वास करो कि चार गति-रूप ससार नहीं है, पर विश्वास करो कि चार गति-रूप ससार है।

मत विश्वास करो कि जीव अजीव नही है, पर विश्वास करो कि जीव अजीव हैं।

मत विश्वास करो कि धर्म अधर्म नही है, पर विश्वास करो कि धर्म अधर्म है।

मत विश्वास करो कि क्रोध मान नही है, पर विश्वास करो कि क्रोध मान है।

मत विश्वास करो कि माया लोभ नही है, पर विश्वास करो कि माया लोभ है।

मत विश्वास करो कि राग द्वेप नही है, पर विश्वास करो कि राग द्वेप है।

मत विश्वास करो कि साधु असाधु नही है, पर विश्वास करो कि साधु असाधु है।

मत विश्वास करो कि पुण्य पाप नही है, पर विश्वास करो कि पुण्य पाप है।

१—सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० २ अ० ५ : १२-२८;

मत विश्वास करो कि आश्रव संवर नहीं है, पर विश्वास करो कि आश्रव संवर है।

मत विश्वास करो कि क्रिया अक्रिया नहीं है, पर विश्वास करो कि क्रिया अक्रिया है।

मत विश्वास करो कि वेदना निर्जरा नहीं है, पर विश्वास करो कि वेदना निर्जरा है।

मत विश्वास करो कि वन्ध मोक्ष नही है, पर विश्वास करो कि वन्ध मोक्ष है।

मत विश्वास करो कि सिद्धि असिद्धि नहीं है, पर विश्वास करो कि सिद्धि असिद्धि है।

मत विश्वास करो कि सिद्धि स्थान नहीं है, पर विश्वास करो कि सिद्धि स्थान है।

भगवान्‌के इन अनुभवमय वचनोको सुनकर ब्राह्मण पण्डित मन्त्र-मुग्ध-से हो गये। उनके हृदयमें भगवान्‌के तत्त्वज्ञानके प्रति अनन्य श्रद्धा उत्पन्न हुई। उनके हृदयकी सारी जिज्ञासाए शात हुई और वे मूक भावसे नतमस्तक हो हाथ जोड भगवान्‌की ओर निर्निमेष दृष्टिसे ताकने लगे।

प्रथम धर्मोपदेश

इसके बाद भगवान्‌ने गौतमादि पण्डितो और परिषदको धर्मोपदेश दिया[१]। इस धर्मोपदेशमे छ जीवनिकाय, पाच महाव्रत और भावनाओका विस्तृत वर्णन किया, ऐसा सूत्रमें उल्लेख है[२]। जीवनिकाय

१—आचारांग सूत्र श्रु २ अ० २४ १०२७, २८;
२—आचारांग सूत्र श्रु २ अ० २४ १०२८;
आवश्यक निर्युक्त २७१

वाला अंश आचारांग और दशवैकालिक सूत्रोमे अभी तक सगृहीत है[1]। पाच महाव्रतवाला अश आचारांग दशवैकालिक सूत्रमे उपलब्ध है[2]। पाठक इस उपदेशको उपर्युक्त आगमोमे देखे। देवोको जो उपदेश दिया गया और जो निष्फल गया, सम्भवत. वही फिर मनुष्योको दिया गया। इससे कहा जा सकता है कि भगवान्‌का प्रथम धर्मोपदेश यही था।

: संघ-स्थापना :

वादविवाद और यह धर्मोपदेश सुननेके वाद इन्द्रभूति आदि ग्यारह ही पण्डितोकी भावनामें आमूल परिवर्तन हो गया। वे खडे हो गये और भगवान्‌को तीन बार प्रदक्षिणा कर वदन-नमस्कार कर बोले· "हमे निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा हुई है, उसमें विश्वास हुआ है, रुचि हुई है। हम आपके प्रवचनके अनुसार जीवन वितानेके लिये तैयार है। आप कहते है वह सत्य है, असदिग्ध है।" भगवान् बोले—"जैसी इच्छा हो, वैसा करो, प्रतिवन्ध न करो।" पण्डितोने अपने घरवालोकी आज्ञा ली। अपने केश मूडवा डाले और भगवान्‌के पाससे पांच महाव्रत ग्रहण कर अपने-अपने शिष्योके साथ प्रव्रज्या ली। भगवान्‌ने वतलाया —"इस प्रकार चलना, इस प्रकार रहना, इस प्रकार वैठना, इस प्रकार सोना, इस प्रकार खाना, इस प्रकार वोलना, और इस प्रकार प्राणी, भूत, जीव और सत्वके प्रति आत्म-सयमपूर्वक वर्तन करना।"

१—आचाराग सूत्र श्रु० १ अ० १ उ० १-७, दशवैकालिक सूत्र अ० ४

२—आचाराग सूत्र श्रु० २, अ० २४ १०२९—१०८०
दशवैकालिक अ० ४

इस परिषद्मे अनेक स्त्री-पुरुष मौजूद थे। चम्पानगरीके राजा दधिवाहनकी पुत्री ब्रह्मचारिणी आर्या वसुमति (चन्दनबाला) ने भी इस अवसर पर प्रव्रज्या ग्रहण की तथा और भी अनेक स्त्रिया प्रव्रजित हुई।

भगवान्‌ने साधुओको अलग-अलग समूहोमें बाट उनके ९ गण बनाये। इन ९ गणोकी देख-रेख इन्द्रभूति आदि उपर्युक्त ११ ब्राह्मण मुनियो पर आई[1]। अतएव वे गणधर कहलाए।

भिक्षुणियोका भार आर्या चन्दना पर छोड़ा।

इस समय अन्य अनेक पुरुष और स्त्रिया भी उपासक-उपासिकाए बनी।

इस तरह मध्यम पावामें श्रमण, श्रमणी, उपासक और उपासिका रूप चतुर्विध सघकी नीव पडी।

: अनुशासन और व्यवस्था :

भगवान् बडे कडे अनुशासक थे। उनकी व्यवस्था-शक्ति बडी अद्भुत थी। भगवान्‌ने सघकी नीव बड़े सुन्दर तत्त्वो पर डाली थी। (१) आत्म-जय, (२) अहिंसा, (३) व्रत, (४) विनय, (५) शील, (६) मैत्री (७) समभाव और (८) प्रमोद इन आठ तत्त्वोके आधार पर ही सारी व्यवस्था चलती थी।

(१) आत्मजय : भगवान्‌की दृष्टि सम्पूर्णत. आध्यात्मिक थी। उन्होने जगह-जगह कहा है *"आत्मा ही वास्तवमें दुर्दम्य है, आत्माको ही जीतना चाहिए[2]।"* "आत्माकी जय यही परम जय है। आत्माके

१—कल्पसूत्र : स्थिरावली : १;
आवश्यक निर्युक्ति गा० २६८-९
२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १ : १५

साथ ही युद्ध कर। आत्माके द्वारा आत्माको जीत[1]।" "एक आत्माको जीत लेनेसे सब जीते जाते है[2]।" भौतिक सुखोमें डूबी हुई दुनियाके सामने 'तप और सयम'[3] से आत्माको जीतनेका नारा उपस्थित करना —यही भगवान्‌के संघकी खास दृष्टि थी। 'अपनेको जीतनेवालो' का एक संघ स्थापित कर उन्होने भौतिकवादको एक सगठित चुनौती देनेका बल दिया था। जो भी आध्यात्मिक साधना द्वारा आत्म-विजय करने का इच्छुक होता, वह सघका अङ्गी हो जाता। संघ आध्यात्मिक साधनाको बल प्रदान करता था तथा किसी प्रकारकी भौतिक उन्नतिका आकाक्षी नही था। इस सघके अनुयायीकी साधना इहलोकके सुखके लिए नही हो सकती थी, परलोकके काम-भोगके लिए नही हो सकती थी, कीर्ति-श्लाघाके लिए नही हो सकती थी, पर केवल आत्मिक शत्रुओं पर विजय पानेकी दृष्टिसे हो सकती थी[4]।

(२) **अहिंसा :** जिस तरह सघकी दृष्टि शुद्ध आध्यात्मिक थी, उसी तरह उसकी नीति सम्पूर्णत. अहिंसक थी। पृथ्वीकाय, अप्‌काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और चलते-फिरते—त्रस-जीव—इन छ प्रकारके जीवोके प्रति सयमपूर्ण व्यवहार—यही अहिंसाकी परिभाषा थी[5]। जो मन, वचन, काया और करने, कराने, अनुमोदन करने रूप सर्व जीव-हिंसामे पापका विश्वास रखता, वही अहिंसक माना

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ६ : ३४, ३५
२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ९ ३६
३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १ : १६
४—दशवैकालिक सूत्र · अ० ९ उ० ४ : ३
सूत्रकृताग श्रु० २ अ० १ ५०
५—दसवैकालिक सूत्र . अ० ६ . ९

जो महाव्रती बनते, उन्हे परिवार और घरका सम्बन्ध तोड़ अनागारी होना पडता[1] और आजीवनके लिए अहिंसाका महाव्रत अङ्गीकार करना पडता। उनकी प्रतिज्ञा होती—"हे भदन्त! प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातसे विरमण करना होता है। हे भदन्त! मै सर्व प्राण-अतिपातका प्रत्याख्यान करता हूं। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी है, मै उनकी मन, वचन, कायासे हिंसा नही करूंगा, न कराऊंगा, और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूगा[2]। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—प्राणातिपात करनेका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! मैने अतीतमें प्राणातिपात किया, उससे हटता हू, उसकी निन्दा करता हू, गर्हा करता हू और अपनी आत्माको उस पापसे छुडाता हू। हे भदन्त! सर्व प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रतमें मै अपनेको अवस्थित करता हू[3]।"

इस अहिंसा महाव्रतकी रक्षाके लिए ठीक इसी रूपमें मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि-भोजन विरमण-रूप अन्य पाच महाव्रतोको यावज्जीवनके लिए अङ्गीकार कर उनका सूक्ष्म रूपसे पालन करना होता था[4]। उन्हे सर्व पापोंसे अपनी आत्माको सम्पूर्ण मुक्त रखना होता। उन्हे अपना जीवन बडा ही सादा और

१—उववाई सूत्र : सू० ३४;
दसवैकालिक सूत्र . अ० ४ : १८

२—दसवैकालिक सूत्र . अ० ४ . १

३—दसवैकालिक सूत्र . अ० ४ : १

४—दसवैकालिक सूत्र · अ० ४ . २-६

ऋजु रखना होता था। वे आजीवन स्नान नहीं करते थे[१]। वे हजामत नहीं करवा सकते थे। उन्हें अपने केश हाथोंसे लोचने पड़ते[२]। उबटन, तेल, विलेपन, गन्ध, माल्य और विभूषा उनके लिए वर्ज्य थे[३]। वे आरसीका उपयोग नहीं कर सकते थे[४]। वे किसी प्रकारकी सवारीका उपयोग नहीं कर सकते थे—उन्हें पैदल यात्रा करनी होती थी। वे पैरोंमें जूते नहीं पहन सकते, सिर पर छत्र नहीं रख सकते[५], पङ्खेसे पवन नहीं ले सकते थे। खटिया, पलग, आरामकुर्सी पर वे सो-बैठ नहीं सकते थे[६]। आखोंमें अंजन डालना, दांतोंमें मिस्सी लगाना या वस्त्रों को सुगन्ध देना मना था[७]। ऐसा स्वावलम्बी सादा जीवन उनके लिए अनिवार्य-जरूरी था। उन्हें लघु—हल्का होकर रहना होता।

वे किसी प्रकारकी सम्पत्ति नहीं रख सकते थे[८]; मठ, मन्दिर, घाट नहीं बनवा सकते थे[९]। गृहस्थोंके खाली मकान मांगकर रहना

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : २; अ० ६ : ८, ६२, ६३

२—सूत्रकृताग : श्रु० २ अ० २ : ७२, ७३

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : २, ३, ५, ९; अ० ६ : ८, ६४; सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : १३

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ३

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ४; सूत्रकृतांग : श्रु० १ अ० ९ : १८

६—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ५; अ० ६ : ८, ५४, ५५; सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० ९ : २१

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ९

८—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १३, १९; अ० १०, : २९-३०

९—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : ८, ९

होता[१]। वे किसी प्रकारका कारबार, वाणिज्य-व्यापार नही कर सकते थे[२]। वे भौतिक विद्याओसे आजीविका नही कर सकते थे[३]।

उन्हें भिक्षा-द्वारा आजीविका करनी होती; दत्तपान भोजन प्राप्त कर शरीर-निर्वाह करना होता[४]। गृहस्थोके घर स्वभाविक तौर पर पारिवारिक व्यवहारके लिए जो भोजन बनता, उसकी किसीको कष्ट दिये बिना गोवृत्ति व मधुकरी वृत्तिसे भिक्षा करनी पडती[५]। साधु अपने लिए कुछ नही बनवा सकते थे। उनके लिए भोजन नही बन सकता था। साधुको उद्देश्य कर बनाया हुआ या खरीदा हुआ आहार लेना मना था और अनाचार माना जाता था[६]। वे निमन्त्रण स्वीकार नही कर सकते थे, न गृहपात्रमे भोजन कर सकते या जल ही पी सकते थे[७]। निर्जीव और कल्प्य चीजे ही भिक्षामें ले सकते थे।

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ ६
२—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ३५ : १४, १५
३—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० १५ : ७; अ० १७ : १८, अ० ८ : १३
सूत्रकृताग : श्रु० १ अ० २ उ० २ : २८,
श्रु० १ अ० ९ . १६
४—उत्तराध्ययन सूत्र · अ० ६ · १६
उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ : १५
दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ . १
५—सूत्रकृताग श्रु० २ अ० १ · ५५, ५६,
उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ १६
दसवैकालिक सूत्र · अ० ५ उ० १ : २, अ० १ १-४
६—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३५ १०, ११, १२,
दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ · ४९, अ० ८ २३; अ० ३ २
७—दसवैकालिक सूत्र · अ० ६ ४९, अ० ३ २, अ० ३ ३,
सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० १ अ० ९ : २०,

सजीव चीजे वर्ज्य थी[1]। उन्हे भिक्षा उतनीही लेनी होती, जितनी सयम-निर्वाहार्थ शरीर धारण करनेके लिए जरुरी होती[2]। वे दूसरे दिनके लिए सचय नही कर सकते थे[3], दीन-वृत्तिसे भिक्षा नही माग सकते थे, भाटकी तरह प्रशंसा कर भिक्षा नही ले सकते थे। न मिलने पर वे विषाद नही कर सकते थे और न न-देनेवालो पर कोप ही कर सकते थे[4]। सामुदायिक दृष्टिसे—ऊच, नीच, मध्यम—सब कुलोसे निर्विशेष भावसे भिक्षा लानी होती। वे स्वादिष्ट भोजनवाले घरोमे दौड नही लगा सकते थे[5]। जो भिक्षा लाते, वह सबमें बांटकर खानी होती। जो नही बाटता, वह पापी श्रमण कहलाता[6]। वे जूठन नही छोड सकते थे[7]। भिक्षा करते समय अहिंसा

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ३ : ७-८
दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ . २७, अ० ८ . ६;
अ० ५ उ० २ : १४-२६, अ० ६ . ४८

२—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० ३५ १७ अ०, ८ : ११;
सूत्रकृताग : श्रु ० १ अ० ८ : २५; श्रु० १ अ० ७ : २९

३—दसवैकालिक सूत्र : अ० ६ : १८-१९; अ० ८ : २४

४—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ . २८-३१, अ० ८ : २३;
सूत्रकृताग श्रु० १ अ० ७ : २५, २६

५—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५, उ० १ १४; ५, उ० २ : २७,
अ० १ : ५; अ० ८ · २३;
सूत्रकृताग श्रु० १ अ० ७ · २३, २४,

६—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ · ९४
उत्तराध्ययन सूत्र . अ० १७ · ११

७—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० २ · १०

के नियमोपर उन्हे दृष्टि रखनी होती थी[१]। वे कभी भी शराब आदि मादक पदार्थ ग्रहण नही कर सकते थे। मद्य-मास वर्जित था[२]।

उन्हे चलनेमें बडी सावधानी रखनी होती, चलते समय चार हाथ प्रमाण भूमिको देखते हुए उपयोगपूर्वक चलना होता[३]।

वे निरवद्य, मधुर, सयत, परिमितसत्य भाषा ही बोल सकते[४]। अपनी हाजतोको पूरी करनेके लिए वे पाखानो-पेशावघरोका उपयोग नही कर सकते थे, और वस्तीसे दूर एकान्त स्थलमें उन्हे अपनी हाजते पूरी करनी होती। उन्हे श्लेष्म-खँखार आदि दूर करनेमें विशेष नियमोका ध्यान रखना पडता था[५]। अपनी चीजोको उन्हे झाड-पोछकर रखना होता[६]। पारिभाषिक शब्दोमें कहे, तो उन्हे ५ महाव्रत, ५ समिति और ३ गुप्तिका सम्यक् प्रकार पालन करना होता था[७]। उन्हे अपना जीवन निर्मल और निष्पाप रखना होता था।

१—दसवैकालिक सूत्र : अ० ५ उ० १ : ३-५, ८, १८, २०, २१, २४, २५, २९-३७, ३९-४२, ४७-५४, ५७-७८, अ० ५ उ० २ : ७, १०-१२, अ० ८ : २२, सूत्रकृताग . श्रु० १ . अ० ९ · १९

२—दसवैकालिक सूत्र · अ० ५ उ० २ . ३८-४०, सूत्रकृताग . श्रु० . २ अ० २ : ७२

३—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० २४ : ७, ८

४—दसवैकालिक सूत्र अ० ७ · ३, उत्तराध्ययन : अ० २४ : ९-१०

५—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : १५-१८

६—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४ : १३-१४

७—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २४

जो अपनेमें महाव्रतोंको ग्रहण करनेका सामर्थ्य नहीं पाते, वे आदर्शमें विश्वास रखते हुए स्थूल व्रतोंका पालन करते। उन्हें बारह व्रतोंका पालन करना होता। उनकी प्रतिज्ञाओंमें स्थूल हिंसा-त्याग, स्थूल झूठ-त्याग, स्थूल चोरी-त्याग, स्वदार-संतोष,—परदार-त्याग, स्थूल परिग्रह-त्याग, दिक्‌मर्यादा, उपभोग-परिभोग परिमाण, अपध्यानादि अनर्थदण्ड-त्याग, सामायिक— प्रार्थना, पौषधोपवास—ब्रह्मचर्य-पूर्वक उपवास और अतिथिसंविभाग—इन १२ व्रतोंका समावेश होता था[१]। व्रतोंकी अपेक्षासे श्रमणोपासकका जीवन धार्मिक माना जाता और अव्रतकी अपेक्षासे अधार्मिक। इसी कारण श्रमणोपासकके जीवन को मिश्रपक्षी—धर्माधर्मी, बालपण्डित कहा गया है। इन व्रतोंके स्थूल होनेसे व्रतकी मर्यादाके बाहर कितनी ही छूटें रह जाती थीं। ये छूटें जीवनका अधर्म पक्ष मानी जातीं—आदर्श-पालनकी आत्मशक्तिके अभावमें रखी हुई मानी जातीं। जो इन छूटोंका जितना कम करता, वह आदर्शके उतना ही नजदीक समझा जाता था[२]।

जो सम्पूर्ण व्रती थे, वे श्रमण, श्रमणी, और जो स्थूल व्रती थे, वे उपासक-उपासिका व श्रावक-श्राविका कहलाते। श्रमण-श्रमणी धर्म उपदेश देते, उपासक श्रवणकर स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर बढ़नेका प्रयास करते। श्रमण आदर्श-स्तम्भ थे। श्रावक आदर्शस्तम्भके प्रकाशमें चलते। श्रमण-श्रमणी उपासक-उपासिकाओंसे किसी प्रकारकी अनु-

---

१—औपपातिक सूत्र . सू० ३४;
उपासकदशा सूत्र : अ० १ : १२

२—सूत्रकृतांग श्रु० २ अ० २ : ६०, ७७, ७८
श्रु० २ अ० ४ : ३-१०

(५) शील : परस्परमें शील और सदाचारका ही नाता था। शील और सदाचारमें कमी आने पर साधु-साध्वी गणसे अलग कर दिये जाते थे[१]। शिष्योको भी अधिकार दिया गया था कि असदाचारी, दुःशील आचार्यको परित्यक्त कर सकें। संघकी नीव सदाचार, उपासना और गुण-पूजा पर अवस्थित थी। "भिक्षुक हो या गृहस्थ, जो सुव्रती होता है, वही दिव्यगति प्राप्त करता है[२]।" यह भगवानकी शाश्वत शिक्षा थी। "दुःशील साधु नरकसे नही बच सकता और गृहवासमें बसता हुआ भी सुव्रती शिक्षा-सम्पन्न हो तो देवलोक प्राप्त करता है[३]।" "गृहस्थ सयममें श्रेष्ठ हो सकता है, पर सुशील साधु गृहस्थ सयमीसे हमेशा उत्तम होता है[४]।" उपर्युक्त शिक्षामे भगवान्‌ने शीलकी महिमा बतलाई है और गृहस्थ-साधु सबको दुःशील छोड उत्तम से उत्तम सयमकी ओर आकृष्ट किया है। सयम और तपकी उपासना ही सघकी उत्तम साधना रही।

(६) मैत्री : परस्पर व्यवहारमें मृदुता और मैत्रीभावको बहुत ही उच्च स्थान दिया गया था। साधु, श्रावक, साध्वी, श्राविका—सबको मैत्री-भावनाका उपदेश रात-दिन मिलता था। "सबको आत्माके समान मानो।" "सब भूतोके प्रति मैत्रीभाव रक्खो।" परस्पर मनोमालिन्यको इन्ही भावोकी उपासना द्वारा दूर रखा जाता है। आगममें ऐसे अनेक प्रसग मिलते है, जबकि मैत्रीभावनाके प्रसार

१—उत्तराध्ययन सूत्र : अ० २७ : १०, १६

२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ५ २२

३—उत्तराध्ययन सूत्र . अ० ५ २२, २४

४—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ५ · २०

द्वारा उत्तमार्थ साधा गया। अतिमुक्तक नामक एक बालवयस्क कुमार साधु थे। एक बार उन्होंने वर्षाके जलको पालसे बांध, उसमें अपने पात्रको तिरा दिया। स्थविर साधुओंने पूछा—"भदन्त! आपका कुमार श्रमण अतिमुक्तक कितने भव करनेके बाद सिद्ध होगा?" भगवान् बोले—"वह इस भवको पूरा करके ही सिद्ध होगा। तुम लोग उसकी अवहेलना, निन्दा, तिरस्कार और अपमान मत करो, पर अम्लानभावसे उसकी सहायता करो, सम्भाल करो और सेवा करो[1]।" इस तरह मृदुभाव—मैत्रीभावको जगा भगवान् संघमें बड़ा प्रेम और सौहार्द रखाते। ऐसी ही एक दूसरी घटना मिलती है। एक बार शंख नामक एक श्रमणोपासकने अपने मित्रोंके साथ सहल करनेका तय किया। निश्चयानुसार मित्रोंने भोजन बना डाला। पर बादमें शंखने यह सोच कि इस तरह खान-पान, मौज शौक करना श्रेयस्कर नहीं ब्रह्मचर्य रख, उपवास करते हुए पोषध ठान दिया। दूसरे दिन सुबह श्रमणोपासकोंने उसे उलाहना दिया। भगवान् बोले—"आर्यो! तुमलोग शंखकी हीला, निन्दा, अपमान मत करो; कारण वह धर्ममें प्रीतिवाला और दृढ है। उसने प्रमाद और निद्राको त्याग धर्म जागरिका की है।" इसके बाद भगवान्‌ने बतलाया कि क्रोध करनेवालेकी कैसी दुर्गति होती है। श्रमणोपासकोंने शंखसे क्षमा मांगी[2]। हृदय-शुद्धि करानेका एक तीसरा प्रसंग इस प्रकार है—श्रेणिकके पुत्र मेघकुमारने दीक्षा ली। रातमें उसकी शय्या अन्तमें होनेसे श्रमणोंके आने-जाने और उनके पैरोंकी धूल उसके शरीर पर

१—भगवती सूत्र : श० ५ उ० ४ : ११

२—भगवती सूत्र : श० १२ उ० १

गिरनेके कारण उसे नीद न आई। खेद-खिन्न हो प्रातः होते ही उसने घर चले जानेकी ठान ली। सुबह भगवान्ने मेघकुमारको प्रतिबोधित करते हुए कहा—"हे मेघ! पिछले भवमे तू हाथी था। वनमे दावानल सुलग गया, जगलके पशु एक जगह एकत्रित हो गये। तू भी उनमें था। तेरे शरीरमे खुजलाहट होने लगी। तूने शरीर खुजलानेके लिए एक पैर उचा उठाया। भीडके दबावसे एक खरगोश उस पैरके स्थानमे आ घुसा। पैर रखनेका स्थान न रहा। कही खरगोश न मारा जाय इस भयसे तूने अपना पैर अधर रखा। इस तरह २॥ दिन तक तू तीन पैर पर ही खडा रहा। दावानल बुझा। खरगोश हटा। तूने पैर फैला जमीन पर रखनेकी चेष्टा की। तीन पैरके बल खडा रहनेसे तेरा शरीर अकड गया और वही जमीन पर तेरी मृत्यु हुई। हे मेघ! तूने पशु योनियोमें इतनी सहनशीलता—इतना समभाव दिखलाया, अब तो तुझमे अधिक बल, वीर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम और विवेक है। भोग-विलास छोड तूने मेरे पास दीक्षा ली है। श्रमणोके आवागमनसे पडती धूलके कारण तू इतना व्याकुल हो गया?" मेघकुमारका मन शान्त हुआ। उसकी आखोमें हर्षाश्रु छा गये। वह बोला—"भदन्त! आजसे मेरा यह शरीर श्रमणोकी सेवामें समर्पित है।" भगवान्ने उसे फिरसे प्रव्रज्या दी और वह किस तरह सयममें सावधान रहे यह बतलाया[1]। भगवान् प्रेमभाव और परस्पर सद्भावना को किस तरह स्थापित करते, यह उसका ज्वलत उदाहरण है। मनमें जहा थोडासा भी खटास देखते उसे दूर करते और मैत्रीभावकी ऊर्मिया भर देते। एक अन्य घटना तो और भी हृदय-स्पर्शी है। एक बारका

१—ज्ञाताधर्मकथा अ० १

प्रसंग है कि महाशतक नामक एक प्रतिमाधारी उपासक संलेषणा व्रत धारण कर पौषधशालामे धर्मध्यान कर रहा था। उसकी पत्नी रेवती इतनी क्रूर थी कि उसने अपने बारह सौतोको मौतके घाट उतार दिया था। वह गौ मांस और मदिरा तकका खान-पान करती। एक दिन मदोन्मत्त हो, वह पौषधशालामें महाशतकके पास आई। वस्त्र गिरा दिए और विषयांध हो कहने लगी, "यदि तुमने मेरे साथ भोग नही भोगा तो स्वर्ग-मोक्षके सुख लेकर क्या होगा?" महाशतकको क्रोध चढ आया। वह बोला—"अप्रार्थकी प्रार्थना करनेवाली! काली चतुर्दशीकी जन्मी! लज्जाहीन! तू सात दिनके अन्दर रोगाक्रान्त हो मृत्यु प्राप्त कर नरकमें उत्पन्न होगी।" रेवती भयभीत हो गई। "न मालूम मुझे कैसी मौत मरना होगा।" भगवान्ने गौतमसे कहा—"जाओ गौतम! गाथापतिसे कहो 'श्रमणोपासकको खास कर अपश्चिम मरणान्तिक संलेषणा करनेवालेको सत्य होने पर भी अनिष्टकारी, अप्रिय, और अमनोज्ञ वचन कहना नही कल्पता। उसने रेवतीको संताप-कारी वचन कहे हैं उसकी वह आलोचना करे[1]।" गौ मास खानेवाली, मदिरा पीनेवाली स्त्रीके प्रति भी उदार भावनाका स्रोत वहा भगवान् ने आलोचना करवाई। परस्पर व्यवहारमे जिसकी त्रुटि होती उसीको क्षमा-याचनार्थ कहते। साधु और श्रावक इनमे कोई भेद नही रखते थे। अपराधी साधु भी गृहस्थ उपासकसे क्षमा मागनेका पात्र होता। एक बार प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम तकको भगवान्ने आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना करनेके लिए भेजा[2] था।

१—उवासगदसाओ : अ० ८

२—उपासकदसाओ : अ० १

(७) **समभाव**—आध्यात्मिक क्षेत्रमे सबकी समानताके सिद्धान्तको सघ-सञ्चालनमे बडा उच्च स्थान दिया गया था। धनी निर्धनका अन्तर नही था। आर्य अनार्यका अन्तर नही माना जाता था। वर्णभेद, जाति भेद, गोत्र भेद, रूप भेद, शरीर भेदको स्थान नही था। सब प्रव्रजित हो सकते थे[१]। कुल मद, वर्ण मदको जघन्य और त्याज्य माना गया था। 'जातिकी कोई विशेषता नही होती, सयम और तपकी ही विशेषता होती है'—इस सिद्धान्तका व्यापक प्रचार था। 'जाति आदिका मद करनेवाले पुरुषकी जाति या कुल उसकी रक्षा नही कर सकते। अच्छी तरह सेवन किए हुए ज्ञान और चारित्रके सिवाय कोई भी पदार्थ जीवकी रक्षा करनेमे समर्थ नही।' 'जो गौरवी और श्लोककामी होता है वह निष्किञ्चन और रूक्षभोजी होने पर भी अज्ञानी है। वह पुन-पुन ससार भ्रमण करेगा।' 'धीर पुरुष मद स्थानोको अलग करे। जो धर्मी इनका सेवन नही करते वे सब गोत्रोसे छुटे हुए महर्षि उच्च अगोत्र गति मोक्षको पाते है।' 'मुनि गोत्र या दूसरी बातोका मद न करें।' 'परनिन्दा पापकारिणी होती है यह जाने। 'यदि एक अनायक—स्वय प्रभु—चक्रवर्ती आदि हो और दूसरा दासका दास हो तो भी सयम मार्गमें आनेके बाद परस्पर व्यवहारमें लज्जा नही करनी चाहिए। सदा समभावसे व्यवहार करना चाहिए[२]।

१—सूत्रकृताग सूत्र : श्रु० २ अ० १ . ३५
उत्तराध्ययन सूत्र . अ० १२ : १

२—सूत्रकृताग श्रु० १ अ० १३ : १०, १५,
उत्तराध्ययन सूत्र १२ : ३७

स्त्री पुरुष दोनोको धर्म पालनका समान हक था। बुद्धके संघमे ी श्रमणियां थीं पर बुद्धने अपने शिष्य आनन्दके बहुत हट करनेके ाद ही स्त्रियोके लिए प्रव्रज्याका मार्ग खोला था। वे बराबर कहते हे—"मत रुचै कि स्त्रिया भी तथागतके दिखाए धर्म—विनयमें रसे वेघर हो प्रव्रज्या पावें।" स्त्रियोके लिए आठ गुरु धर्म—सकीर्ण ातें थी। जो स्त्रियां इन्हें स्वीकार करती वे ही प्रव्रज्या पा सकती। न्त तक उनकी यह धारणा बनी रही कि स्त्रियोको प्रव्रजित करनेसे ंघकी आयुमे क्षीणता आ गई। "यदि तथागत प्रवेदित धर्म—विनयमे स्त्रियां प्रव्रज्या न पाती तो यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी होता, सद्धर्म सहस्र र्ष तक ठहरता पर अब वह पांच सौ वर्ष ही ठहरेगा[1]।" भगवान् वर्द्धमानने अपने संघमें श्रमण-श्रमणियोका समान अधिकार रखा और स्त्रियोकी पवित्र रहनेकी शक्तिमें कभी शंकाको स्थान नहीं दिया। ाधु-साध्विया दोनोके लिए सूक्ष्म ब्रह्मचर्यके नियम दिए। संघमें श्रमणियोकी बहुत बड़ी सख्या होने पर भी भ्रष्टाचार जरा भी नही फल पाया। अत्यन्त कुशलता और दृढ अनुशासनशीलतासे ही यह सम्भव था।

(८) **प्रमोदः**—मैत्री भावनाके प्रचार द्वारा जिस तरह सहृदयता को कायम रखा जाता था उसी तरह प्रमोद भावनाके विकास द्वारा सघमे नवीन जीवन शक्तिको सदा सचारित रखा जाता था। जिस साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकामें गुण देखते, भगवान् उसकी प्रशसा सबके सामने कर गुणमें आनन्द भावना—प्रमोद भावनाको जागृत करते। ऐसे प्रसंग मिलते हैं जब कि गृहस्थ उपासकको आदर्श बतला

१—विनय पिटक (भिक्षुणी-स्कधक) पृ० ५१९-५२१,

अन्तर नही समझते थे। पूर्वोक्त श्रमणोमें अनेक बहुश्रुत और श्रुतज्ञानी थे[१]। एकबार गणधर गौतम स्वय पार्श्वपात्य केशीकुमारके पास गये थे और ज्येष्ठ तीर्थङ्करके साधुओके पास उनका जाना ही उन्हे ठीक प्रतीत हुआ था[२]। यह भी बहुमानका ही परिचायक था। इससे मालूम होता है कि भगवान्, पार्श्वनाथको अपना ज्येष्ठ तीर्थङ्कर मानते थे।

केशी और गौतमके परस्पर सम्मेलनके बाद तो दोनो सघोके शामिल होनेका मार्ग ही खुल गया। इस सम्मेलनका विस्तृत वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ मे मिलता है, जिसका सार इस प्रकार है —

"लोकमें प्रदीप समान जिन तीर्थङ्कर पार्श्वनाथके विद्या और आचरणमे पारङ्गत केशीकुमार नामक एक महायशस्वी श्रमण थे। वे एक बार ग्रामानुग्राम विहार करते शिष्य सघके साथ श्रावस्ती नगरीमें आ पहुँचे और उस नगरके तिंदुक नामक उद्यानमे प्रासुक शय्या-सस्तारक ग्रहण कर ठहरे। उसी अर्सेमें लोकविश्रुत धर्मतीर्थङ्कर वर्द्धमानके महायशस्वी और विद्या तथा आचारमे पारङ्गत शिष्य गौतम भी शिष्य समुदायके साथ उसी नगरमे आ पहुचे और कोष्ठक उद्यानमें ठहरे (१-८)।

"उस समय उन दोनोके शिष्य सघमें यह चिन्ता हुई 'वर्द्धमान द्वारा उपदिष्ट पाच शिक्षावाला यह धर्म कैसा और महामुनि पार्श्व द्वारा उपदिष्ट यह चार यामवाला धर्म कैसा ? और अचेलक—वस्त्र

१—भगवती सू० श० २ उ० ५ १३

उत्तराध्ययन अ० २३ ३

२—उत्तराध्ययन सू० अ० २३ १५

रहित रहनेकी वर्द्धमानकी आचार विधि कैसी और आतर तथा उत्तरीय वस्त्र पहननेकी पार्श्वकी आचार विधि कैसी ? एक ही कार्यके लिए उद्यत इन दोनोमें इस अन्तरका क्या कारण ?' (८-१३)।

"अपने-अपने शिष्योके विस्मयको जानकर केशी और गौतम दोनो ने परस्पर मिलनेका विचार किया (१४)।

"पार्श्वनाथके ज्येष्ठ कुलको देखकर विनयमार्गके जानकार गौतम, शिष्य सघसे परावृत हो, तिदुक उद्यानमे आये। गौतम स्वामीको आते देख केशीकुमार श्रमणने उनका उचित सत्कार और सम्मान किया और उनके बैठनेके लिए शीघ्र ही पलाल और कुशादि बिछा दिये। इस अवसर पर अनेक अन्यतीर्थी और गृहस्थ कौतूहलवश एकत्र हो गये। (१५-१९)

"केशीकुमार वोले : 'हे महाभाग ! मै कुछ पूछना चाहता हू'। गौतम वोले . 'भदत आपकी जैसी इच्छा'। इस तरह अनुमति माग केशीने पाच याम चार यामके अन्तरका कारण पूछा और वोले : 'क्या इस तरह दो प्रकारके धर्मसे आपको भ्रम नही होता ?' (२१-२४)

"गौतम वोले : 'प्रज्ञा द्वारा ही धर्मतत्वका ज्ञान किया जा सकता है। आरम्भके श्रमण ऋजुजड़ अर्थात् सरल पर जड थे।[1] उनके लिए धर्म समझना मुश्किल पर पालन करना सरल था। बादके श्रमण वक्रजड थे। उनके लिए धर्म समझना सरल था, पर पालन करना कठिन। मध्यवाले श्रमण ऋजु प्रज्ञावाले थे। उनके लिए धर्मका समझना और पालन करना दोनो सरल थे। इसलिए पहले दो को पाच महाव्रत स्पष्ट रूपसे वतलाने पड़े और ऋजुप्रज्ञावालोको ब्रह्मचर्य अलग न वतलाते हुए चार याम कहे। दो प्रकारके धर्मका कारण यही है'। (२५-२७)

"केशी बोले : 'मेरा दूसरा संशय यह है कि वर्द्धमानका धर्म अचेलक कैसे और महामुनि पार्श्वका आंतर तथा उत्तरीय वस्त्रवाला कैसे ?' (२९-३०)

"गौतम बोले. 'अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा समझकर दोनो तीर्थङ्करो ने धर्म साधनके लिए जुदे-जुदे विधान दिए है। निश्चय नयसे तो ज्ञान, दर्शन, चरित्र ही मोक्षके साधन हैं। बाह्यवेश तो परिचयके लिए है तथा साधुको अपने लिंगकी सतत् याद दिलानेके लिए है, ताकि वह अपने धर्ममे दृढ रहे।' (३१-३३)

"यह सुनकर केशी बोले : 'हे गौतम ! आपकी प्रज्ञा सुन्दर है। मेरे सशय छिन्न हुए'।" (२८, ३४)

इसके बाद श्रमण महावीरके आध्यात्मिक विचारोको पार्श्वके आध्यात्मिक विचारोके साथ मिलाकर देखनेकी दृष्टिसे केशीकुमारने कितने ही गूढ प्रश्न किये। गौतमने उनका जो जवाब दिया उससे दोनो सघोकी आध्यात्मिक विचारसरणिमे केशी श्रमणको कोई अन्तर नहीं दिखलाई दिया और उनके सारे सशय छिन्न हुए। (३५-८५)

इस तरह सशय छिन्न होने पर घोर पराक्रमी केशीने महायशस्वी गौतमको मस्तकसे नमस्कार कर चरम तीर्थङ्करके सुखावह पाच महाव्रतवाले धर्मको स्वीकार किया (८६, ८७)

उपर्युक्त प्रसगसे स्पष्ट है कि केशीका सघ महावीरके सघके अन्तर्भुक्त हो गया। उल्लेख है कि केशी और गौतमके सघको परस्पर सघटित देखकर परिषद् तोषित हुई[1]। केशीके इस विशाल सघके

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २३ : ८९

अतिरिक्त और भी अनेक पार्श्वपात्य साधु थे, यह हम पहले लिख आये हैं। वे भी जैसे-जैसे सम्पर्क हुआ महावीरके श्रमण संघके साथ मिलते गये। गागेय अणगार और भगवान्‌के बीच वाणिज्यग्राममें अनेक प्रश्नोत्तर हुए। भगवान्‌के उत्तरोंसे उन्हें सर्वज्ञ जान गागेय उनके श्रमण बने[1]। निर्ग्रन्थ उदक पेढालपुत्रको गौतमने समझा, सघमें मिलाया[2]। कालस्यवेपिपुत्रको भगवान्‌के स्थविरोंने सघमे मिलाया[3]। जो सघमे मिलते वे चार महाव्रतोंकी जगह पांच महाव्रत और प्रतिदिन प्रतिक्रमण करनेके नियम ग्रहण करते[4]।

इस प्रकार दोनो सघोंके मिल जानेसे महावीरका सघ और भी वलवान् और सुदृढ हो गया। इस परस्पर एकीकरणसे महावीरके सघमें प्राचीन पूर्वोंका ज्ञान रखनेवाले श्रमण भी कुछ आये होंगे। इस तरह ज्ञान वल और अनुभव वलकी दृष्टिसे भी संघको बड़ी शक्ति मिली होगी। प्राचीनताके मोहवश नवीनताकी उपेक्षाका जो भाव प्राय. रहता है, वह दूर हो गया और इससे प्रचार क्षेत्र और भी उन्मुक्त हो गया। साधु और गृहस्थ उपासकोंकी सख्यामें वृद्धि होना तो स्वाभाविक था। परस्पर एकीकरणमें अनेकान्त दृष्टिका जो प्रयोग हुआ उससे एक वहुत वडा आदर्श भी भविष्यके लिए वन गया।

१—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४

२—सूयगडाग सूत्र : श्रु २ अ० ७ : ३९-४०

३—भगवती सूत्र · श० १ उ० ९ १५;

४—भगवती सूत्र : श० ९ उ० ३२ : १, ३४
सूयगडाग श्रु० २ अ० ७ : ३९-४०
भगवती सूत्र श० १ उ० ९ : १५

संघका विस्तार

ऐसी सुन्दर और दृढ व्यवस्थाके कारण सघकी दिनोदिन वृद्धि होने लगी। समय पा भगवान् वर्द्धमानके श्रमण श्रमणियोकी सख्या अर्द्ध लाख हो गई जिसमे श्रमणोकी सख्या १४००० और श्रमणियोकी ३६००० रही। भगवान्‌के गृहस्थ श्रावकोकी सख्या १,५९,००० और उपासिकाओकी सख्या ३, १८००० हो गई[१]। इतने बडे सघका सचालन कोई साधारण बात न थी। भगवान् अनुपम शास्ता और नियामक थे इसी कारण इतने बडे सघका इतनी सुव्यवस्थाके साथ सचालन करनेमें समर्थ हुए। भगवान्‌को, महागोप, महासार्थवाह, महाधर्मकथी, महानियामक आदि कहा गया है—इसका कारण यही है कि सघ सचालन और सगठनकी उनमें अद्वितीय क्षमता थी। जैन धर्म आज भी जीवित है उसका श्रेय चतुर्विध सघकी व्यवस्थाको ही है। दृढ व्यवस्थाके कारण ही जैनधर्म अनेक झझावातोको पारकर जीवित रह सका।

प्रथम संघ-विच्छेदक जमालि

सघ विच्छेद कर महावीरसे अलग होनेवालोमें जमालि प्रसिद्ध है। भगवान्‌के निन्हवोमें उसका नाम सर्वप्रथम आता है[२]। जमालिके

१—'चउद्दसहिं समणसाहस्सीहिं छत्तीसाए अज्जियासाहस्सीह सद्धिं'—
औपपातिक सूत्र
कल्पसूत्र १३४-३७,
आवश्यक निर्युक्ति गा० २५९; २६३

२—स्थानाग सूत्र : स्था० ७;
औपपातिक सूत्र .
विशेषावश्यक गा० २३०६–७,

विषयमे भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ में जो विस्तृत वर्णन मिलता है, उसका साराश इस प्रकार है.—

जमालि क्षत्रियकुडग्रामका क्षत्रिय कुमार था। वह महावीरकी बडी बहिन सुदर्शनाका पुत्र और महावीरका भागिनेय था। महावीरकी पुत्रीका विवाह भी उसीके साथ हुआ था[1]। उसने ५०० पुरुषोके साथ दीक्षा ली थी। एक वार उसने ५०० शिष्योके साथ वाहरके देशोमे विहार करनेकी अनुमति मागी। भगवान्ने उसकी वातको आदर नही दिया, न स्वीकार किया और मौन ही रहे। वार-वार अनुरोध करने पर भी जव भगवान् मौन ही रहे तव जमालि अपने आप पाच सौ साधुओके साथ वाहरके देशोकी ओर चल पडा।

एक वार जमालि साधुओके साथ श्रावस्तीके कोष्ठक चैत्यमे आकर ठहरा। वहा उसके शरीरमे वडी व्याधि उत्पन्न हुई। पित्त ज्वरके कारण शरीरमें दाह उत्पन्न हो गया। उसने साधुओको विस्तर विछानेके लिए कहा। जमालि वेदनासे व्याकुल था। वह धैर्य खो वैठा और तुरन्त हा साधुओको पूछने लगा—'क्या विस्तर विछा दिया ?' शिष्योने कहा 'विछा दिया'। जमालि लेटने गया तो देखता है कि विस्तर विछाया जा रहा है। विस्तर पूरा विछे विना जमालि सो न सका। जमालि सोचने लगा 'भगवान् महावीर तो क्रियमाण कृत वतलाते हैं। पर यह तो स्पष्ट है कि विस्तर विछाया जा रहा है, उसको विछाया गया नही कहा जा सकता।' जमालिने अन्य श्रमण निर्ग्रन्थोको वुला महावीरके सिद्धान्तकी भूल वतलायी। कइयोने यह बात मानी। कइयोने नही। इस तरह कई जमालिको छोड महावीर

१—विशेषावश्यक · गा० २३०७

के पास चले आये। निरोग होने पर जमालि चम्पा नगरी गया। भगवान् महावीर भी उस समय वही विचर रहे थे। भगवान्‌के पास जा जमालि कहने लगा—'आपके अनेक शिष्य अभी तक छद्मस्थ ही है परन्तु मै तो उत्पन्न ज्ञान और दर्शनको धारण करनेवाला अर्हत्, जिन और केवली हूँ।' इस पर गौतमने प्रश्न कर उसे निरुत्तर किया। भगवान् बोले—'हे जमालि ! तू तो गौतमके प्रश्नोका उत्तर ही न दे सका। मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य मेरी तरह ही गौतमके प्रश्नोका उत्तर देनेमें समर्थ हैं फिर भी वे तेरी तरह ऐसा नही कहते कि हम सर्वज्ञ और जिन है।'

इसके बाद जमालि फिर दूसरी बार हमेशाके लिए निकल पड़ा। अन्तिम बार अलग होते समय जमालिके साथ कितने साधु रहे—इसका उल्लेख नही मिलता पर यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि उस समय उसके साथ सैकड़ो ही साधु रहे होगे। उसका वाद 'बहुरत' नामसे प्रसिद्ध हुआ[1]। इससे अनुमान होता है कि महावीरके सिद्धान्तके खण्डनके साथ-साथ उसने एक मतवाद भी दिया।

महावीरके '**क्रियमाण कृत**' सिद्धान्तका अर्थ था जो कार्य शुरू कर दिया वह हो गया। जिस तरह किसीने कपड़ा बुनना शुरू किया तो वह बन गया। उनका कहना था कि अन्तिम क्रिया पहली क्रियाके बिना नही हो सकती। पहली क्रियामे कपड़ा बना तभी अन्तिम क्रियामें कपडा बना। पहले समयमें यदि कपड़ा नही बना तो अन्तिम समयमें भी नही बन सकता। काम शुरू होते ही पूरा होता है। एक मनुष्य चोरी करनेके लिए निकलता है। दूसरेके घरमें घुस जाता है

१—विशेषावश्यक सूत्र : गा० २३०६

पर जागरण हो जानेके कारण चोरी नही कर पाता। भगवान् महावीरके सिद्धान्तोके अनुसार जिसने चोरीकी भावना कर ली उसने चोरी भी कर ली। जो चोरीके लिए निकल पडा वह चोर हो चुका फिर भले ही वह जागरण हो जानेसे चोरी न कर पाया हो। जमालिका मत था बहुरतवाद, जिसका अर्थ होता है बहु—प्राय पूरा होने पर पूरा होनेकी रत—सज्ञा हो जिसकी। उसका मत था कि कार्य सम्पूर्ण होने पर ही सम्पूर्ण कहा जा सकता है। अन्तिम क्रिया सिद्ध होने पर ही पहली सार्थक या सफल होती है। चोरी कर चुकने पर ही किसी को चोर कहा जा सकता है।

भगवती सूत्रके उपर्युक्त स्थलमें ही उल्लेख है कि महावीरसे अलग होनेके वाद जमालि असत्यभाव प्रकट करता, मिथ्यात्वके अभि-निवेश द्वारा अपनेको तथा दूसरोको भ्रान्त करता एव मिथ्या ज्ञानवाला होकर अनेक वर्षो तक साधु वेशमे रहा।

इससे स्पष्ट है कि जमालि अनेक वर्षो तक महावीरका प्रतिस्पर्धी रहा तथा अपनेको 'सर्वज्ञ' और 'जिन' कहता रहा। उसने महा-वीर और उनके निर्ग्रन्थ सम्प्रदायके विषयमें अनेक भ्रान्तिया फैलायी।

इतिहासज्ञोका कहना है कि जमालिकी दीक्षा केवलज्ञान प्राप्ति के वादके प्रथम चातुर्मासके शेष होनेके वाद हुई थी। अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्तिके प्राय. एक वर्ष वाद हुई थी। ५०० शिष्योको ले प्रथम वार अलग विहार करनेकी घटना भगवान् महावीरके केवलज्ञानी होनेके वारहवें वर्षमं, श्रावस्तीमें 'वहुरत' वादकी प्ररूपणा १४ वे वर्षमें और चम्पानगरीमे हमेशाके लिये अलग हो जानेकी घटना केवलज्ञानके

१५ वे वर्षमें घटी होगी[1]। जमालिका देहान्त तो महावीरके जीवन कालमे ही हो गया था ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है[2]।

जमालिके साथ उसकी पत्नी (महावीरकी पुत्री) प्रियदर्शना भी १००० साध्वियोको ले महावीरसे अलग विहार करने लगी थी परन्तु ढक नामक महावीरके एक कुम्हार उपासकने उसे पुन प्रतिबोधित किया और वह जमालिका अनुसरण करना छोड समस्त साध्वियोके परिवारके साथ भगवान्के पास आ प्रायश्चित्त ले शुद्ध हुई[3]। ऐसा उल्लेख है कि इस घटनाके बाद जमालिके साथ रहे हुए भगवान्के अन्य साधु भी उसका साथ छोड भगवान्के साथ मिल गये[4]। यह घटना जमालि चम्पापुरीमे अन्तिम बार छूटा उसके पहले घटी या बादमें इसका ठीक-ठीक अन्दाज लगाना अभी तो कठिन ही हो रहा है।

प्रतिस्पर्धी गोशालक

गोशालक आजीविक सम्प्रदायका नेता था। भिक्षा और आहारके विषयमें अन्य नियमोकी अपेक्षा कडे नियम पालन करनेके कारण ही उसके अनुयायियोका नाम आजीविक पडा मालूम देता है। लोग उपहास्यमें कहते होंगे—ये तो केवल आहार विषयक कडे नियमोका पालन करते है। इसलिए महज आजीविक है। गोशालकको गर्व होगा कि सच्चे ढगसे कोई आजीविका—भिक्षा करते है तो उसके साधु ही। वे ही सम्यक् आजीविक है। अत उपहास्यमे दिये गये इस

१—महावीर कथा पृ० २६८-२६९, २७३ फुट नोट ३,
विशेषावश्यक गा० २३०६, महावीर कथा पृ० २७८ फुट नोट
२—भगवती सूत्र श० ९ उ० ३३ · ९१
३—विशेषावश्यक . गा० २३०७
४—उपरोक्त

आजीविक नामकरणको अपने सम्प्रदायकी विशेपताको ठीक-ठीक व्यक्त करनेवाला समझ गोशालकने उसे अपना लिया होगा और खुद भी अपनेको व अपने अनुयायियोको आजीविक कहने लगा होगा।

बौद्ध ग्रन्थ[1] और जैन आगम[2] दोनोमें ही आजीविकोके भिक्षा नियमोका उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि आजीविक साधुओके भिक्षा-नियम निर्ग्रन्थ साधुओके नियमोसे मिलते-जुलते और उतने ही कठोर थे। कई नियम तो विशेप उग्र और कठिन थे। इसमे आजीविक नाम पडने या रखनेका अनुमान ठीक ही मालूम देता है।

आजीविक साधु नग्न रहते थे[3]। बौद्ध उल्लेखके अनुसार गोशालक तपको पसन्द नही करता था[4]। जैन साहित्यके अनुसार आजीविक तपस्वी होते थे[5]। आजीविक श्रावक त्रसप्राणियोकी हिंसासे विर्वाजत व्यापार द्वारा आजीविका करते थे[6]।

गोशालक उत्थान, कर्म, वल, वीर्य और पुरुपकार—पराक्रम नही मानता था और सर्व भाव नियत मानता था[7]। उसका कहना था—"इस लोकमें दो प्रकारके पुरुप होते है। एक क्रियाका आख्यान

१—मज्झिम निकाय (महासच्चक सुत्तं) पृ १४४ तथा टि० १

२—उववाई (जीवन ग्रन्थमाला) सूत्र ४१ पृ० ८७
ठाणाग सूत्र (४-२-३१०)

३—मज्झिम निकाय (महासच्चक सुत्तत) पृ० १४४

४—सयुक्त निकाय—२०३-१०;

५—ठाणाग सूत्र ४-२-३१०

६—भगवती सूत्र श० ८ उ० ५ : ५

७—उपासक दसा सूत्र अ० ६ और अ० ७ : १७-२०

करते है और दूसरे आख्यान करते है कि क्रिया नही। ये दोनो ही पुरुप तुल्य है। दोनो एक अर्थवाले और वस्तुओके समान कारण वतलानेवाले है। वे दोनो वाल—मूर्ख है। वे कहते है—'मै जो दु ख भोग रहा हू, शोक पा रहा हू, अश्रुपात कर रहा हू, पीटा जाता हू, परिताप पा रहा हू, पीड़ा पा रहा हू वह सब मेरे कर्मका फल है। दूसरे भी जो दु खादि पाते है वे सब उनके कर्मका फल है।' वे दु.ख सुखको कृत समझते है। पर बुद्धिमान पुरुष तो यह समझता है कि मेरे ये दु खादि मेरे कर्मके फल नही है न दूसरेके दु खादि उसके कर्मके फल है। उन सवका कारण नियति है। छओ दिशाओमे जो त्रस स्थावर प्राणी है वे नियतिके प्रभावसे ही शरीर सम्बन्ध प्राप्त करते है, नियतिके कारण ही शरीरसे पृथक् होते है और नियतिके कारण ही कुवड़े, काने आदि नाना अवस्थाको प्राप्त करते है।" "दु ख स्वय कृत नही है। दूसरेका किया हुआ कहासे हो सकता है? सिद्धिसे उत्पन्न वा सिद्धिके विना उत्पन्न सुख दु ख प्राणी अलग अलग भोगते है। सुख दु ख स्वय या दूसरे द्वारा किया हुआ नही है वह नियति-कृत है[1]।"

बौद्ध आगमोमें गोशालकका सिद्धान्त निम्न रूपमे बतलाया गया है। "सत्वोके क्लेशका हेतु नही है, प्रत्यय नही। विना हेतुके बिना प्रत्ययके ही सत्व क्लेश पाते है। सत्वोकी शुद्धिका कोई हेतु नही, प्रत्यय नही। विना हेतुके विना प्रत्ययके सत्व शुद्ध होते है। स्वय कुछ नही कर सकते है, दूसरे भी कुछ नही कर सकते है, (कोई) पुरुष भी कुछ नही कर सकता है, वल नही है, वीर्य नही है, पुरुपका कोई पराक्रम नही है। सभी सत्व, सभी प्राणी, सभी भूत और सभी

१—सूत्र कृताग श्रु० २ अ० १ ३०-३२, श्रु० १ अ० १२ १.२ पृ० २०

जीव निर्बल, निर्वीय, नियति—भाग्य और सयोगके फेरसे छ. जातियोमे उत्पन्न हो, सुख और दु ख भोगते हैं।............यह नही है—'इस शील या व्रत या तप, ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूगा। परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूगा। सुख दु.ख द्रोण (=नाप) से तुले हुए है, संसारमें घटना-बढ़ना उत्कर्ष अपकर्ष नही होता। जैसेकि सूतकी गोली फेकने पर उछलती हुई गिरती है, वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर=आवागमनमें पडकर, दु.खका अन्त करेगे[1]।"

गोशालक बद्ध, न-बद्ध न-मुक्त और मुक्त—ऐसी तीन अवस्थाए मानता था। वह अपनेको मुक्त—कर्म-लेपसे परे मानता था। वह कहता था कि मुक्त पुरुष स्त्रीसे सहवास करे तो भी उसे भय नही[2]।

इससे प्रतीत होता है कि आजीविक सम्प्रदायमें ब्रह्मचर्यके नियम शिथिल रहे होगे और स्त्री-सम्पर्कको उतना त्याज्य नही समझा जाता होगा जितना कि महावीर और बुद्धके सघमें।

गोशालकने महावीरसे दो वर्ष पहले धर्म प्रचार शरू किया था और १६ वर्ष तक आजीविक आचार विचारका प्रचार करता रहा। धर्माचार्यके रूपमें वह इतना प्रसिद्ध हो गया था कि लोग उसे तीर्थङ्कर कहने लगे थे। शङ्का निवारणके लिए मगधराज अजातशत्रु कुणिकका जिन विख्यात आचार्योके यहा जानेका उल्लेख है, उनमें महावीर और बुद्धके साथ गोशालकका भी नामोल्लेख है। बौद्ध साहित्यमें गोशालकको सघी गणी गणाचार्य, सुविख्यात, यशस्वी, साधुसमत,

---

१—मज्झिमनिकाय सन्दक सुत्तत पृ० ३०१;
दीघनिकाय (सामञ्ञफल सुत्त) पृ० २०

२—महावीर कथा : पृ० १७७

चिरदीक्षित, और तीर्थङ्करके विशेषण मिले हैं। उसके लिये "बहुत लोगोका श्रद्धास्पद"[1] यह विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। इनसबसे अनुमान होता है कि उसके अनुयायियोकी सख्या काफी बृहद् रही होगी।

भगवान् महावीरके श्रावक कुडकौलिकने नियतिवादका खडन किया था, जिससे भगवान्ने परिषद्में उसकी प्रशसा की थी। खुद महावीरने भी गोशालकके नियतिवादका खडन किया था। आजीविक उपासक सद्दालपुत्रको उन्होने अपना उपासक बनाया था[2]।

भगवान् महावीरके साथ गोशालकका एक समय अगत सम्बन्ध था। उनके साधक जीवनमें गोशालकके प्रसगसे अनेक घटनाए घटी थी[3] और तीर्थङ्कर जीवनमें तो एक बडी ही कष्टकारी घटना घटी। इस घटनाका उल्लेख भगवती सूत्रमें मिलता है[4]। इस का वर्णन सक्षेपमें हम कहा करते है —

एक बार महावीर श्रावस्ती नगरीमें पधारे। वहा कोष्ठक चैत्यमें ठहरे। गोशालक इसी नगरीमें आजीविका उपासिका हलाहलाके हाटमें रहता था। गौतम भिक्षाके लिए निकले। उन्होने सुना गोशालक अपनेको जिन, अर्हत्, केवली, सर्वज्ञ कहता है। वापिस आने पर

१—मज्झिमनिकाय . (चूल सारोपम सुत्तत) पृ० १२४;
दीघनिकाय : (सामञ्ञफल सुत्त) पृ० १७-१८,
दीघनिकाय . (महापरिनिब्बाण सुत्त) पृ०१४५;
सुत्तनिपात . (समिय सुत्त) पृ० १०८

२—उपासक दसा सूत्र अ० ६ : ४-७; अ० ७

३—भगवती सूत्र . श० १५ . ४३-४६; ५६—५८, ४८-५३

४—भगवती सूत्र . श० १५ : ८७-१०५; १४१

गौतमने गोशालकके इस कथनकी सत्यताके विषयमें भगवान्से प्रश्न किया। भगवान्ने उसके विषयमें निम्नलिखित बातें बतलाई :

"दीक्षाके बाद मै नालंदाके बाहर तंतुवायशालामें दूसरा वर्षावास बिता रहा था। गोशालक उसी वर्षावासमें वहा आया और जहा मैं ठहरा हुआ था वही पासमें ठहरा। वर्षावासके बाद जब विहार कर मैं कोल्लाक सन्निवेशकी बाहर भूमिमें पहुचा उस समय शाटिका (अन्दर के वस्त्र), पाटिका (ऊपरके वस्त्र), कडी, जूते और चित्रपट ब्राह्मणोको दे, दाढी मूछ मुडवा गोशालक मेरे पास आया और हर्षित मनसे प्रदक्षिणा कर बोला —'आप मेरे धर्माचार्य है और मै आपका शिष्य।' मैंने उसकी यह बात स्वीकार की। इसके बाद छ. वर्ष तक हम साथ रहे। एक बार वेश्यायन नामक एक तपस्वीने 'जूओके मिजमान' कहनेसे क्रुद्ध हो गोशालकको भस्म करनेके लिए तेजोलेश्या छोडी। शीत तेजोलेश्या छोड मैंने गोशालककी रक्षा की। उसी समय गोशालक के पूछने पर मैंने उसे तेजोलेश्या प्राप्त करनेकी विधि बतलाई। इसके बाद मुझसे अलग हो छ महीने तक मेरी बतलाई विधिसे तपस्या कर उसने तेजोलब्धि प्राप्त की। इसके बाद उसने अष्टाग निमितका कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। वह लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्युके विषयमे सच्चे उत्तर दे सकता है। पर हे गौतम! गोशालक जो यह कहता है कि जिन हू, अर्हत् हू, केवली हू सर्वज्ञ हू वह असत्य है।"

अब यह बात रास्ते-रास्ते फैल गई कि गोशालक अपनेको जिन नही होते हुए जिन आदि कहता है। गोशालक यह सुनकर आग-बबूला हो गया।

भगवान्के आनन्द नामक तपस्वी भिक्षु भिक्षाके लिए श्रावस्ती

पधारे। गोशालक उनसे बोला—"हे आनन्द! तुम्हारे धर्माचार्य और धर्मोपदेशकने उदार अवस्था प्राप्त की है और देव मनुष्य आदिमें उसकी कीर्ति हुई है पर यदि वह मुझसे इस तरह छेड़-छाड करता रहा तो अपने तपके तेजसे मैं उसे भस्म कर डालूगा। जाकर अपने धर्माचार्यसे यह सब कह।"

आनन्दने झटपट जाकर सारी बात भगवान्से कही। भगवान् बोले—"अपने तपके तेजसे वह चाहे जिसको शीघ्र भस्मराशि करनेमें समर्थ है पर उसके तेजसे अनन्तानन्त गुण विशिष्ट तपोबल क्षमाके कारण अरिहतका होता है। उसको वह दग्ध करनेमें समर्थ नही। केवल दुःख उत्पन्न करनेमें समर्थ है। आनन्द! जा, गौतमादिसे कह—'मखलिपुत्र गोशालकने श्रमण निर्ग्रन्थोके प्रति विशेष रूपसे मिथ्यात्व—म्लेच्छभाव, अनार्यभाव धारण किया है। अत आर्यों! तुम लोग गोशालकसे किसी तरहका वाद-विवाद न करना'।"

आनन्द गौतमादिको यह बात कह ही रहा था कि कुभारिनके हाटसे निकल अपने सघके साथ गोशालक शीघ्र गतिसे चलता कोष्ठक चैत्यमें पहुचा और बोला—"हे आयुष्मन् काश्यप! 'मखलिपुत्र गोशालक मेरा धर्म सम्बन्धी शिष्य है'—यह जो कहते हो वह ठीक है पर तुम्हारा शिष्य तो मरण पा देवरूपमें उत्पन्न हुआ है। मै तो कौडिन्य गोत्रीय उदायी हू। मैंने गौतमपुत्र अर्जुनके शरीरका त्यागकर मखलि गोशालकके शरीरको समर्थ, ध्रुव, परिषह और उपसर्ग सहनमें बलिष्ठ समझ उसमें प्रवेश किया है।"

भगवान्ने कहा "यह तो अपनेको तिनकेकी आडसे छिपाने जैसा है। ऐसा करना तुम्हें योग्य नही। परन्तु तुम्हारा ऐसा ही स्वभाव है, दूसरा नही।"

अब गोशालक और भी क्रुद्ध हो तमतमा उठा। भगवान्‌के शिष्य सर्वानुभूति और सुनक्षत्रने इस तरह अनार्य भाव न दिखलानेके लिए समझाया पर उल्टा गोशालकने तेजोलेश्या छोड दोनोको भस्मकर डाला।

महावीरने भी गोशालकको शान्त करनेकी चेष्टा की पर गोशालकने अत्यन्त क्रुध हो तैजस समुद्‌घात कर, ७-८ कदम पीछे जा शरीरसे, तेजोलेश्या छोड़ी; पर जिस तरह वायुका बवडर दीवाल या स्तूपका कुछ नही कर सकता उसी तरह वह तेजोलेश्या भगवान्‌का वध करनेमे असमर्थ रही। वह गमनागमन करने लगी, प्रदक्षिणा देने लगी और ऊचे आकाशमें उछल वहासे स्खलित हो मखलिपुत्र गोशालकके शरीरको जलाती उसके शरीरमें ही प्रवेश कर गई। गोशालक भगवान्‌से बोला—"मेरी तपोजन्य तेजोलेश्यासे पराभव प्राप्त कर तू छः मासके अन्तमें पित्तज्वरसे छद्‌मस्थ अवस्थामें मरण प्राप्त करेगा"। भगवान् बोले—"में तो सोलह वर्ष और जिन तीर्थङ्करके रूपमे विचरण करूगा। पर तू अपने ही तेजसे पराभव प्राप्त कर सात दिनके अन्तमें पित्तज्वरसे पीड़ित हो छद्‌मावस्थामें ही मरण प्राप्त करेगा"।

जिस तरह तृण, काष्ठ, पत्ते आदिका ढिग अग्निसे सुलग जानेपर नष्ट तेज होता है उसी तरह तेजोलेश्या निकाल गोशालक नष्टतेज हो गया। श्रमणोने अब उसके साथ चर्चा शुरूकी। गोशालक किसी भी श्रमणको हानि नहीं पहुचा सका। इससे अनेक आजीविक स्थविर गोशालकको छोड़ श्रमण भगवान् महावीरके सघमें आ मिले।

अब गोशालकके शरीरमें तीव्र दाह उत्पन्न हुआ, उसे अपना अन्त दिखाई देने लगा। सात रात्रि पूरी हुई। अब गोशालकका मिथ्यात्व दूर हुआ। उसने अपने स्थविरोसे कहा—"मे 'जिन' नही हूं झूठ ही-'जिन' कहलाता रहा। भगवान् महावीर ही सच्चे 'जिन' है। मे तो

श्रमणघाती और आचार्यद्वेषी हू।" सात दिनके बाद गोशालक मृत्यु प्राप्त हुआ।

इसके वाद श्रमण भगवान् महावीर श्रावस्ती नगरीसे मेंढियग्राम नामक नगरके बाहर साणकोष्ठक नामक चैत्यमें आकर ठहरे। वहा महावीरको महापीडाकारक पित्तज्वरका दाह हुआ। लोहूकी टट्टिया होने लगी। भगवान्के शिष्य सिंह नामक अणगार कुछ दूरपर तप कर रहे थे। वे यह सुनकर रुदन करने लगे। भगवान्ने निर्ग्रन्थोको भेज उन्हे बुलाया और आश्वासन देते हुए बोले—"मै तो अभी सोलह वर्ष और जीऊगा। इस गावमें रेवती गृहपत्नीने दो कपोत शरीर (एक प्रकारके फलका मुरब्बा) मेरे लिये तैयार किये है। उसके यहा जा और कह 'वे मेरे कामके नही' परन्तु उसने जो दूसरोके लिए मार्जार कृत कुकुड मास (एक प्रकारके फलका मुरब्बा) तैयार किया है वह ले आ।" यह सुन सिंह अणगार रेवतीके यहा गये और भिक्षा माग लाये। महावीरने, सर्प जिस तरह बिलमें प्रवेश करता है, उसी तरह, आसक्ति रहित, उस पाकको शरीररूपी कोठेमें डाल लिया। इससे उनका पीडाकारी रोग शान्त हुआ और सब प्रसन्न हुए।

महावीरके निरोग हो जानेके बाद उनकी ख्याति और भी फैली। लोगोने उन्हे सच्चा 'जिन', 'केवली' जाना और उनके प्रति और भी अधिक श्रद्धाभाव रखने लगे।

परिनिर्वाण

भगवान्‌का जीवनकाल

भगवान्‌का कुल आयुष्य ७२ वर्षका बतलाया गया है[1]। भगवती सूत्र श० १५ में भगवान् महावीर और गोशालकके परस्पर सम्बन्धका जो विस्तृत जिक्र है और जिसका सार ऊपर दिया जा चुका है उससे भी भगवान्‌की आयुष्य अवधि ७२ वर्षकी ही निकलती है[2]। उसमें उल्लेख है कि महावीरने दीक्षा ली तब वे ३० वर्षके थे (श० १५ : २०)। दूसरे वर्षावासके अन्तमें कोल्लाग संनिवेशकी बाहर भूमिमें गोशालक उनका शिष्य बना था (श० १५ : २१, ३५, ३७, ३९, ४०, ४१)। भगवान्‌की दीक्षा मिगसर वदी १० के दिन हुई थी (आचा० श्रु० २ अ० २४ : १०१७)। दीक्षा दिनसे दूसरे वर्षावास तक २ वर्ष होते हैं। इस तरह गोशालकको शिष्य स्वीकार करनेके पहले दो वर्ष बीते। शिष्य होनेके बाद गोशालक छः वर्ष तक भगवान्‌के साथ रहा (श० १५ : ४२)। सब जीव मर कर उसी शरीरमें उत्पन्न होते हैं—इस परिवर्तके बाद और तेजोलेश्याकी विधि जानकर सिद्धार्थ ग्राममें

१—आवश्यक निर्युक्ति गा० ३०५

२—Uvasagdasao (Translation By Dr. Hoernle) Page 109 Lect. Vi Para 165—166 Note 253

गोशालक भगवान्से अलग हुआ था (श० १५ : ६१-६२)। श्रावस्ती में महावीर और गोशालक मिले उस समय गोशालक २४ वें वर्षकी दीक्षा पर्यायवाला था (श० १५ : ४)। इस २४ वर्षकी दीक्षा पर्यायमें ६ वर्ष महावीरके साथ बीते (श० १५ : ४२)। इस तरह १८ वर्ष बाद श्रावस्तीमें दोनोकी वापिस भेंट हुई। गोशालककी मृत्युके बाद महावीर १६ वर्ष तक जीवित रहे (श० १५ : १०८, १४८)। उपर्युक्त वर्णनसे महावीरकी जीवन-अवधि ७२ वर्षकी निकलती है, यथा,—

दीक्षाके समय अवस्था	३० वर्ष
गोशालकको शिष्य स्वीकार करनेके पहले बीते	२ „
गोशालक-शिष्य रूपमें साथ रहा	६ „
गोशालकसे श्रावस्तीमें भेंट हुई उसके बीचका समय	१८ „
गोशालकके बाद जीवित रहे	१६ „
कुल आयु	७२ वर्ष

इस ७२ वर्षकी आयुमें ३० वर्ष कुमारावस्थामें बीते[1]। १२ वर्ष केवलज्ञानके पहले छद्मस्थावस्थामें[2] और अवशेष ३० वर्ष तीर्थङ्कर जीवनमें।

१—आचारांग सूत्र : श्रु० २ अ० २४ : १००७;
आवश्यक निर्युक्ति गा० २८९
भगवती सूत्र : श० १५ : २०

२—आचारांग श्रु० २ अ० २४ : १०२०, १०२४;
आचारांग श्रु० १ अ० ९ उ० २ : ४८७;
आवश्यक निर्युक्ति : गा० २४०

श्रावस्तीमें १८ वर्षके बाद दोनो मिले थे। उस समय गोशालकको 'जिन' घोषित हुए १६ वर्ष हो चुके थे (श० १५ : ९३)। इस तरह महावीरसे अलग होनेके २ वर्षके बाद गोशालकने अपनेको 'जिन' घोषित किया। गोशालकने महावीरसे अलग हो छः महीनेकी तपस्या कर तेजोलेश्या सिद्ध की। कुछ काल निमित्त ज्ञान प्राप्त करनेमें बिताया। दो वर्षका समय इसी तरह निकला होगा। महावीर गोशालकके अलग होनेके ४ वर्ष [१२ में से ८ (६+२) वर्ष घटा देनेसे] बाद 'जिन' घोषित हुए। इस तरह महावीरके केवलज्ञान प्राप्त करनेके दो वर्ष पहले ही गोशालकने अपनेको 'जिन' घोषित किया।

निर्वाण भूमि और निर्वाण

भगवान्‌का अन्तिम चातुर्मास मध्यम पावामें हुआ। यह चातुर्मास हस्तिपाल राजाकी रज्जुक सभामें हुआ था। इसी वर्षावासमें कार्तिक कृष्णा अमावस्याकी रातकी अन्तिम घड़ियोंमें स्वाति नक्षत्रके समय भगवान्‌का निर्वाण हुआ। इस देहको छोड़ और जन्म, जरा, मरणके बंधनको छेद वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हुए[1]। अन्तिम दिन भगवान् पिछली रात तक उपदेश धारा बहाते रहे। अन्तिम घडी ज्यो-ज्यो नजदीक आ रही थी, भगवान्‌की उपदेश धारा द्रुतवति होती जा रही थी। भगवान्‌ने अपने उपदेशमे पुण्य और पापके फल विषयक ५५।५५ अध्ययन और अपृष्ट विषयोके ३६ अध्ययन कहे।

भगवान्‌को उस दिन छट्ठभक्तका उपवास था। वे पर्यंकासनमे स्थिर हो गये। धीरे-धीरे मन, वचन, कायाके स्थूल, सूक्ष्म योगोंको रोकने लगे और इस तरह शंखके समान उज्ज्वल शुक्ल ध्यानकी चरम

१—कल्पसूत्र : १२२-२४;

श्रेणीको पहुच सारे कर्म विदीर्ण कर डाले। भगवान्‌ने इस तरह अपुनरागति—मुक्ति—प्राप्ति की[1]।

भगवान् मुक्त हुए उस समय चौथे आरेके शेष होनेमें ३ वर्ष ८॥ महीने बाकी थे[2]।

गौतमको केवलज्ञान

गणधर गौतमका भगवान्‌के प्रति बडा मोह था और यह मोह ही केवलज्ञान उत्पन्न न होने देता था। गौतमके बाद प्रव्रजित अनेक साधुओंको केवलज्ञान हो चुका था। गौतम इस कारण अधीर हो उठते थे। एक बार उन्हे खिन्न देखकर भगवान्‌ने कहा था—"हे गौतम! तेरा मेरे साथ चिर स्नेह है, चिरकालसे तू मेरा प्रशसक रहा है, चिरकालसे तेरा मेरे साथ परिचय है, हे गौतम! चिरकालसे तू मेरी सेवा करता चला आ रहा है, तूने चिरकालसे मेरा अनुसरण किया है, तू चिरकाल से मेरे साथ अनुकूल वर्त्ताव करता चला आ रहा है। हे गौतम! इसके पहले देव-भवमें मेरा तेरे साथ सम्बन्ध रहा और अभी मनुष्य-भवमें भी सम्बन्ध है। अधिक क्या मृत्युके बाद शरीरका नाश होनेपर यहासे च्यव हम लोग दोनो तुल्य, एक प्रयोजनवाले, विशेषता और भेद रहित सिद्ध होंगे। अनुत्तरोपपातिक देव इस बातको जानते हैं[3]।"

भगवान्‌ने यह आश्वासन दिया था पर गौतमको केवल ज्ञान होना तो अभी बाकी ही था और भगवान्‌का देहावसान हो चुका था।

१—कल्पसूत्र : १४७;

२—उपर्युक्त

३—भगवती सूत्र : श० १४ : उ० ७

भगवान्‌ने अपने निर्वाणके पहले गौतमको समीपके गावमें प्रतिबोध देनेके लिए भेज दिया था। पर वे अपने आश्वासनकी बात भूले नहीं थे। अपने अन्तिम प्रवचनमें उन्होंने अपने अन्तेवासी शिष्यके लिए एक दिव्य सन्देश छोड़ा, जो उत्तराध्ययन सूत्रके १० वे अध्ययनके रूपमें आज भी प्राप्त है।

गांवमें अपना काम पूरा कर गौतम वापिस आ रहे थे। भगवान्‌के निर्वाणकी खबर उन्हे मार्गमे ही मिली। उनके दु:खका पारावार नही रहा। अन्तिम घडीमें उन्हे भगवान्‌से दूर रहना पडा और वह भी भगवान्‌की इच्छासे। वे विह्वल हो अश्रुपात करने लगे। ऐसे ही विषादपूर्ण क्षणमें उन्होने भगवान्‌का अपने लिए दिया हुआ उपर्युक्त अन्तिम सदेश सुना। इस सदेशका सार इस प्रकार है—"हे गौतम! समय मात्रके लिए भी प्रमाद न करना। अपनी आत्मासे स्नेहका—मोहका—व्यच्छेद कर। सर्वस्नेह—रागभावसे अलग हो जा। वमन किए हुएको पीनेकी इच्छा न करना। तू विशुद्ध मार्गपर चल रहा है। तू महान् समुद्रको तिर चुका। अब तीर पर आकर क्यो स्थिर है? पार पानके लिए शीघ्रता कर। हे गौतम! तू क्षेम और कल्याण युक्त उत्तम सिद्ध लोगको प्राप्त करेगा। प्रबुद्ध और परिनिवृत (शान्त) होकर सयम मार्गमें विचरण कर[1]।"

गौतमके लिए यह अन्तिम सदेश बहुमूल्यसे बहुमूल्य विरासत थी। उन्हें इस सदेशमें दिव्य पथ-निर्देश मिला। सुकथित अर्थ और पदोंसे विभूषित भगवान्‌के इस सुभाषितको सुन गौतम सजग हुए। उन्होने सोचा "महावीरने मेरे प्रति जरा भी मोह नही किया। वीतराग

१—उतराध्ययन सूत्र अ० १० : १, २८,२९, ३२, ३४, ३५, ३६

भगवान्‌ने क्या मुझे पथ नही दिखला दिया ? वे तो सिद्ध गतिको प्राप्त हो गए अब मै क्यो मोह करूं ?" ऐसा सोचते ही उनकी आत्मा धर्मध्यानमें लीन हो गई। उन्होंने राग द्वेषको छेद डाला। स्नेहके—मोहके—ततु टूट पडे और उन्हें अनन्त ज्ञान दर्शन प्राप्त हुए[1]। भगवान्‌की वाणी सफल हुई और अब उनके आश्वासन पूरा होनेमें कोई सदेहका कारण नही रहा।

अपने जीवनके अन्तिम उपदेशमें तथागत बुद्धने अपने शिष्य आनन्दसे कहा था—"आनन्द ! शायद तुमको ऐसा हो—'अतीत-शास्ता (चलेगये गुरु) का (प्रवचन) है, (अब) हमारा शास्ता नही रहा।' आनन्द ! इसे ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और विनय उपदेश किये है, प्रज्ञप्त (विहित) किये है, मेरे बाद वही तुम्हारे शास्ता (गुरु) है[2]। "भगवान् महावीरने भी प्राय. ऐसी ही बात अपने अन्तिम प्रवचनमें गौतमको सम्बोधन कर कही थी। 'हे गौतम मेरे निर्वाणके बाद लोग कहेगे—'निश्चय ही अब कोई जिन नही देखा जाता'। पर हे गौतम ! मेरा उपदिष्ट और विविध दृष्टियोसे प्रतिपादित मार्ग पथ-प्रदर्शकके रूपमे रहेगा[3]।" "ग्राम या नगर जहा भी

१—कल्पसूत्र · १२७; उत्तराध्ययन सूत्र अ० १० : ३७

२—दीघ-निकाय (महापरिनिब्बाण सुत्त) पृ० १४६

३—उत्तराध्ययन सूत्र अ० १० : ३१। इस गाथाको डॉ० हर्मन जैकोबीने प्रक्षिप्त बतलाया है (S B E. Vol xLv part II page 45 F. N. I), उन्हीका अनुसरण करते हुए गोपालदास जीवाभाई पटेलने भी उसे प्रक्षिप्त कह दिया है (महावीरस्वामी जो अन्तिम उपदेश—पृ० ५१ फुट नोट १) पर वास्तवमें बात ऐसी नही है। इस पदके भावार्थको विचार करनेसे वह प्रक्षिप्त मालूम नही देगा पर उसमें भगवान् महावीरका एक अनुपम उपदेश दिखाई देगा।

जाना, संयत रह, शान्तिमार्गकी वृद्धि करना—अहिंसामार्गका प्रचार करना[1]।"

इस घटनाके बाद गौतम १२ वर्ष तक जीए और राजगृह नगरमे एक मासका अनशन कर शरीर त्याग अक्षय मोक्षपदको पा महावीरके तुल्य सिद्ध हुए[2]।

श्रद्धाञ्जलियां

जिस रात्रिमें भगवान् काल प्राप्त हुए उस रात्रिमें काशी के नव मल्लकि और कौशल देशके नव लेच्छकि १८ गण राजाओने पौषधोपवास किए। भावउद्योत जा चुका था। उसकी स्मृतिमें द्रव्य उद्योत —दीप प्रकाश किया[3]।

महावीरके बाद सघका भार गणधर सुधर्मा पर आया। ग्यारह गणधरोमें गौतम और सुधर्मा ही भगवान्के बाद जीवित रहे[4]।

सुधर्मा स्वामीने भगवान्के गुण वर्णनमें बड़ी ही सुन्दर कारिकाएँ लिखी हैं, जो सूत्रकृतागमें सगृहीत है। हम भी अन्तमें भगवान्का गुणवन्दन कर ले।

"योद्धाओमे जैसे वासुदेव श्रेष्ठ है, पुष्पोमें जैसे अरविंद श्रेष्ठ है, क्षत्रियोमें जैसे दन्तवक्र श्रेष्ठ है उसी तरह वर्द्धमान ऋषियोमें श्रेष्ठ थे (अ० ६: २२)।

"दानोमें जैसे अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यमें जैसे निरवद्य वचन श्रेष्ठ है, तपमें उत्तम ब्रह्मचर्य तप है, उसी तरह नायपुत्त लोगोमें उत्तम श्रमण थे (६: २३)।

१—उत्तराध्ययन सूत्र : १० : ३६;
२—कल्पसूत्र : गणधर स्थविरावली : ४
३—कल्पसूत्र : १२८;
४—कल्पसूत्र : गणधर स्थविरावली : ४

"वे पृथ्वीके समान क्षमाशील थे, रात-दिन कर्मोको धुनते थे, अगृद्धिभावसे रहित थे, वे जरा भी सचय नही करते थे और बड़े आशु-प्रज्ञ थे। महाघोर ससार समुद्रका उन्होने पार पाया। वे वीर अनन्त ज्ञान चक्षुवाले थे और अभयदानी थे (अ० ६: २५)।

"क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार आध्यात्म दोषोका वे अर्हत् महर्षि हमेशा वमन करते रहे। वे न स्वय कभी पाप करते थे, न कराते और न करते हुए का कभी अनुमोदन करते थे (अ० ६: २६)।

"जैसे हाथियोमें ऐरावत, वनचरोमे सिंह, जलमें गगाका जल और पक्षीमें वेणुदेव गरुड़ प्रधान कहा गया है उसी तरह नायपुत्त निर्वाणवादियोमें प्रमुख थे (अ० ६ · २१)।

"वृक्षोमें जैसे साल्मलि श्रेष्ठ होता है, वनोमें जैसे नन्दनवन श्रेष्ठ है, उसी तरह दीर्घ प्रज्ञ महावीर ज्ञान और शीलमें प्रधान थे (अ० ६ . १८)।

"जैसे उदधिमें स्वयभू श्रेष्ठ है, नागोमें धरणीन्द्र श्रेष्ठ है, रसोमें इक्षुरस जयवत है उसी तरह तप उपधानमें महामुनि जयवत—श्रेष्ठ थे। (६ २०)।

भगवान् अणुत्तर धर्म कहते और अणुत्तर ध्यान—ध्यानोमें श्रेष्ठ ध्यान ध्याते। वे अत्यन्त शुक्ल, चन्द्र और शखके समान एकान्त स्वच्छ और निर्मल ध्यानके ध्याता थे (अ० ६ . १६)।

"अपने श्रेष्ठ शुक्ल ध्यानसे अवशेष कर्मोको क्षय कर परम महर्षि अणुत्तर ज्ञान, शील और दर्शनसे अनन्त सिद्धिको प्राप्त हुए (अ० ६ १७)।

"इस महान् अर्हत् द्वारा सुभाषित अर्थ और पदसे शुद्ध धर्मको सुन और उसमें श्रद्धा ला अनेक मनुष्य आयुष्यरहित सिद्ध अथवा देव होगे (अ० ६ २९)।"

तीर्थंकर वर्द्धमान

भाग २

प्रवचन

१ : शिक्षापद



: १ :

शिक्षापद

१ : समयं गोयम ! मा पमायए

१—दुमपत्तए पंडुयए जहा, निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । १

जैसे वृक्षके पत्ते पीले पडते हुए समय आने पर पृथ्वी पर झड जाते है उसी तरह मनुष्य जीवन भी (आयु शेष होने पर समाप्त हो जाता है)। हे जीव[1]! समय[2] भरके लिए भी प्रमाद न कर।

२—कुसग्गे जह ओसबिन्दुए, थोवं चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं, समयं गोयम मा पमायए ॥

उ० १० । २

जैसे कुशकी नोक पर लटका हुआ ओस बिंदु कुछ ही समयके लिए टिकता है, वैसे ही मनुष्य-जीवन भी। हे जीव! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

१—मूलमें 'गोयम'—'गौतम' शब्द है परन्तु यह उपदेश सबके प्रति समान रूपसे लागू होनेसे अनुवादमे उसके स्थान पर 'जीव' शब्द का व्यवहार किया है।

२—कालका सबसे छोटा अंश है।

३—इइ इत्तरियम्मि आउए, जीवियए बहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कडं, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०।३

आयु ऐसा ही नाशवान् और स्वल्प है और जीवनमें विघ्न बहुत हैं। पूर्व संचित कर्म-रूपी रजको शीघ्र दूर कर। हे जीव! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

४—दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०।४

निश्चय ही मनुष्य भव बहुत दुर्लभ है और सभी प्राणियोंको वह बहुत दीर्घकालके बाद मिलता है। कर्मोंके फल बडे गाढ—तीव्र होते हैं। हे जीव! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

५—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले[1] य हायई, समयं गोयम मा पमायए॥

उ० १०।२१-२५

दिन दिन तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है, तेरे केश पककर श्वेत होते जा रहे हैं और तेरी इन्द्रियो (कान, आख, नाक, जीभ और शरीर) का बल घटता जा रहा है। हे जीव! तू समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

१—'सोयबल'—श्रोतेन्द्रिय बल। इसके आगेकी २२ से लेकर २५ वी गाथामे क्रमश. चक्षु, नाक, जिह्वा और शरीर बलके द्योतक शब्दो का प्रयोग है। संक्षेपके लिए २१ वी गाथाके अनुवादमें उपलक्षण रूपसे सर्व इन्द्रियोंके नाम दे दिए हैं।

६—परिजूरइ ते सरीरयं, केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई, समयं गोयम मा पमायए ॥
उ० १० । २६

जैसे-जैसे दिन बीत रहे हैं, तेरा शरीर जीर्ण होता जा रहा है। तेरे केश पक रहे हैं और सर्वबल क्षीण होता जा रहा है। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

७—अरई गण्डं विसूइया, आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं, समयं गोयम मा पमायए ॥
उ० १० । २७

असूचि फोड़े-फुन्सी और विसूचिका आदि नाना प्रकारके आतंक तेरे शरीरको स्पर्श कर रहे हैं और उसे बलहीन कर उसको ध्वंस कर रहे हैं। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

८—वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं।
से सव्व सिणेहवज्जिए, समयं गोयम मा पमायए ॥
उ० १० । २८

जैसे कमल शरद ऋतुके निर्मल जल[1] से भी निर्लिप्त रहता है वैसे ही तू अपनी सारी आसक्तियोंको छोड़, सारे स्नेह बंधन छिटका दे। हे जीव ! समय भरके लिए भी प्रमाद न कर।

९—अवसोहिय कण्टगापहं, ओइण्णोऽसि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया, समयं गोयम मा पमायए ॥
उ० १० । ३२

१—कमल कादेमें उत्पन्न होकर भी उससे निर्लिप्त रहता है। कादेसे ही नहीं शीत कालके विशेष निर्मल जलसे भी वह लिप्त नहीं होता। इस विशेषताका सहारा लेकर मुमुक्षको अल्पसे अल्प आसक्तिके त्यागका उपदेश दिया गया है।

२ : दुर्लभ संयोग

१—चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

उ० ३।१

संसारमे प्राणियोको चार[1] परम अंग—उत्तम संयोग—अत्यन्त दुर्लभ है : (१) मनुष्य-भव—(२) धर्म-श्रुति—धर्मका सुनना (३) धर्ममे श्रद्धा और (४) संयममे—धर्ममे—वीर्य—पराक्रम।

२—समावन्ना णं संसारे, नाणागोत्तासु जाइसु।
कम्मा नाणाविहा कट्टु, पुढो विस्संभया पया॥

उ० ३।२

यह विश्व नाना प्रजा—प्राणियोसे भरा हुआ है। इस संसारमे ये प्राणी नाना प्रकारके कर्मोसे अलग-अलग जाति और गोत्रोमें उत्पन्न है।

३—एगया देवलोएसु, नरएसु वि एगया।
एगया आसुरं कायं, आहाकम्मेहि गच्छई॥

उ० ३।३

१—उत्तराध्ययन सूत्रके १० वें अध्ययनकी १६ तथा १७ वी गाथामें 'आर्यत्व' और 'अहीनपचेन्द्रियता'—'पाचों इन्द्रियोकी सम्पूर्णता' इन दोनोको भी दुर्लभ बताया गया है और इनको 'मनुष्य भव' के बाद और 'धर्मश्रुति' के पहले स्थान दिया है।

अपने कर्मोंके अनुसार जीव कभी देवलोकमें और कभी नर्कमें जाते हैं और कभी असुर होते हैं।

४—एगया खत्तिओ होइ, तओ चण्डाल बुक्कसो।
तओ कीडपयंगो य, तओ कुन्थु पिवीलिया॥

उ० ३।४

जीव कभी क्षत्रिय होता है, कभी चण्डाल और कभी बुक्कस। कभी कीट-पतंग और कभी कुन्थु-चींटी होकर जन्म लेता है।

५—कम्मसंगेहिं सम्मूढा, दुक्खिया बहुवेयणा।
अमाणुसासु जोणीसु, विणिहम्मन्ति पाणिणो॥

उ० ३।६

कर्मसंगसे मूढ हुए प्राणी अत्यन्त वेदना पाते हुए और दुःखी होते हुए अमानुषी—मनुष्येतर योनियोंमें भ्रमण करते हैं।

६—कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं[1]॥

उ० ३।७

इस प्रकार करते करते, कर्मोंके क्रमशः क्षयसे शुद्धिको प्राप्त हुआ जीव कदाचित्—बहुत लम्बे कालके बाद—मनुष्य भवको पाता है।

७—माणुस्सं विग्गहं लद्धुं, सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जन्ति, तवं खंतिमहिंसयं॥

उ० ३।८

मनुष्य-भव पाकर भी उस धर्मको सुननेका संयोग—अवसर पाना

१—मनुष्य भवकी दुर्लभताको बताते हुए यहा जो भाव प्रकट किये गए हैं वैसे ही भाव उ० अ० १०। ४-१५ में भी प्राप्त होते हैं।

दुर्लभ है—जिस धर्मको सुनकर मनुष्य तप, संयम और अहिंसाको स्वीकार करता है। (क्योंकि कुगुरुसेवी बहुत देखे जाते हैं।[1])

८—आहच्च सवणं लद्धुं, सद्धा परम दुल्लहा।
सोच्चा नेआउयं मग्गं, बहवे परिभस्सई॥

उ० ३।९

कदाचित् धर्मका सुनना सुलभ भी हो तो उसमें श्रद्धा होना परम दुर्लभ है क्योंकि न्याय मार्गको सुनकर—जानकर—भी अनेक जीव उससे गिर जाते हैं। (धर्म सुनने पर भी मिथ्यात्वके सेवी बहुत देखे जाते हैं।[2])

९—सुइं च लद्धुं सद्धं च, वीरयं पुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणावि, नो य णं पडिवज्जए॥

उ० ३।१०

कदाचित् धर्मको सुनकर उसमें श्रद्धा भी हो जाय तो धर्ममे पुरुषार्थ करना तो और भी दुर्लभ होता है। धर्ममे रुचि होने पर भी बहुतसे धर्मका पालन नहीं करते। (धर्ममें श्रद्धा होनेपर भी कामभोगो में मूर्छित अनेक देखे जाते हैं।[3])

१०—माणुसत्तम्मि आयाओ, जो धम्मं सोच्च सद्दहे।
तवस्सी वीरियं लद्धुं, संवुडे निद्धुणे रयं

उ० ३।११

मनुष्य-जन्म पाकर जो धर्मको सुनता और श्रद्धा करता हुआ उसके अनुसार पुरुषार्थ—आचरण—करता है वह तपस्वी नए कर्मोको रोकता हुआ सचित कर्म-रूपी रजको धुन डालता है।

१—उ० १०।१८,
२—उ० १०।१९; ३—उ० १०।२०

३ : आत्म-जय : परम-जय

१—जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥

उ० ६।३४

दुर्जय संग्राममें सहस्र-सहस्र शत्रुओंको जीतनेकी अपेक्षा एक अपनी आत्माको जीतना ही सर्वोत्कृष्ट जय है। जो अपनी आत्माको जीत लेता है, वही सच्चा संग्राम-विजयी है।

२—अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए ॥

उ० ६।३५

अपनी आत्माके साथ ही युद्ध करो। बाह्य शत्रुओंके साथ युद्ध करनेसे क्या मतलब ? जो अपने द्वारा अपनी आत्माको जीतता है, वही सुखी होता है।

३—अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

उ० १।१५

अपने आपको जीतो। अपने-आपको जीतना ही वास्तवमें दुर्जय है। अपनी आत्माको दमन करनेवाला इह लोकमें तथा पर लोकमें सुखी होता है।

४—पाणेय णाइवाएज्जा, अदिन्नं पियणादए।
सादियं ण मुसं बूया, एस धम्मे वुसीमओ ॥

सू० १, ८।१६

प्राणियोके प्राणोको न हरे, विना दी हुई कोई भी चीज न ले, कपटपूर्ण झूठ न बोले—आत्म-जयी पुरुषोका यही धर्म है।

५—न चरेज्ज वेससामन्ते, बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्सदन्तस्स, होज्जा तत्थ विसोत्तिआ ॥

द० ५।१ : ६

ब्रह्मचारीको ब्रह्मचर्यको हानि पहुचानेवाले वेश्याओंके पाडेमें नही विचरना चाहिये। जितेन्द्रिय ब्रह्मचारीका मन वहा खिन्नताको प्राप्तहोता है।

६—जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

उ० ८ : १७

जैसे लाभ होता है, तृष्णा बढती जाती है; लाभ लोभको बढ़ाता है। दो मासे सुवर्णसे होनेवाला कार्य, करोडोसे भी पूरा न हुआ।

७—पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥

उ० ९ : ४९

चावल और जौ आदि धान्य तथा सोने-चादी और पशुओसे भरी हुई यह समस्त पृथ्वी भी लोभीकी तृष्णाको शान्त करनेमें असमर्थ है—यह समझ कर सन्तोष-रूपी तप करो।

८—कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

द० ८ : ३७

४ : रहस्य भेद :

१—एगेजिए जिया पंच, पञ्चजिए जिया दस ।
दसहाउ जिणित्ता णं, सव्वसत्तू जिणामहं ॥

उ० २३ : ३६

एकको जीत चुकनेसे मैंने पाचको जीत लिया, पाचको जीत लेनेसे मैंने दसको जीत लिया; और दसोको जीतकर मैंने सभी शत्रुओको जीत लिया है ।

एगप्पा अजिए सत्तू, कसाया इन्दियाणि य ।
ते जिणीत्तु जहानायं, विहरामि अहं मुणी ॥

उ० २३ : ३८

आत्मा एक दुर्जय शत्रु है । क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय मिलकर पाच और श्रोत, चक्षु, घ्राण, रस और स्पर्श ये पाच इन्द्रिया मिल कर दस शत्रु है । इन्हे ठीक रूपसे जीत कर, हे महा-मुने ! मै विहरता हूँ ।

२—ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ ।
मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ॥

उ० २३ : ४१

हे मुने ! ससारी प्राणियोके बन्धे हुए पाशोका सर्व प्रकार और उपायोसे छेदन और हनन कर मै मुक्तपाश और लघुभूत होकर विहरता हूं ।

रागद्दोसादओ तिव्वा, नेहपासा भयंकरा।
ते छिन्दित्ता जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥

उ० २३ : ४३

हे मुने ! राग-द्वेषादि और स्नेह—ये तीव्र और भयकर पास है। उन्हे ठीकरूपसे छेदकर मै यथाक्रम विहरता हू।

३—तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं।
विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥

उ० २३ : ४६

मैने हृदयके अन्दर उत्पन्न विपलताको सर्व प्रकारसे छेदन कर अच्छी तरह मूल सहित उखाड कर फंक दिया है। इस तरह मै विप फलसे मुक्त हो गया हूँ।

भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीम फलोदया।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ॥

उ० २३ : ४८

भवतृष्णाको लता कहा गया है, जो बड़ी भयकर और भयकर फलोको देनेवाली है। उसे यथाविधि उच्छेदकर हे महामुने ! मै सुख पूर्वक विहरता हू।

४—महामेहप्पसूयाओ, गिज्झ वारि जलुत्तमं।
सिंचामि सययं ते उ, सित्ता नो डहंति मे ॥

उ० २३ : ५१

महामेघसे प्रसूत उत्तम जलको लेकर मै उनको सतत् सिंचन करता रहता हू। इस तरह सिंचनकी हुई वे अग्नियां मुझे नही जलाती।

कसाया अग्गिणो वुत्ता, सुयसीलतवो जलं।
सुयधाराभिहया सन्ता, भिन्ना हु न डहन्ति मे ॥
उ० २३ : ५३

क्रोध, मान, माया, और लोभ—ये चार कषायरूपी अग्नियां हैं। श्रुत, महामेघ है, शील और तप श्रुतधाराका शीतल जल है। श्रुतरूप मेघकी जलधारासे निरन्तर सींचे जानेके कारण छिन्न-भिन्न हुई ये अग्नियां मुझे नहीं जलाती।

५—पहावन्तं निगिण्हामि, सुयरस्सी समाहियं।
न मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥
उ० २३ : ५६

भागते हुए दुष्ट अश्वको मैं ज्ञानरूपी लगामके द्वारा अच्छी तरह पकड़ता हूं। इससे मेरा अश्व उन्मार्गमें नहीं जाता और ठीक मार्गको ग्रहण करता हुआ चलता है।

मणो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कन्थगं ॥
उ० २३ : ५८

मन ही यह साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है जो चारों ओर दौड़ता है। मैं उस कन्थकको धर्म शिक्षा द्वारा अच्छी तरह काबूमें करता हूं।

६—अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ।
महाउदगवेगस्स, गई तत्थ न विज्जई ॥
उ० २३ : ६६

समुद्रके बीच एक विस्तृत महान् द्वीप है, जहां महान् उदकके वेग की गति नहीं है।

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

उ० २३ : ६८

जरा मरणरूपी महा उदकके वेगसे डूबते हुए प्राणियोंके लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है ।

७—जाउ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥

उ० २३ : ७१

जो नौका छेदोंवाली होती है वह पार ले जानेवाली नहीं होती । जो नौका छेदोंसे रहित होती है वही पार पहुचानेवाली होती है ।

८—सरीरमाहु नावत्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥

उ० २३ : ७३

शरीरको नौका कहा गया है । जीवको नाविक कहा गया है । ससारको समुद्र कहा गया है । जीवरूपी नाविकके द्वारा शरीर-रूपी नौकाको खेकर महर्षि जन्म-मरणरूपी इस महा अर्णवसे तर जाते है ।

९—अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरामच्चू, वाहिणो वेयणा तहा ॥

उ० २३ : ८१

लोकाग्र पर एक ऐसा दुरारोह ध्रुव स्थान है, जहा जरा, मृत्यु, व्याधि और वेदनाए नही है ।

निव्वाणंति अवाहन्ति, सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवं अणावाहं, जं चरन्ति महेसिणो॥

उ० २३ : ८३

यह स्थान निर्वाण, अव्यावाध, लोकाग्र, सिद्धि आदि नामसे प्रख्यात है। इस क्षेम, शिव, और अनावाध स्थानको महर्षि पाते हैं।

तं ठाणं सासयंवासं, लोगग्गंमि दुरारुहं।
जं संपत्ता न सोयन्ति, भवोहन्तकरा मुणी॥

उ० २३ : ८४

हे मुने! यह स्थान आत्माका शाश्वत वास है। यह लोकके अग्रभागमे है। जन्म जरा आदिसे दुरारोह है। इसे प्राप्त कर लेने पर किसी तरह का दुख नही रह जाता और भव-परम्पराका अन्त हो जाता है।

५ : अठारह पाप

१—सीहं जहा खुड्डमिगा चरन्ता, दूरे चरन्ति परिसंकमाणा ।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं, दूरेण पावं परिवज्जएज्जा ॥

सू० १, १० : २०

मृगादि अटवीमें विचरनेवाले जीव जैसे सिंहसे सदा भयभीत रहते हुए दूरमें—एकान्तमें—चरते हैं इसी तरह मेधावी पुरुष धर्मको विचार कर पापको दूरसे ही छोड़े ।

२—पाणाइवायमलियं चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं ।
कोहं माणं मायं लोभं पिज्जं तहादोसं ॥
कलहं अब्भक्खाणं पेसुन्नं रइ अरइ समाउत्तं ।
परपरिवायं मायमोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥

आवश्यक सूत्र

(१) प्राणातिपात (हिंसा), (२) झूठ, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) द्रव्य-मूर्च्छा (परिग्रह), (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) दोषारोपण, (१४) चुगली, (१५) असंयममें रति (सुख), संयममें अरति (असुख), (१६) परपरिवाद—निन्दा, (१७) माया-मृषा—कपटपूर्ण मिथ्या और (१८) मिथ्यादर्शनरूपी शल्य—ये अठारह पाप हैं ।

३—कहं णं भंते ! जीवा गुरुयत्तं वा
लहुयत्तं वा हव्वमागच्छंति ?

हे भगवान् ! जीव गुरुत्व—भारीपन और लघुत्व—हल्केपन को शीघ्र कैसे प्राप्त करता है ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे
एगं महं सुक्कं तुंबं णिच्छिड्डं निरुवहयं
दब्भेहिं कुसेहिं वेढ़ेइ, वेढित्ता मट्टिया
लेवेणं लिंपति, उण्हे दलयइ, दलइत्ता
सुक्कं समाणं दोच्चं पि दब्भेहि य
कुसेहि य वेढेति, वेढित्ता मट्टिया
लेवेणं लिंपति, लिंपित्ता उण्हे सुक्कं
समाणं तच्चं पि दब्भेहि य कुसेहि य
वेढेति, वेढित्ता मट्टिया लेवेणं लिंपति।
एवं खलु एएणुंवाएणं अन्तरा वेढेमाणे
अन्तरा लिंपेमाणे अन्तरा सुक्कवेमाणे जाव
अट्ठहिं मट्टियालेवेहिं आलिंपति अत्था
हमतारमपोरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा
से णूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं
मट्टियालेवेणं गुरुययाए भारिययाए
गुरुयभारिययाए उप्पिं सलिलमति
वइत्ता अहे धरणियलपइट्ठाणे भवति।

हे गौतम ! यदि कोई मनुष्य एक बड़े, सूखे, छिद्र सहित, सम्पूर्ण तूंबेको दर्भ और कुससे कस कर उस पर मिट्टीका लेप करे और फिर धूपमें सुखा कर दुवारा लेप करे और इस तरह आठ वार मिट्टीका लेप

कर उसे अथाह, दुस्तर, गहरे जलमें डाले तो वह तूंबा डूबेगा या नहीं ? निश्चय ही हे गौतम ! मिट्टी के आठ लेपोंसे भारी बना वह तूंबा ऊपरके जलको पार कर पृथ्वीतल पर बैठ जायगा।

एवामेव गोयमा ! जीवा वि पाणातिवाएणं
जाव मिच्छादंसणसल्लेणं अणुपुव्वेणं
अट्ठकम्म पगडीओ समज्जिणंति। तासि
गुरुययाए भारिययाए गरुयभारिययाए
कालमासे कालं किच्चा धरणि यलमतिवतित्ता
अहे नरगतलपइट्ठाणा भवंति। एवं खलु
गोयमा ! जीवा गुरुयत्तं हव्वमागच्छंति।

इसी तरह हे गौतम ! जीव—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह आदि १८ पापरूपी दाभसे आत्माको वेष्ठित कर, आठ कर्म प्रकृतियो का लेप अपने ऊपर चढ़ाता है. जिससे गुरु—भारी होकर, कालके समय काल प्राप्त कर, धरणी तलको पार कर नीचे नर्क तल पर स्थित होता है। इस तरह हे गौतम् ! जीव शीघ्र गुरुत्व— भारीपन—को प्राप्त होता है।

अहण्णं गोतमा ! से तुंबे तंसि पढमिल्लुगंसि
मट्टियालेवंसि तिन्नंसि कुहियंसि परिसडियंसि
ईसिं धरणियलाओ उप्पतित्ता णं चिट्ठति।
ततोऽणंतरं च णं दोच्चंपि मट्टियालेवे जाव
उप्पतित्ता णं चिट्ठति। एवं खलु एएणं
उवाएणं तेसु अट्ठसु मट्टिया लेवेसु तिन्नेसु
जाव विमुक्कबंधणे अहे धरणियलमइवइत्ता
उप्पिं सलिलतलपइट्ठाणे भवति। एवामेव

गोयमा! जीवा पाणातिपातवेरमणेणं जाव
मिच्छादंसणसल्लवेरमणेण अणु पुव्वेणं
अट्ठकम्मपगडीओ खवेत्ता गगणतलमुप्पइत्ता
उप्पिं लोयग्गपतिट्ठाणा भवंति। एवं खलु
गोयमा! जीवा लहुयत्तं हव्वमागच्छंति।

ज्ञाता धर्मकथा—अ० ६

हे गौतम! जलमें डूबे हुए तूबेका सबसे ऊपरका पहला तह जब गलकर अलग हो जाता है, तो तूबा धरणीतलसे ऊपर उठता है। तदनन्तर इस तरह एक एक कर सारे आठों मिट्टीके तह गल जाते हैं तो बंधनसे मुक्त होते ही तूम्बा पुनः धरणीतलको सम्पूर्णरूपसे छोड़ पानी पर तैरने लगता है। इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, परिग्रह, अब्रह्मचर्य आदि अठारह पापोंके त्यागसे जीव अनुपूर्वसे आठ कर्म प्रकृत्तियोंके दलको क्षय कर गगनतलकी ओर उठता हुआ लोकाग्र पर प्रतिष्ठित होता है। इस तरह हे गौतम! जीव शीघ्र लघुत्वभावको —हल्केपनको प्राप्त करता है।

४—जहा कुम्मे सअङ्गाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेहावी, अज्झप्पेण समाहरे॥

सू० १, ८:१६

जैसे कच्छुआ अपने अंगोपांगको शरीरमें समेट कर खतरेसे अपनी रक्षा करता है, इसी तरह मेधावी पुरुष आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा आत्माको अन्तर्मुख कर पाप कर्मोंसे अपनी आत्माको बचावे।

६ : कामी पुरुषसे

१—जइसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइसि सक्खं पुरंदरो॥

उत्त० २२ : ४१

भले ही तू रूपमे वैश्रवण सदृश हो, और भोग लीलामे नलकूबर या साक्षात् इन्द्र हो—तो भी मै तेरी इच्छा नही करती।

२—पक्खंदे जलियं जोइं, धूमकेउं दुरासयं।
नेच्छंति वंतयं भोत्तुं, कुले जाया अगंधणे॥
धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥

उत्त० २२ : ४२, ४३

अगन्धन कुलमे उत्पन्न हुए सर्प जाज्वल्यमान—धूमकेतु अग्निमे जलकर मरना पसन्द करते है परन्तु वमन किये हुये विषको वापिस पीनेकी इच्छा नही करते। हे कामी! तू वमनकी हुई वस्तुको पीकर जीवित रहनेकी इच्छा करता है! इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा। धिक्कार है तुम्हारे यशको!

३—जइ तं काहिसी भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ।
वायाविद्धो व्व हढो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि॥

उत्त० २२ : ४५

अगर स्त्रियोको देख देखकर तू इस तरह प्रेम राग किया करेगा तो हवासे हिलते हुए हड वृक्षकी तरह चित्त समाधिको खो बैठेगा।

४—गोवालो भंडवालो वा, जहा तद्दव्वणिस्सरो।
एवं अणिस्सरो तं पि, सामण्णस्स भविस्ससि॥

उत्त० २२ : ४६

जैसे ग्वाल गायाको चराने पर भी उनका मालिक नही हो जाता और न भण्डारी धनकी सम्भाल करनेसे धनका मालिक, वैसे ही केवल वेषकी रक्षा मात्रसे तू साधुत्वका अधिकारी नही हो सकेगा। (अत. अपनी आत्माको सभाल और सयममे स्थिर हो)

५—कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥

द० अ० २ : १

जो मनुष्य सकल्प—विषयोके वश हो, पग-पग पर विषादयुक्त—शिथिल हो जाता है और कामरागका निवारण नही करता, वह श्रमणत्वका पालन कैसे कर सकता है ?

६—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीण चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥

द० अ० २ : २ ३

जो वस्त्र, गध, अलकार, स्त्री और पलग आदि भोग पदार्थोका परवशतासे—उनके अभावमे—सेवन नही करता, वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कात भोगोके सुलभ होने पर भी उन्हे पीठ दिखाता है—उनका सेवन नही करता।

७—समाइ पेहाइ परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहंपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं॥

द० अ० २ : ४

यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाश यह मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि वह मेरी नही है और न मै उसका हूं, मुमुक्ष विषय-रागको दूर करे।

८—आयावयाही चय सोअमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं।
छिंदाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥

द० अ० २ : ५

आत्माको तपाओ, सुकुमालता का त्याग करो। कामनाको दूर करो। निश्चय ही दुःख दूर होगा। सयमके प्रति द्वेषभावको छिन्न करो। विषयोके प्रति राग-भावका उच्छेद करो। ऐसा करनेसे ससारमें सुखी बनोगे।

७ : परम्परा

१—जहा य अंडप्पभवा बलागा, अंडं बलागप्पभवं जहा य ।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा, मोहं च तण्हाययणं वयन्ति ॥
उत्त० ३२ : ६

जैसे बलाका अण्डेसे उत्पन्न होता है और अण्डा बलाकासे, उसी प्रकार मोहका उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णाका उत्पत्ति स्थान मोह बताया गया है ।

२—रागो य दोसो वि य कम्मबीयं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति ॥
उत्त० ३२ : ७

राग और द्वेष—ये दो कर्मोके बीज—अकुर हैं । कर्म मोहसे उत्पन्न होता है । कर्म, जन्म और मरणका मूल है और जन्म मरणको दुःखकी परम्परा कहा गया है ।

३—दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥
उत्त० ३२ : ८

उसने दुःखका नाश कर दिया, जिसके मोह नही होता । उसका मोह नष्ट हो गया, जिसके तृष्णा नही होती । उसकी तृष्णा नष्ट हो गई, जिसके लोभ नही होता । उसका लोभ नष्ट हो गया, जो अकिञ्चन है ।

४—नाणस्स सव्वस्स पगासणाए, अन्नाणमोहस्स विवज्जणाए।
रागस्स दोसस्स य संखएणं, एगंतसोक्खं समुवेइ मोक्खं ॥
उत्त० ३२ : २

सर्व ज्ञानके प्रकाशसे, अज्ञान और मोहके विवर्जनसे तथा राग और द्वेषके क्षयसे जीव एकान्त सुख रूप मोक्षको प्राप्त करता है।

५—तस्सेस मग्गो गुरुविद्धसेवा, विवज्जणा बालजणस्स दूरा।
सज्झायएगंतनिसेवणा य, सुत्तत्थसंचिन्तणया धिई य ॥
उत्त० ३२ : ३

गुरु और वृद्ध संतोंकी सेवा, अज्ञानी जीवोंके संगका दूरसे ही वर्जन, एकाग्र चित्तसे स्वाध्याय और सूत्रार्थका भली प्रकार चिंतन तथा धृति—यह ही एकान्तिक सुखरूप मोक्षको प्राप्त करनेका मार्ग है।

८ : ज्ञान और क्रिया

१—जावन्तऽविज्जा पुरिसा, सव्वे ते दुक्खसंभवा ।
लुप्पन्ति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणन्तए ॥

उत्त० ६ : १

जो भी विद्याहीन—तत्त्वको नही जाननेवाले पुरुष है, वे सब दु खोके पात्र है । इस अनन्त ससारमे मूढ मनुष्य बार-बार दु ख पाते है ।

२—इहमेगे उ मन्नन्ति, अप्पचक्खाय पावगं ।
आयरियं विदित्ता णं सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥

उत्त० ६ : ८

इस ससारमें कई ऐसा मानते है कि पाप द्वारोको बन्द किए बिना—पापोका त्याग किए बिना—ही केवल आचारको जान लेनेसे जीव सर्व दु खोसे मुक्त हो जाता है—छूट जाता है ।

३—भणंता अकरेन्ता य, बन्धमोक्खपइण्णिणो ।
वायाविरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं ॥

उत्त० ६ : १०

ज्ञानसे ही मोक्ष बतलानेवाले पर किसी प्रकारकी क्रियाका अनुष्ठान न करनेवाले ऐसे बन्धमोक्षके व्यवस्थावादी लोग केवल वचनो की वीरता मात्रसे अपनी आत्माको आश्वासन देते है ।

४—न चित्ता तायए भासा, कुओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णा पावकम्मेहिं, बाला पंडियमाणिणो ॥

उत्त० ६ : ११

नाना प्रकारकी भाषाएं—विविध भाषा-ज्ञान जीवको दुर्गतिमें नहीं बचा सकता। जो पाप कर्मोमें निमग्न है और अपनेको पण्डित मानते हैं ऐसे मूर्ख मनुष्योंको भला विद्याओंका सीखना कहांसे रक्षक होगा ?

५—समिक्ख पण्डिए तम्हा, पासजाइपहे बहू ।
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥

उत्त० ६ : २

इसलिए पण्डित पुरुष नाना जातिपथके पाशको—एकेन्द्रिय आदि जीव-योनियोंके पाशको विचार कर आत्मा द्वारा सत्यकी गवेषणा करे और सर्वभूतों—प्राणियोंके प्रति मैत्री भाव रखे।

६—अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए ।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उवरए ॥

उत्त० ६ : ७

अपनी ही तरह सर्व प्राणियोंको सर्वतः अपनी-अपनी आत्मा प्रिय है—यह देखकर भय और वैरसे निवृत्त होता हुआ मुमुक्षु प्राणियोंके प्राणकी घात न करे।

७—जे केइ सरीरे सत्ता, वण्णे रूवे य सव्वसो ।
मणसा कायवक्केणं, सव्वे ते दुक्खसम्भवा ॥

उत्त० ६ : १२

जो कोई मनुष्य मन, वचन या कायासे सर्व प्रकारसे शरीर, वर्ण और रूपमें आसक्त होते हैं—वे सब अपने लिए दुःख उत्पन्न करते हैं।

८—बहिया उड्ढमादाय, नांवकंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे॥

उत्त० ६ : १४

आत्मिक सुख—जो इन्द्रिय सुखसे परे और ऊंचा है—उसकी इच्छा कर विषयकी कभी भी इच्छा न करे। इस देहका पालन-पोषण आत्म शुद्धिके लिए—पूर्व कर्मोंके क्षयके लिए ही करे।

९ : सच्चा संग्राम

सद्धं नगरं किच्चा, तवसंवरमग्गलं।
खन्ति निउणपागारं, तिगुत्तं दुप्पधंसयं॥
धणुं परक्कमं किच्चा, जीवं च ईरियं सया।
धिइं च केयणं किच्चा, सच्चेण परिमन्थए॥
तव नाराय जुत्तेण, भित्तूणं कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए॥

उ० ६ : २०-२२

श्रद्धारूपी नगर कर, तप-संवर रूप अर्गला बना, क्षमारूपी मजबूत कोट बना, मन, वचन और कायारूपी बुर्ज, खाई और शतघ्नि—इन गुप्तियोंसे उसे सुरक्षित और अजय कर, पराक्रम रूपी धनुष्य ले, उस पर ईर्या समिति रूपी प्रत्यञ्चा चढा, उसे धृति रूपी मूठसे पकड, सत्यरूपी चाप द्वारा उसे खींच, तपरूपी बाणसे कर्मरूपी कंचुक—कवचको भेदन करनेवाला मुनि संग्रामका हमेशाके लिए अन्त ला संसारसे मुक्त हो जाता है।

१० : यज्ञ

१—छज्जीवकाए असमारभन्ता, मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं, एयं परिन्नाय चरन्ति दन्ता ॥

उत्त० १२।४१

(विशुद्ध यज्ञकी कामना करने वाले) छ प्रकारके जीवकायका समारम्भ—हिंसा न करते हुए, झूठ और चोरीका सेवन न करते हुए, परिग्रह, स्त्रिया और मानमायाका परित्याग करते हुए दमेन्द्रिय होकर रहे।

२—सुसंवुडा पंचहिं संवरेहिं, इह जीवियं अणवकंखमाणा।
वोसट्ठकाया सुइचत्तदेहा, महाजयं जयइ जन्नसिट्ठं ॥

उत्त० १२।४२

जो पाच सवरोसे सुसवृत है, जो एहिक जीवनकी आकाक्षा नहीं करते, जो कायाकी ममता छोड़ चुके है तथा जो पवित्र और त्यक्तदेह है, वे ही महाजयके हेतु श्रेष्ठ यज्ञको करते है।

३—तवो जोई जीवो जोइठाणं, जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजमजोगसन्ती, होमं हुणामि इसिणं पसत्थं ॥

उत्त० १२।४४

तप अग्नि है, जीव ज्योति स्थान है। मन, वचन, कायाके योग कुडछी है, शरीर कारिपाग है, कर्म इंधन है, सयमयोग शान्तिपाठ है। ऐसे ही होमसे मैं हवन करता हू। ऋषियोने ऐसे ही होमको प्रशस्त कहा है।

११ : तीर्थ स्नान

धम्मे हरए बम्भे सन्तितित्थे, अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो, सुसीइभूओ पजहामि दोसं॥
एयं सिणाणं कुसलेहिं दिट्ठं, महासिणाणं इसिणं पसत्थं।
जहिं सिणाया विमला विसुद्धा, महारिसी उत्तमं ठाणं पत्ते॥

उत्त० १२ : ४६-४७

धर्म मेरा जलाशय है, ब्रह्मचर्य मेरा शान्ति तीर्थ है, आत्माकी प्रसन्न लेश्या मेरा निर्मल घाट है, जहां स्नान कर आत्मा विशुद्ध होती है।

इस प्रकार अत्यन्त शीतल होकर दोषरूपी मलको छोडता हू। ऐसा ही स्नान कुशल पुरुषो द्वारा भली प्रकार देखा गया है और यही महास्नान ऋषियोके लिए प्रशस्त है। ऐसा ही स्नान कर विमल और विशुद्ध हो महर्षि उत्तम स्थानको प्राप्त हुए है।

१२ : विषय गृद्धि और विनाश

१—सद्दस्स सोयं गहणं वयंति, सोयस्स सद्दं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उ० ३२ : ३६

कान शब्दका ग्राहक है और शब्द कानका ग्राह्य विषय बतलाया गया है । मनोहर शब्द रागका कारण बतलाया गया है और अमनोहर द्वेषका ।

सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं ।
रागाउरे हरिणमिगे व मुद्धे, सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं ॥

उ० ३२ : ३७

जिस तरह शब्दमें मुग्ध बना रागातुर हरिण-मृग अतृप्त ही मृत्यु का ग्रास बनता है, उसी तरह शब्दके विषयमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला पुरुष अकालमें ही विनाशको प्राप्त होता है ।

एमेव सद्दंमि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उ० ३२ : ४६

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है । द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है, जो विपाककालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं ।

२—रूवस्स चक्खुं गहणं वयंति, चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति।
राग़स्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥
उ० ३२ : २३

चक्षु रूपको ग्रहण करता है और रूप चक्षुका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर रूप रागका कारण बतलाया गया है और अमनोहर रूप द्वेषका।

रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे से जह वा पयंगे, आलोयलोले समुवेइ मच्चुं॥
उ० ३२ : २४

जिस तरह रागातुर पतग आलोकमें मोहित हो अतृप्त अवस्थामें ही मृत्युको प्राप्त करता है, उसी तरह रूपमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही मरणको प्राप्त होता है।

एमेव रूवम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे॥
उ० ३२ : ३३

इसी तरह रूपके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेपमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय करता है, जो विपाक कालमें पुन बडे दुःखदायी होते है।

३—गंधस्स घाणं गहणं वयंति, घाणस्स गंधं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु॥
उ० ३२ : ४६

नाक गन्धको ग्रहण करता है और गन्ध नाकका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। सुगन्ध रागकी हेतु बताई गई है और दुर्गन्ध द्वेषकी हेतु।

गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे, सप्पे विलाओ विव निक्खमंते ॥

उ० ३२ : ५०

जिस तरह रागातुर सर्प ओषधिकी गन्धसे गृद्ध हो बिलसे निकलता हुआ विनाश पाता है उसी तरह गंधमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव गंधम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥

उ० ३२ : ५६

इसी तरह गन्धके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका संचय करता है जो विपाककालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते है।

४—रसस्स जिब्भं गहणं वयंति, जिब्भाए रसं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥

उ० ३२ : ६२

जिह्वा रसको ग्रहण करती है और रस जिह्वाका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर रस रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर रस द्वेषका।

रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥

उ० ३२ : ६३

जिस तरह रागातुर मछली आमिष खानेकी गृद्धिके वश कांटेसे बिंधी जाकर मरणको प्राप्त होती है, उसी तरह जो रसमें तीव्र गृद्धि रखता है वह अकालमें ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव रसम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरंपराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥
उ० ३२ : ७२

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दु:ख समूहकी परम्पराका भागी होता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय करता है जो विपाक कालमें पुन. बडे दु:खदायी होते हैं।

५—फासस्स कायं गहण वयंति, कायस्स फासं गहणं वयंति।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥
उत्त० ३२ : ७५

काया स्पर्शकी ग्राहक है और स्पर्श कायाका ग्राह्य विषय बतलाया गया है। मनोहर स्पर्श रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर स्पर्श द्वेषका।

फासेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे सीयजलावसन्ने, गाहग्गहीए महिसे वरण्णे ॥
उत्त० ३२ : ७६

जिस तरह जगलके शीतल जलाशयमें निमग्न रागातुर महिष ग्राह द्वारा पकड़ी जाती है, उसी तरह स्पर्शके विषयमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य अकालमे ही विनाशको प्राप्त करता है।

एमेव फासंभि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोह परंपराओ।
पदुट्ठ चित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥
उत्त० ३२ : ८५

इसी तरह शब्दके विषयमें द्वेषका प्राप्त हुआ जीव दु:ख समूहकी परम्पराको प्राप्त करता है। द्वेषमय चित्त द्वारा वह कर्मोंका सचय करता है जो विपाक-कालमें पुनः बड़े दु:खदायी होते हैं।

६—भावस्स मणं गहणं वयंति, मणस्स भावं गहणं वयंति ।
रागस्स हेउं समणुन्नमाहु, दोसस्स हेउं अमणुन्नमाहु ॥
उत्त० ३२ : ८८

मन भावको ग्रहण करता है और भाव मनका ग्राह्य-विषय है। मनोहर भाव रागका हेतु कहा गया है और अमनोहर भाव द्वेषका।

भावेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं, अकालियं पावइ से विणासं।
रागाउरे कामगुणेसु गिद्धे, करेणुमग्गावहिए व नागे ॥
उत्त० ३२ : ८९

जिस तरह कामभावमे गृद्ध और रागातुर हाथी हथिनीके द्वारा मार्ग-भ्रष्ट कर दिया जाता है, उसी तरह भावके विषयमें तीव्र गृद्धि रखने वाला मनुष्य अकालमें ही विनाशको प्राप्त होता है।

एमेव भावम्मि गओ पओसं, उवेइ दुक्खोहपरम्पराओ।
पदुट्ठचित्तो य चिणाइ कम्मं, जं से पुणो होइ दुहं विवागे ॥
उत्त० ३२ : ९८

इसी तरह भावके विषयमें द्वेषको प्राप्त हुआ जीव दुःख समूह की परम्पराको प्राप्त होता है। प्रदुष्ट चित्त द्वारा वह कर्मोका सचय कराता है, जो विपाक-कालमें पुनः बड़े दुःखदायी होते हैं।

१३ : तृष्णा और दुःख

१—सद्दाणुगासाणुगए य जीवे, चराचरे हिंसइ णेगरूवे।
चित्तेहि ते परितावेइ बाले, पीलेइ अत्तट्ठगुरू किलिट्ठे ॥
उत्त० ३२ : ४०

शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भावकी तृष्णासे वशीभूत अज्ञानी जीव अपने स्वार्थके लिए चराचर नाना प्रकारके जीवोंकी हिंसा करता है। उन्हे कई प्रकारसे परिताप देता और पीडा पहुचाता है।

२—सद्दाणुवाएण परिग्गहेण, उप्पायणे रक्खणसन्निओगे।
वए विओगे य कहं सुहं से, संभोगकाले य अतित्तलाभे ॥
उत्त० ३२ : ४१

शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और भाव इनकी लालसाके कारण परिग्रह, उत्पादन, रक्षण और प्रबन्धकी चिन्ता लगी रहती है; विनाश और वियोगका भय बना रहता है और सम्भोग कालमें अतृप्ति रहती है। ऐसी हालतमें मनुष्यको विषयोंमें सुख कहासे हो सकता है?

३—सद्दे अतित्ते य परिग्गहम्मि, सत्तोवसत्तो न उवेइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं ॥
उत्त० ३२ : ४२

शब्दादि विषयोंमें अतृप्त और परिग्रहमें आसक्त जीव कभी संतोषको प्राप्त नही होता। इस असंतोष भावके कारण दुःखी हो लोभवश दूसरोकी चीजोको चोरी करने लगता है।

४—तण्हाभिभूयस्स अदत्तहारिणो, सद्दे अतित्तस्स परिग्गहे य।
मायामुसं वड्ढइ लोभदोसा, तत्थावि दुक्खा न विमुच्चई से॥
उत्त० ३२ : ४३

तृष्णासे अभिभूत, चौर्य कर्ममें प्रवृत्त और शब्दादि विषयों और परिग्रहमें अतृप्त पुरुष लोभके दोषसे माया और मृषाकी वृद्धि करता है, तथापि वह दुःखसे मुक्त नहीं हो पाता।

५—मोसस्स पच्छा य पुरत्थओ य, पओगकाले य दुही दुरंते।
एवं अदत्ताणि समाययंतो, सद्दे अतित्तो दुहिओ अणिस्सो॥
उत्त० ३२ : ४४

मृषावादके पहले और पीछे तथ मृषावाद करते समय वह दुरंत दुष्ट कर्म करनेवाली आत्मा अवश्य दुःखी होती है। चोरीमें प्रवृत्त और शब्दादिमें अतृप्त हुई आत्मा दुःखको प्राप्त होती है तथा उसका कोई सहायक नहीं होता।

६—सद्दाणुरत्तस्स नरस्स एवं, कत्तो सुहं होज्ज कयाइ किंचि।
तत्थोवभोगे वि किलेसदुक्खं, निव्वत्तई जस्स कएण दुक्खं॥
उत्त० ३२ : ४५

शब्दादि विषयोंमें आतुर पुरुषको उपरोक्त परिस्थितिओंमें कैसे सुख हो सकता है? शब्दादि विषयोके उपभोगकालमें भी वह क्लेश और दुःखका ही एकत्रित करता है।

१५ : वीतराग कौन ?

१—चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

उत्त० ३२ : २२

रूप चक्षुका ग्राह्य है। रूप चक्षुका विषय है। यह जो रूपका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो रूपका अप्रिय लगना है, उसे द्वेपका हेतु। जो इन दोनोमें समभाव रखता है, वह वीतराग है।

२—सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

उत्त० ३२ : ३५

शब्द श्रोत ग्राह्य है। शब्द कानका विषय है। यह जो शब्दका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो शब्दका अप्रिय लगना है उसे द्वेपका हेतु। जो इन दोनोमें समभाव रखता है, वह वीतराग है।

३—घाणस्स गंधं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोष हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो ॥

उत्त० ३२ : ४८

गध घ्राण ग्राह्य है। गध नाकका विषय है। यह जो गधका

प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो गंधका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

४—जिब्भाए रसं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयराओ।
उत्त० ३२ : ६१

रस जिह्वा ग्राह्य है। रस जिह्वाका विषय है। यह जो रसका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो रसका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

५—कायस्स फासं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥
उत्त० ३२ : ७४

स्पर्श काय ग्राह्य है। स्पर्श शरीरका विषय है। यह जो स्पर्शका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो स्पर्शका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

६—मणस्स भावं गहणं वयंति, तं राग हेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोस हेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥
उत्त० ३२ : ८७

भाव मन ग्राह्य है। भाव मनका विषय है। यह जो भावका प्रिय लगना है, उसे रागका हेतु कहा है और यह जो भावका अप्रिय लगना है, उसे द्वेषका हेतु। जो दोनोमें समभाव रखता है वह वीतराग है।

१५ : विषय और विकार

१—एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥

उत्त० ३२ : १००

इन्द्रियोंके और मनके विषय रागी मनुष्यको ही दु खके हेतु होते है। ये ही विषय वीतरागको कदाचित् किंचित् मात्र भी—थोडा भी दु.ख नही पहुचा सकते।

२—सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥

उत्त० ३२ : ४७

शब्द, रूप, गध, रस, स्पर्श, और भाव इनके विषयोसे विरक्त पुरुष शोक रहित होता है। वह इस ससारमें बसता हुआ भी दु ख समूहकी परम्परासे उसी तरह लिप्त नही होता जिस तरह पुष्करिणीका पलाश जल से।

३—न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगइं उवेन्ति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगइं उवेइ ॥

उत्त० ३२ : १०१

कामभोग—शब्द रूप आदिके विषय समभाव—उपशमके हेतु नही है और न ये विकारके हेतु है। किन्तु जो उनमे परिग्रह—राग

अथवा द्वेष करता है वही मोह—राग द्वेषके कारण विकारको उत्पन्न करता है।

४—विरज्जमाणस्स य इंदियत्था, सद्दाइया तावइयप्पगारा।
न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा, निव्वतयंती अमणुन्नयं वा॥
उत्त० ३२ : १०६

जो इन्द्रियोके शब्दादि नाना प्रकारके विषयोसे विरक्त है उसके लिए ये सब विषय मनोज्ञता या अमोनज्ञताका भाव पैदा नही करते।

५—कोहं च माणं च तहेव मायं, लोहं दुगुञ्छं अरइं रइं च।
हासं भयं सोगपुमित्थिवेयं, नपुसंवेयं विविहे य भावे॥
आवज्जई एवमणेगरूवे, एवंविहे कामगुणेसु सत्तो।
अन्ने य एयप्पभवे विसेसे, कारुण्ण दीणे हिरिमे वइस्से॥
उत्त० ३२ : १०२, १०३

जो काम गुणोमे आसक्त होता है वह क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, अरति, रति, हास्य, भय, शोक, पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसक वेद आदि विविध भाव और इसी तरह इसी प्रकारके विविध रूपोको प्राप्त होता है तथा अन्य भी इनसे उत्पन्न विशेष करुणा, दीनता, लज्जा और घृणाके भावोका पात्र बन जाता है।

६—सवीयरागो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं।
तहेव जं दंसणमावरेइ, जं चंतरायं पकरेइ कम्मं॥
उ० ३२। १०८॥

जो वीतराग है, वह सर्व तरहसे कृतकृत्य है। वह क्षण मात्रमें ज्ञानावरणीय कर्मका क्षय कर देता है और इसी तरहसे जो दर्शनको ढकता है, उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है, उस अन्तराय कर्मका भी क्षय कर डालता है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य, अमोहणे होइ निरंतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते, आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥
उ० ३२। १०९ ॥

तदनन्तर वह आत्मा सब कुछ जानती देखती है तथा मोह और अन्तरायसे सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवोंसे रहित ध्यान और समाधिसे युक्त वह विशुद्ध आत्मा; आयु समाप्त होने पर मोक्षको प्राप्त करती है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं।
दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंतसुही कयत्थो ॥
उ० ३२। ११० ॥

फिर वह सर्व दुःखसे जो जीवको सतत् पीड़ा देते हैं, मुक्त हो जाती है। दीर्घ रोगसे विप्रमुक्त हो वह कृतार्थ आत्मा अत्यन्त प्रशस्त सुखी होती है।

१६ : बाल वीर्य : पण्डित वीर्य

१—दुहा वेयं सुयक्खायं, वीरियं ति पवुच्चई।
किं नु वीरस्स वीरत्तं, कहं चेयं पवुच्चई॥

सू० १, ८ : १

वीर्य दो प्रकारका कहा गया है। वीर पुरुषकी वीरता क्या है? किस कारण वह वीर कहा जाता है?

२—कम्ममेगे पवेदेन्ति, अकम्मं वा वि सुव्वया।
एएहिं दोहि ठाणेहि, जेहिं दीसन्ति मच्चिया॥

सू० १, ८ : २

हे सुव्रती! कई कर्मको वीर्य कहते है और कई अकर्मको वीर्य कहते है। मृत्युलोकके सब प्राणी इन्ही दो भेदोमे देखे जाते है।

३—पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं।
तब्भावादेसओ वा वि, बालं पंडियमेव वा॥

सू० १, ८ : ३

ज्ञानियोने प्रमादको कर्म और अप्रमादको अकर्म कहा है। अत प्रमादके होनेसे बालवीर्य और अप्रमादके होनेसे पण्डित वीर्य होता है।

४—सत्थमेगे तु सिक्खंता, अइवायाय पाणिणं।
एगे मंते अहिज्जंति, पाणभूयविहेडिणो॥

सू० १, ८ : ४

कई बाल-मूर्ख जीव, प्राणियोंका वध करनेके लिए शस्त्र विद्या सीखते हैं और कई प्राणभूतोंके विनाशक मन्त्रोंकी आराधना करते हैं।

५—मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो।
आरओ परओ वा वि, दुहा वि य असंजया॥

सू० १, ८ : ६

असयमी पुरुष मन, वचन और कायासे अपने लिए या परके लिए शत्रुता करते और कराते हैं।

६—वेराइं कुव्वई वेरी, तओ वेरेहि रज्जई।
पावोवगा य आरंभा, दुक्खफासा य अन्तसो॥

सू० १, ८ : ७

वैरी वैर करता है और फिर दूसरोंके वैरका भागी होता है। इस तरह वैरसे वैर आगे बढ़ता जाता है। पापोत्पन्न करनेवाले आरम्भ अन्तमें दुःखकारक होते हैं।

७—संपरायं णियच्छंति, अत्तादुक्कडकारिणो।
रागदोसस्सिया बाला, पावं कुव्वंति ते बहुं॥

सू० १, ८ : ८

बाल—मूर्ख जीव, राग-द्वेषके आश्रित हो अनेक पाप करते हैं। जो अपनी आत्मासे दुष्कृत करते हैं वे साम्परायिक कर्मका बन्धन करते हैं।

८—एयं सकम्मवीरियं, बालाणं तु पवेइयं।
इत्तो अकम्मविरियं, पंडियाणं सुणेह मे॥

सू० १, ८ : ९

यह बाल जीवोंका सकर्म वीर्य कहा है, अब पण्डितोंका अकर्म वीर्य मुझसे सुनो।

९—नेयाउयं सुयक्खायं, उवादाय समीहए।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं, असुहत्तं तहा तहा॥

सू० १, ८ : ११

बाल वीर्य पुनः पुनः दुःखावास है। प्राणी बालवीर्यका जैसे जैसे उपयोग करता है वैसे वैसे अशुभ होता है। सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये नेता—मोक्षकी ओर ले जानेवाले मार्ग कहे गये हैं। इन्हें ग्रहण कर पण्डित अपनी मुक्तिका उद्योग करे।

१०—दविए बंधणुम्मुक्के, सव्वओ छिन्नबंधणे।
पणोल्ल पावगं कम्मं, सल्लं कंतइ अन्तसो॥

सू० १, ८ : १०

जो राग-द्वेषसे रहित होता है, जो कषायरूपी बन्धनसे उन्मुक्त है, जो सर्वश: स्नेह बन्धनोंको काट चुका वह पाप कर्मोंको रोक, अपनी आत्मामें लगे हुए शल्यको समूलत: उखाड डालता है।

११—ठाणी विविहठाणाणि, चइस्संति ण संसओ।
अणियए अयं वासे णायएहि सुहीहि य॥
एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्मसकोवियं॥

सू० १, ८ : १२-१३

इसमें संशय नहीं कि विविध स्थानोंके स्थानी—वासी, अपने-अपने स्थानों—वासोंको कभी न कभी छोड़ेंगे। ज्ञाति और सुहृदोंके साथ यह सवास अनित्य है। पण्डित ऐसा विचार कर, आत्माके ममत्वभावको उच्छेद डाले तथा सर्वधर्मोंसे अनिन्द्य आर्य धर्मको ग्रहण करे।

१२—जं किंचुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अन्तरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पण्डिए ॥
सू० १, ८ : १५

पण्डित पुरुष किसी प्रकार अपनी आयुका क्षयकाल जाने तो उसके पहले ही शीघ्र सलेखनारूप शिक्षाको ग्रहण करे।

१३—अइक्कम्मंति वायाए, मणसा वि न पत्थए।
सव्वओ संवुडे दन्ते, आयाणं सुसमाहरे ॥
सू० १, ८ : २०

सच्चा वीर, मन, वचन और कायासे किसी प्राणीका अतिक्रम करना न चाहे। बाहर और भीतर सब ओरसे गुप्त और दान्त पुरुष मोक्ष देनेवाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपरूपी वीरताको अच्छी तरह ग्रहण करे।

१४—कडं च कज्जमाणं च, आगमिस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणन्ति, आयगुत्ता जिइंदिया ॥
सू० १, ८ : २१

आत्मगुप्त जितेन्द्रिय पुरुष किसीके द्वारा किये गये तथा किये जाते हुए और भविष्यमें किये जानेवाले पापोका अनुमोदन नही करता।

१५—झाणजोगं समाहट्टु, कायं विउस्सेज सव्वसो।
तितिक्खं परमं नच्चा, आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ॥
सू० १, ८ : २६

पण्डित पुरुष ध्यानयोगको ग्रहण कर, सर्व प्रकारसे शरीर, मन और कायाको बुरे व्यापारोसे हटावे। तितिक्षाको परम प्रधान समझ शरीरपात पर्यन्त सयमका पालन करता रहे।

१६—अणु माणं च मायं च, तं पडिन्नाय पंडिए।
आयतट्ठं सुआदाय, एवं वीरस्स वीरियं॥
सू० १, ८ : १८

पण्डित पुरुष बुरे फलको जान अणुमात्र भी माया और मान न
े। मोक्षार्थको—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूपी मुक्ति-मार्गको
-ग्रहण कर धैर्यपूर्वक क्रोधादि विकारोको जीतनेका पराक्रम—यही
र्य है और ऐसा वीर्य-पराक्रम ही वीर पुरुषकी वीरता है।

१७—जे याबुद्धा महाभागा, वीरा असमत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं, सफलं होइ सव्वसो॥
सू० १, ८ : २२

जो अबुद्ध है—परमार्थको नही जानते और सम्यग्दर्शनसे रहित है
े ससारमें पूजे जानेवाले वीर पुरुषोका सासारिक पराक्रम अशुद्ध है
ौर वह ससार-वृद्धिमें सर्वश. सफल होता है।

१८—जे य बुद्धा महाभागा, वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं, अफलं होइ सव्वसो॥
सू० १, ८ : २३

जो बुद्ध है—परमार्थको जाननेवाले है और सम्यग्दर्शनसे सहित
, उन महाभाग वीरोका आध्यात्मिक पराक्रम शुद्ध होता है और वह
ंसार वृद्धिमें सर्वश निष्फल होता है।

१७ : बाल मरण : पण्डित मरण

१—सन्तिमे य दुवे ठाणा, अक्खाया मारणन्तिया।
अकाममरणं चेव, सकाममरणं तहा॥

उत्त० ५ : २

मरणान्तके ये दो स्थान कहे गये है—एक अकाममरण और दूसरा सकाममरण।

२—बालाणं अकामं तु, मरणं असइं भवे।
पण्डियाणं सकामं तु, उक्कोसेण सइं भवे॥

उत्त० ५ : ३

बालोका—मूर्खोका अकाममरण निश्चय ही बार-बार होता है, किन्तु पण्डितोका सकाममरण उत्कर्षसे एक ही बार होता है।

३—हिंसे बाले मुसावाई, माइल्ले पिसुणे सढे।
भुंजमाणे सुरं मंसं, सेयमेयं ति मन्नई॥

उत्त० ५ : ६

हिंसा करनेवाला, झूठ बोलनेवाला, छल-कपट करनेवाला, चुगली खानेवाला, शठता करनेवाला तथा मांस और मदिरा खाने-पीनेवाला मूर्ख जीव—य कार्य श्रेय है—ऐसा मानता है।

४—तओ से दण्डं समारभई, तसेसु थावरेसु य।
अट्ठाए य अणट्ठाए, भूयगामं विहिंसई॥

उत्त० ५ : ८

फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवोको कष्ट पहुचाना शुरू करता है तथा प्रयोजनसे या विना प्रयोजन ही प्राणी समूहकी हिंसा करता है।

५—कायसा वयसा मत्ते, वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ, सिसुणागो व्व मट्टियं॥
उत्त० ५ : १०

जो काया और वाचासे अभिमानी है और कामिनी काचनमें गृद्ध है, वह राग और द्वेष दोनोसे उसी प्रकार कर्म-मलका सचय करता है, जिस तरह शिशुनाग मुख और शरीर दोनोसे मिट्टीका।

६—तओ पुट्ठो आयंकेणं, गिलाणो परितप्पई।
पभीओ परलोगस्स, कम्माणुप्पेहि अप्पणो॥
उत्त० ५ : ११

फिर वह मूर्ख जीव आतकसे स्पृष्ट होनेपर अपने कर्मोको देख, परलोकसे भयभीत हो, ग्लानि पाता हुआ परिताप करता है।

७—सुया मे नरए ठाणा, असीलाणं च जा गई।
बालाणं कूरकम्माणं, पगाढा जत्थ वेयणा॥
उत्त० ५ : १२

तओ से मरणन्तम्मि, बाले संतस्सई भया।
अकाममरणं मरई, धुत्ते व कलिणा जिए॥
उत्त० ५ : १६

'शील रहित क्रूरकर्म करनेवाले मूर्ख मनुष्योकी जो गति होती है वह मैने सुनी है। उन्हे नर्कमें स्थान मिलता है, जहा प्रगाढ़ वेदना है'—मरणान्तके समय मूर्ख मनुष्य इसी तरह भयसे सत्रस्त होता है और आखिर, एक ही दावमें हार जानेवाले जुआरीकी तरह, अकाम मृत्युसे मरता है।

९—मरणंपि सपुण्णाणं, जहा मेयमणुस्सुयं।
विप्पसण्णमणाघायं, संजयाणं वुसीमओ ॥

उत्त० ५ : १८

बाल-मूर्ख जीवोंके अकाम मरणको मुझसे सुना है, उसी तरह पुण्यवान और जितेन्द्रिय संयमियोंके प्रसन्न और आघातरहित सकाम-मरणको भी सुनो।

१०—न इमं सव्वेसु भिक्खूसु, न इमं सव्वेसु गारिसु।
नाणासीला अगारत्था, विसमसीला य भिक्खुणो ॥

उत्त० ५ : १९

यह सकाममरण न सब भिक्षुओंको प्राप्त होता है और न सब गृहस्थोंको। क्योंकि गृहस्थोंके नाना—विविध शील हैं और भिक्षु विषम-शील हैं—सब समान शीलवाले नहीं।

११—अगारि सामाइयंगाइं, सड्ढी काएण फासए।
पोसहं दुहओ पक्खं, एगरायं न हावए ॥

उत्त० ५ : २३

श्रद्धालु अगारी—गृहस्थ सामायिकके अंगोंका कायासे सम्यक् रूप से पालन करे। दोनों पक्षोंमें[1] एक रातको भी बाद न देता हुआ पौषध करे।

१२—एवं सिक्खासमावन्ने, गिहिवासे वि सुव्वए।
मुच्चई छविपव्वाओ, गच्छे जक्खसलोगयं ॥

उत्त० ५ : २४

इस प्रकार शिक्षायुक्त सुव्रती गृहवास करता हुआ भी हाड़-मासके

१—अमावस्या और पूर्णिमा।

इस शरीरको छोड यक्षलोक—देवलोकको जाता है।

१३—अह जे संवुडे भिक्खू, दोण्हं अन्नयरे सिया।
सव्वदुक्खपहीणे वा, देवे वावि महिड्ढिए॥
उत्त० ५ : २५

तथा जो संवृतात्मा भिक्षु है, वह दोनोंमेंसे एक गतिको पाता है। या तो वह सर्व दुःख क्षय हो गये है जिसके ऐसा सिद्ध होता है अथवा महाऋद्धिवाला देव होता है।

१४—ताणि ठाणाणि गच्छन्ति, सिक्खित्ता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, जे सन्ति परिनिव्वुडा॥
उत्त० ५ : २८

संयम और तपके अभ्यास द्वारा जो वासनासे परिनिवृत है वे भिक्षु हो या गृहस्थ—दिव्य देवगतिको जाते है।

१५—तेसिं सोच्चा सपुज्जाणं, संजयाणं वुसीमओ।
न संतसंति मरणंते, सीलवन्ता बहुस्सुया॥
उत्त० ५ : २९

पूज्य जितेन्द्रिय संयमियोकी मनोहर गतिको सुनकर, शीलसम्पन्न और बहुश्रुत पुरुष मरणान्तके समय संतप्त नही होते।

१६—तुलिया विसेसमादाय, दयाधम्मस्स खन्तिए।
विप्पसीएज्ज मेहावी, तहाभूएण अप्पणा॥
उत्त० ५ : ३०

अकाम और सकाम—इन दोनो मरणोको तोल, विवेकी पुरुष विशेषको ग्रहण करे। क्षमा द्वारा दया-धर्मका प्रकाश कर मेधावी तथाभूत आत्मासे अपनी आत्माको प्रसन्न करे।

१७—तओ काले अभिप्पेए, सड्ढी तालिसमन्तिए।
विणएज्ज लोमहरिसं, भेयं देहस्स कंखए॥

उत्त० ५ : ३१

बादमें श्रद्धावान पुरुष काल—अवसर—आनेपर गुरुजनोंके समीप, रोमाञ्चकारी मृत्युभयको दूर कर देहभेदकी चाह करे।

१८—अह कालम्मि संपत्ते, आघायाय समुस्सयं।
सकाममरणं मरई, तिण्हमन्नयरं मुणी॥

उत्त० ५ : ३२

कालके उपस्थित होनेपर, संलेखना आदिके द्वारा शरीरका अन्त करता हुआ साधु, मृत्युके तीन प्रकारोंमें से किसी एकके द्वारा सकाम मृत्युको प्राप्त करे।

१८ : दृष्टान्त

[१]

१—जहाऽऽएसं समुद्दिस्स, कोई पोसेज्ज एलयं ।
ओयणं जवसं देज्जा, पोसेज्जावि सयङ्गणे ॥
तओ से पुट्ठे परिवूढे, जायमेए महोदरे ।
पीणिए विउले देहे, आएसं परिकंखए ॥
जाव न एइ आएसे, ताव जीवइ से दुही ।
अह पत्तम्मि आएसे, सीसं छेत्तूण भुज्जई ॥
जहा से खलु ओरब्भे, आएसाए समीहिए ।
एवं बाले अहम्मिट्ठे, ईहई नरयाउयं ॥

उत्त० ७ : १-४

जैसे कोई अतिथिके उद्देश्यसे एलकका पोषण करता है, उसे चावल और जौ खिलाता है और अपने आगनमें रखता है और जैसे इस तरह पोषा हुआ वह एलक पुष्ट, परिवृद्ध, जातमेद, महाउदर और विपुल देहवाला होनेपर अतिथिकी प्रतीक्षामात्रके लिए होता है ।

इस तरह जैसे वह एलक निश्चय रूपसे अतिथिके लिए ही पोषा जाता है—जब तक अतिथि नही आता तब तक जीता है पर अतिथिके आनेपर शिरसे छेदा जाता है उसी प्रकार अधर्मिष्ठ मूर्ख मनुष्य मानो नरकायुके लिए ही पुष्ट होता है ।

२—हिंसे बाले मुसावाई, अद्धाणंमि विलोवए।
अन्नदत्तहरे तेणे, माई कं न हरे सढे॥
इत्थीविसयगिद्धे य, महारम्भपरिग्गहे।
भुंजमाणे सुरं मसं, परिवूढे परंदमे॥
अयकक्करभोई य, तुंदिल्ले चियलोहिए।
आउयं नरए कंखे, जहाऽऽएसं व एलए॥

उत्त० ७ : ५-७

जो मूर्ख, हिंसक है, झूठ बोलनेवाला है, मार्गमें लूटनेवाला है, बिना दी हुई वस्तुको लेनेवाला चोर है, मायी है, और किसको हरण करूँ—ऐसे विचारवाला शठ है, जो स्त्री और विषयोंमें गृद्ध है, जो महारम्भी और महापरिग्रही है, जो सुराका पान करनेवाला है, बलवान होकर दूसरेको दमन करनेवाला है और जो कर्कर कर बकरेके मांसको खाने वाला है—ऐसा बड़े पेट और उपचित लोहीवाला मूर्ख ठीक उसी तरह नर्कायुको आकांक्षा करता है जिस तरह पोषा हुआ एलक अतिथि की।

३—आसणं सयणं जाणं, वित्तं कामे य भुंजिया।
दुस्साहडं धणं हिच्चा, बहुं संचिणिया रयं॥
तओ कम्मगुरू जंतू, पच्चुप्पन्नपरायणे।
अय व्व आगयाएसे, मरणंतम्मि सोयई॥
तओ आउपरिक्खीणे, चुयादेहा विहिंसगा।
आसुरीयं दिसं बाला, गच्छन्ति अवसा तमं॥

उत्त० ७ : ८-१०

आसन, शय्या, यान, वित्त और कामभोगोंको भोग मूर्ख जीव कर्म रजको सञ्चित कर गुरु बन जाता है। केवल वर्तमानको ही देखनेवाला ऐसा कर्मगुरु—कर्मोंसे भारी बना—प्राणी कष्टसे प्राप्त धनको यहीं

छोड़कर जाता हुआ मरणान्त कालमें उसी प्रकार सोच करता है जिस तरह पुष्ट एलक अतिथिके आनेपर। (अतिथिके पहुंचनेपर जैसे एलक शिरसे छेदा जाकर खाया जाता है) उसी तरह आयुष्यके क्षीण होने पर नाना प्रकारकी हिंसा करनेवाले मूर्ख, देहको छोड़, परवश बने अन्धकारयुक्त नरक दिशा—नरक गतिकी ओर जाते हैं।

[२]

जहा कागिणिए हेउं, सहस्सं हारए नरो।
अपत्थं अम्बगं भोच्चा, राया रज्जं तु हारए॥
एवं माणुस्सगा कामा, देव कामाण अन्तिए।
सहस्सगुणिया भुज्जो, आउं कामा य दिव्विया॥
अणेगवासानउया जा, सा पण्णवओ ठिई।
जाणि जीयन्ति दुम्मेहा, ऊणे वाससयाउए॥

उत्त० ७ : ११-१३;

जैसे एक काकिणीके लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरको हार देता है और जैसे अपथ्य आमको खाकर राजा राज्यको हार देता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगोंके लिए उत्तम सुखों—देव-सुखोंको खो देता है।

मनुष्योंके कामभोग—सहस्रगुण करनेपर भी आयु और भोगकी दृष्टिमें देवताओंके काम ही दिव्य होते हैं। मनुष्योंके काम देवताओंके कामोंके सामने वैसे ही हैं जैसे सहस्र मोहरके सामने काकिणी व राज्य के सामने आम। प्रज्ञावानकी देवलोकमें जो अनेक वर्षनयुतकी स्थिति है उसको दुर्बुद्धि—मूर्ख जीव—सौ वर्षसे भी न्यून आयुमें विषयभोगोंके वशीभूत होकर हार देता है।

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए।
कस्स हेउं पुराकाउं, जोगक्खेमं न संविदे ॥

उत्त० ७ : २४

इस सीमित आयुमें ये कामभोग कुशके अग्रभागके समान स्वल्प है। तुम किस हेतुको सामने रखकर आगेके योगक्षेमको नही समझते ?

बालस्स पस्स बालत्तं, अहम्मं पडिवज्जिया।
चिच्चा धम्मं अहम्मिट्ठे, नरए उववज्जई ॥
धीरस्स पस्स धीरत्तं, सव्वधम्माणुवत्तिणो।
चिच्चा अधम्मं धम्मिट्ठे, देवेसु उववज्जई ॥

उत्त० ७ : २८, २९

हे मनुष्य ! तू बाल जीवकी मूर्खता तो देख, जो अधर्मको ग्रहण कर तथा धर्मको छोड अधर्मिष्ठ हो नर्कमें उत्पन्न होता है।

हे मनुष्य ! तू धीर पुरुषकी धीरता तो देख, जो सब धर्मोंका पालन कर, अधर्मको छोड धर्मिष्ठ हो देवोमें उत्पन्न होता है।

[३]

जहा सागडिओ जाणं, समं हिच्चा महापहं।
विसमं मग्गमोइण्णो, अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥
एवं धम्मं विउक्कम्म, अहम्मं पडिवज्जिया।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयई ॥

उत्त० ५ : १४, १५

जिस तरह कोई जानकार गाडीवान समतल विशाल मार्गको छोड कर विषम मार्गमें पड जाता है और गाड़ीकी धुरी टूट जानेसे सोच करता है उसी तरह धर्मको छोड़ अधर्ममें पडनेवाला मूर्ख मृत्युके मुहमें पड़ा हुआ जीवनकी धुरी टूट जानेकी तरह शोक करता है।

[४]

१—जहा य तिन्नि वणिया, मूलं घेत्तूण निग्गया।
एगोऽत्थ लहई लाभं, एगो मूलेण आगओ॥
एगो मूलंपि हारित्ता, आगओ तत्थ वाणिओ।
ववहारे उवमा एसा, एवं धम्मे वियाणह॥

उत्त० ७ : १४, १५

तीन वणिक् मूल पूंजीको लेकर घरसे निकले। उनमेंसे एकने लाभ उठाया दूसरा मूलको लेकर आया और तीसरा मूल पूंजीको भी खोकर आया। जैसे व्यवहारमें यह उपमा है वैसे ही धर्मके विषयमें भी जानो।

२—माणुसत्तं भवे मूलं, लाभो देवगई भवे।
मूलच्छेएण जीवाणं, नरगतिरिक्खत्तणं धुवं॥

उत्त० ७ : १६

मनुष्य जीवन यह मूल धन है। देवगति लाभस्वरूप है। मूल-धनके नाशसे जीवोंको निश्चय ही हारस्वरूप नरक तिर्यञ्च गति मिलती है।

३—दुहओ गई बालस्स, आवई वहमूलिया।
देवत्तं माणुसत्तं च, जं जिए लोलयासढे॥
तओ जिए सई होई, दुविहं दुग्गइं गए।
दुल्लहा तस्स उम्मग्गा, अद्धाए सुचिरादवि॥

उत्त० ७ : १७, १८

धूर्त्त और लोलुप, अज्ञानी जीवकी, जिसने कि देवत्व और मनुष्यत्व को हार दिया है, नरक और तिर्यञ्च ये दो गतियां होती हैं, जो कष्ट-मूलक और वधमूलक हैं।

नरक और तिर्यञ्च इन दो प्रकारकी दुर्गतियोंमे गया हुआ जीव सदा ही हारा हुआ होता है क्योंकि इन उन्मार्गोंसे निकल विशाल पथपर आना दीर्घकालके बाद भी दुर्लभ है।

४—एवं जियं सपेहाए, तुलिया बालं च पण्डियं।
मूलियं ते पवेसन्ति, माणुसिं जोणिमेन्ति जे॥
वेमायाहिं सिक्खाहिं, जे नरा गिहिसुव्वया।
उवेन्ति माणुसं जोणिं, कम्मसच्चा हु पाणिणो॥

उत्त० ७ : १९, २०

इस प्रकार हारे हुएको देखकर तथा बाल और पण्डित भावको तोलकर जो मानुषी योनिमें आते हैं, वे मूलके साथ प्रवेश करते हैं।

५—जहा कुसग्गे उदगं, समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा, देवकामाण अंतिए॥
जेसिं तु विउला सिक्खा, मूलियं ते अइच्छिया।
सीलवन्ता सवीसेसा, अदीणा जन्ति देवयं॥

उत्त० ७ : २३, २१

जो नर कम-अधिक शिक्षाओ द्वारा गृहवासमें भी सुव्रती है, वे मानुषी योनिको प्राप्त करते हैं। प्राणीके कृत्य हमेशा सत्य होते हैं। उनका फल मिलता ही है।

जैसे कुशके अग्रभागपर रहा हुआ जल समुद्रकी तुलनामें नगण्य होता है उसी तरह मनुष्यके कामभोग देवोके कामभोगोके सामने नगण्य होते हैं।

जिन जीवोकी शिक्षाएँ विपुल हैं वे मूल पूजीको अतिक्रान्त कर जाते हैं। जो विशेषरूपसे शील और सदाचारसे युक्त होते हैं वे लाभरूप देवगतिको प्राप्त करते हैं।

[५]

कुजए अपराजिए जहा, अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं।
कडमेव गहाय नो कलिं, नो तीयं नो चेव दावरं ॥
एवं लोगम्मि ताइणा, बुइए जे धम्मे अणुत्तरे।
तं गिण्ह हियंति उत्तमं, कडमिव सेस वहाय पण्डिए ॥

सु० १, २। २ : २३-२४

जुआ खेलनेमें निपुण जुआडी जैसे जुआ खेलते समय 'कृत' नामक पाशेको ही ग्रहण करता है, 'कलि', 'द्वापर' और 'त्रेता' को नहीं और पराजित नहीं होता; उसी तरह पण्डित इस लोकमें जगत्राता सर्वज्ञोने जो उत्तम और अनुत्तर धर्म कहा है उसे ही अपने हितके लिए ग्रहण करे। पण्डित ग्रामधर्मोंको—इन्द्रिय-विषयोंको—उसी तरह छोड़ दे जिस तरह कुशल जुआड़ी 'कृत'के सिवा अन्य पाशोंको छोड़ता है।

[६]

१—जहा सुणी पूइकण्णी, निक्कसिज्जई सव्वसो।
एवं दुस्सील पडिणीए, मुहरी निक्कसिज्जई ॥

उत्त० १ : ४

जैसे सड़े हुए कानोवाली कुत्ती सब जगहसे दुतकारी जाती है, उसी तरह दुःशील, ज्ञानियोंसे प्रतिकूल चलनेवाला और वाचाल मनुष्य सब जगहसे तिरस्कृत किया जाता है।

२—कण कुण्डगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए ॥

उत्त० १ : ५

जैसे अनाजके कुण्डको छोड सूअर विष्ठाका भोजन करता है, उसी तरह मृगकी तरह मूर्ख मनुष्य शील छोड दुःशीलमें रमण करता है ।

३—सुणियाभावं साणस्स, सूयरस्स नरस्सय ।
विणए ठविज्ज अप्पाणं, इच्छंतो हियमप्पणो ॥

उत्त० १ : ६

कुत्ती और सूअरके साथ उपमित दुराचारीकी दुर्दशाको सुन अपनी आत्माका हित चाहनेवाला पुरुष अपनी आत्माको विनयमें—शीलमें—स्थापन करे ।

[७]

१—जविणो मिगा जहा संता परियाणेण वज्जिया ।
असंकियाइं संकंति संकिआइं असंकिणो ॥
परियाणियाणि संकंता पासियाणि असंकिणो ।
अन्नाणभयसंविग्गा संपलिंति तहिं तहिं ॥
अह तं पवेज्ज बज्झं अहे बज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ तं तु मंदे न देहई ॥
अहियप्पाहियप्पन्नाणे विसमंतेणुवागए ।
स बद्धे पयपासेणं तत्थ घायं नियच्छइ ॥

सू० १, १ । २: ६-६

जैसे सुरक्षित स्थानसे भटके हुए चचल मृग, शकाके स्थानमें शका नही करते और अशकाके स्थानमें शका करते है और इस तरह सुरक्षित स्थानमें शका करते हुए और पाशस्थानमें शका न करते हुए वे अज्ञानी और भयसत्रस्त जीव उस पाशयुक्त स्थानमें फस जाते है ।

यदि मृग उस बन्धनको फाद कर चले जाय या उसके नीचेसे निकल जाय तो पैरके बन्धनसे मुक्त हो सकते हैं। पर वे मूर्ख यह नही देखते।

२—धम्मपन्नवणा जा सा तं तु संकंति मूढगा।
आरंभाइं न सकंति अवियत्ता अकोविया॥
सव्वप्पगं विउक्कसं सव्वं णूमं विहूणिया।
अप्पत्तियं अकम्मंसे एयमट्ठं मिगे चुए॥
जे एयं नाभिजाणंति मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते घायमेस्संति णंतसो॥

१, १ । २ : ११-१३

जिस तरह हिताहितके विवेकसे शून्य मृग, विषमान्तमें पहुँच, पद-बन्धनके द्वारा बद्ध होकर वही मारे जाते हैं और इस तरह अपना बड़ासे बडा अहित करते हैं; इसी तरहसे विवेक शून्य अज्ञानी मूढ धर्मस्थानमें शका करते है और आरम्भमें शका नही करते। लोभ, मान, माया और क्रोधको छोड़ मनुष्य कर्मांश रहित—मुक्त होता है पर अज्ञानी मनुष्य मूर्ख मृगकी तरह इस बातको छोड देता है। जो बन्धन-मुक्तिके उपायको नही जानते वे मिथ्यादृष्टि अनार्य उसी तरह अनन्त बार घातको प्राप्त करते है जिस तरह वह पाशबद्ध मृग।

३—अमणुन्नसमुप्पायं दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता कहं नायंति संवरं॥

१, १ । ३ : १०

अशुभ अनुष्ठान करनेसे दुःखकी उत्पत्ति होती है। जो लोग दुःख की उत्पत्तिका कारण नही जानते है वे दुःखके नाशका उपाय कैसे जान सकते है ?

१९ : सम्यक्त्व पराक्रम

[१]

१—संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ। ......अणंताणुबंधिकोह-माणमायालोभे खवेइ। नवं च कम्मं न बंधइ। ...मिच्छत्तविसोहिं काऊण दंसणाराहए भवइ। ...अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ।......तच्चं पुणो भवग्गहणं नाइक्कमइ। उत्त० २६ : १

सवेगसे हे भगवान् जीव क्या उपार्जन करता है ?

सवेगसे जीव अनुत्तर—श्रेष्ठ धर्मश्रद्धाको प्राप्त करता है। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, और लोभका क्षय करता है। नए कर्मोंका बधन नही करता। मिथ्यात्वकी विशुद्धि कर दर्शनका आराधक होता है। दर्शनका आराधक हो जीव उसी भवमें सिद्ध होता है और किसी भी स्थितिमें तीसरे भवका तो अतिक्रमण करता ही नही।

२—निव्वेएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

निव्वेएणं दिव्वमाणुसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं हव्वमागच्छइ। सव्वविसएसु विरज्जइ। ......आरंभपरिच्चायं करेइ। संसार-मग्गं वोच्छिदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ।

उत्त० २६ : २

निर्वेदसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? निर्वेदसे जीव, देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी कामभोगोसे शीघ्र उदासीनता

को प्राप्त करता है । फिर सर्व विषयोसे विरक्त हो जाता है । फिर आरम्भका परित्याग करता है, जिससे ससार मार्गका छेदनकर सिद्धि-मार्गको ग्रहण करनेवाला होता है ।

३—धम्मसद्धाएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

धम्मसद्धाएणं सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ ।

उत्ता० २६ : ३

धर्मश्रद्धासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? धर्मश्रद्धा से सातासुखमें अनुरागी जीव विषय सुखोसे विरक्त होता है ।

४—गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं भन्ते ! जीवे कि जणयइ ?

गुरुसाहम्मियसुस्सूसणाएणं विणयपडिवत्ति जणयइ ।

उत्ता० २६ : ४

गुरु और सधर्मीकी शुश्रूसासे जीव क्या उपार्जन करता है ? इससे जीव विनय प्रतिपत्तिको प्राप्त करता है ।

[२]

१—कोहविजएणं भंते ! जीवे कि जणयइ ?

कोहविजएणं खंतिं जणयइ । उत्त० २६ : ६७

क्रोध विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ? क्रोध विजयसे क्षान्तिको उत्पन्न करता है ।

२—माणविजएणं भन्ते ! जीव किं जणयइ ?

माणविजएणं मद्दवं जणयइ । उत्ता० २६ : ६८

मान विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

मान विजयसे जीव मार्दव भावको उत्पन्न करता है ।

३—मायाविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

मायाविजएणं अज्जवं जणयइ। उत्त० २६ : ६६

माया विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

माया विजयसे जीव आर्जव भावको उत्पन्न करता है।

४—लोभविजएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ।

लोभविजएणं संतोसं जणयइ। उत्त० २६ : ७०

लोभ विजयसे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

लोभ विजयसे जीव सन्तोष भावका उत्पन्न करता है।

[२]

१—वीयरागयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? वीयरागयाए णं नेहाणुबंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि य वोच्छिदइ। मणुन्नामणुन्नेसु सद्दफरिसरूवरसंगधेसु सचित्ताचित्तमीसएसु चेव विरज्जइ। उत्त० २६ : ४५

वीतरागतासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? वीतरागतासे स्नेहानुबन्ध तथा तृष्णानुबन्धका व्यवच्छेद हो जाता है। फिर प्रिय-अप्रिय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तथा सचित, अचित और मिश्र द्रव्योसे विरक्ति हो जाती है।

२—खंतीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? खंतीए णं परीसहे जिणेइ। उत्त० २६ : ४६

क्षान्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? क्षान्तिसे जीव परिषहों—कष्टोंको जीतता है।

३—मुत्तीए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? मुत्तीए णं अकिंचणं जणयइ। अकिंचणे य जीवे अत्थलोलाणं पुरिसाणं अपत्थणिज्जे भवइ। उत्त० २६ : ४७

मुक्ति—निर्लोभतासे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? निर्लोभतासे जीव अकिंचनताको उत्पन्न करता है—अकिंचनता से जीव अर्थलोलुपी पुरुषोंका अप्रार्थनीय हो जाता है—उसे चोर आदिका भय नहीं रहता।

४—अज्जवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? अज्जवयाए णं काउज्जुययं, भावुज्जुययं, भासुज्जुययं. अविसंवायणं जणयइ। अविसंवायणसंपन्नयाए णं जीवे धम्मस्स आराहए भवइ।

उत्त० २६ : ४८

आर्जवसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है? आर्जवसे कायाकी ऋजुता, भावोंकी ऋजुता, भाषाकी ऋजुता एव अविसंवादता उत्पन्न करता है।

५—मद्दवयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? मद्दवयाए णं अणुस्सियत्तं जणयइ। अणुस्सियत्तेण जीवे मिउमद्दव-संपन्ने अट्ठ मयट्ठाणाइं निट्ठावेइ। उत्त० २६ : ४६॥

मार्दवसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? मार्दवसे जीव अनुत्सुकता उत्पन्न करता है। मृदुमार्दवसे सम्पन्न अनुत्सुक जीव आठ मद स्थानोंका क्षय कर देता है।

[४]

१—भावसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? भावसच्चेणं भावविसोहिं जणयइ। भावविसोहीए वट्टमाणे जीवे अरहंत-पन्नत्तस्स धमस्स आराहणयाए अब्भुट्ठेइ······परलोग धम्मस्स आराहए भवइ। उत्त० २६ : ५०

भाव सत्यसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? भाव

सत्यसे जीव भाव विशुद्धि उत्पन्न करता है, जिससे जीव अर्हन्त प्रतिपादित धर्मकी आराधनाके लिए उद्यत होता है और इससे फिर परलोकमें धर्मका आराधक होता है।

२—करणसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? करणसच्चेणं करणसत्तिं जणयइ। करणसच्चे वट्टमाणे जीवे जहावाई तहाकारी यावि भवइ। उत्त० २६ : ५१

करण-सत्यसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? करण-सत्यसे जीव सत्यक्रियाकी शक्ति उत्पन्न करता है। करणसत्यमें स्थित जीव जैसी कथनी वैसी करनीवाला होता है।

३—जोगसच्चेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?
जोगसच्चेणं जोगं विसोहेइ। उत्त० २६ : ५२

योग सत्यसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? योग सत्यसे जीव योगोंकी विशुद्धि—मन, वचन, कायाकी प्रवृत्तिकी शुद्धि करता है।

[५]

१—मणगुत्तयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? मणगुत्तयाए णं जीवे एगग्गं जणयइ। एगग्गचित्तेणं जीवे मणगुत्ते संजमाराहए भवइ। उत्त० २६ : ५३

मन गुप्तिसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है? मन गुप्तिसे जीव एकाग्रताको उपार्जन करता है। एकाग्र चित्तवाला मनोगुप्त जीव संयमका आराधक होता है।

२—वयगुत्तयाए णं भन्ते! जीवे किं जणयइ? वयगुत्तयाए णं निव्विकारत्तं जणयइ। निव्विकारे णं जीवे वइगुत्ते अज्झप्पजोगसाहणजुत्ते यावि भवइ। उत्त० २६ : ५४

वचन गुप्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? वचन गुप्तिसे निर्विकार भावको उत्पन्न करता है। फिर उस निर्विकार भावसे वह वचनगुप्त जीव आध्यात्म योगके साधनसे युक्त होता है।

३—कायगुत्तयाए णं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ? कायगुत्तयाए संवरं जणयइ। संवरेणं कायगुत्ते पुणो पावासवनिरोहं करेइ। उत्त० १६ : ५५

काय गुप्तिसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ? काय गुप्तिसे सवर उत्पन्न करता है और फिर सवरसे वह कायगुप्त जीव पापास्रवका निरोध करता है।

[६]

१—आलोयणाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

आलोयणाएणं मायानियाणमिच्छादंसणसल्लाणं मोक्खमग्गविग्घाणं अणंतसंसारवंधणाणं उद्धरणं करेइ। उज्जुभावं च जणयइ।......अमाइत्थीवेनपुंसगवेयं च न बंधइ। पुव्वबद्धं च णं निज्जरेइ। उत्त० २६ : ५

आलोचनासे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आलोचनासे जीव मोक्षमार्गमे विघ्न करनेवाले और अनन्त संसारको बढानेवाले माया, निदान और मिथ्या दर्शन रूपी शल्यको दूर करता है। तथा ऋजुभावको उत्पन्न करता है। ऋजुभावी अमायावी जीव स्त्रीवेद और नपुसकवेदका बन्धन नही करता। पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करता है।

२ — निंदणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

निंदणयाएणं पच्छाणुतावं जणयइ। पच्छाणुतावेणं विरज्ज-माणे करणगुणसेढिं पडिवज्जइ। .....मोहणिज्जं कम्मं उग्घायइ। उत्त० २६ : ६

आत्म-निन्दा[1]से हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आत्म-निन्दासे जीव पश्चात्ताप उत्पन्न करता है। पश्चात्तापके कारण पापोंसे विरक्त जीव करण-गुणश्रेणीको प्राप्त करता है। और इससे अन्तमें मोहनीय कर्मका नाश करता है।

३—गरहणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

गरहणयाएणं अपुरक्कारं जणयइ। ...अप्पसत्थेहिंतो जोगेहिंतो नियत्तेई। पसत्थे य पडिवज्जइ......अणंत-घाइपज्जवे खवेइ। उत्त० २६ : ७

आत्म-गर्हा[3]से हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आत्म-गर्हासे जीव अपुरस्कार—आत्म-नम्रताको उत्पन्न करता है। फिर वह अप्रशस्त योगसे निवृत्त होता है और प्रशस्त योगको ग्रहण करता है और इससे अन्तमें अनन्तघाती पर्यायों[4]का क्षय करता है।

४—पायच्छित्तकरणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

पायच्छित्तकरणेणं पावकम्मविसोहिं जणयइ। निरइयारे

१—आत्माके दोषोंका चिन्तन—उनकी निन्दा।

२—पहले नहीं अनुभव की हुई मनकी निर्मलता।

३—दूसरेके समक्ष अपने दोषोंको प्रगट करना।

४—आत्माकी अनन्त ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य और सुखकी शक्तिको आवरण करनेवाले ज्ञानावरणीय आदि कर्म।

आवि भवइ।......मग्गं च मग्गफलं च विसोहेइ, आयारं च आयारफलं च आराहेइ। **उत्त० २६ : १६**

प्रायश्चितसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है ?

प्रायश्चितसे जीव पापकर्मविशुद्धिको प्राप्त करता है तथा निरतिचार हो जाता है। मार्ग और मार्गफलकी विशुद्धि करता है और आचार तथा आचारफलकी आराधना करता है।

५—खमावणयाएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

खमावणयाएणं पल्हायणभावं जणयइ। ...सव्वपाण भूयजीवसत्तेसु मित्तीभावमुप्पाएइ।...भावविसोहिं काऊण निब्भए भवइ। **उत्त० २६ : १७**

क्षमापनासे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है ?

क्षमापनासे जीव प्रह्लादभाव—चित्तकी प्रसन्नताको उत्पन्न करता है, जिससे सर्व प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वोके प्रति मैत्रीभावको उत्पन्न करता है। मैत्रीभावको उत्पन्न कर जीव भाव विशुद्धि कर निर्भय होता है।

[७]

१—संजमेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

संजमेणं अणण्हयत्तं जणयइ। **उत्त० २६ : २६**

सयमसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है ?

सयमसे अनास्रव अवस्थाको उत्पन्न करता है।

२—तवेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ ?

तवेणं वोदाणं जणयइ। **उत्त० २६ : २७**

तपसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

तपसे व्यवदान—पूर्व कर्मोंका क्षय कर आत्मशुद्धि उत्पन्न करता है।

३—वोदाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

वोदाणेणं अकिरियं जणयइ। अकिरियाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ, मुचइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ॥ उत्त० २९ : २८

व्यवदानसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है?

इससे जीव *अक्रिया* (क्रियाके अभाव) को उत्पन्न करता है, जिससे वह फिर सिद्ध, बुद्ध, युक्त, परिनिवृत्त और सर्व दुःखोंका अन्त करने वाला होता है।

[८]

१—कसायपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

कसायपच्चक्खाणेणं वीयरागभावं जणयइ। वीयरागभावपडिवन्नेवि य णं जीवे समसुहदुक्खे भवइ।

उत्त० २९ :३६

कषाय प्रत्याख्यानसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता?

इससे जीव वीतराग भावको उत्पन्न करता है, जिससे वह सुख दुःखमें समान भाववाला होता है।

२—जोगपच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? जोगपच्चक्खाणेणं अजोगत्तं जणयइ। अजोगी णं जीवे नवं कम्मं न बन्धइ, पुव्वबद्धं निज्जरेइ। उत्त० २९ : ३७

योग प्रत्याख्यानसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है?

इससे जीव अयोगित्व—मन, वचन, कायाकी प्रवृत्तिसे शून्यता

को प्राप्त करता है। ऐसा जीव फिर नए कर्मोंका बन्ध नहीं करता तथा पूर्वबद्ध कर्मोंको झाड़ देता है।

[९]

१—एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

एगग्गमणसंनिवेसणयाएणं चित्तनिरोहं करेइ।

उत्त० २९ : २५

एकाग्रमन: संनिवेशनासे हे भगवन् ! जीव क्या उत्पन्न करता है ?

इससे जीव चित्त निरोध करता है।

२—विणियट्टणयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

विणियट्टणयाएणं पावकम्माणं अकरणयाए अब्भुट्ठेइ। पुव्वबद्धाणं य निज्जरणयाए पावं नियत्तेइ। तओ पच्छा चाउरंतं संसारकंतारं वीइवयइ। उत्त० २९ : ३२॥

विनिवर्तनासे—विषय वासनाके त्यागसे—जीव क्या उपार्जना करता ?

इससे जीव पाप कर्मोंको न करनेके लिये उद्यत होता है। फिर पूर्व संचित कर्मोंकी निर्जरा करनेसे पाप कर्मकी निवृत्ति करता है। जिससे बादमें चतुर्गति रूप संसारकान्तारको पार करता है।

३—भत्तपच्चक्खाणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

भत्तपच्चक्खाणेणं अणेगाइं भवसयाइं निरुंभइ।

उत्त० २९ : ४०

भक्त—आहार—प्रत्याख्यानसे हे भगवन् ! जीव क्या उपार्जन करता है ?

आहार प्रत्याख्यानसे यह जीव अनेक सैकड़ो भवो—जन्मोंका निरोध करता है।

[१०]

१—सामाइएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणयइं। उत्त० २९ : ८

सामायिकसे हे भगवन्? जीव क्या उत्पन्न करता है?

सामायिकसे जीव सावद्य योगसे विरति—निवृत्तिको उपार्जन करता है।

२—चउव्वीसत्थएणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ। उत्त० २९ : ९

चतुर्विंशतिस्तवसे यह जीव क्या फल उपार्जन करता है?

इससे जीव दर्शनकी—सम्यक्त्वकी—शुद्धिको प्राप्त करता है।

३—वंदणएणं भन्ते। जीवे किं जणयइ? वंदणएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ। उच्चागोयं कम्मं निबंधइ। सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ। दाहिणभावं च णं जणयइ। उत्त० २९ : १०

वन्दनसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है?

इससे नीचगोत्र कर्मका क्षय करता है, उच्च गोत्रकर्मका बंध करता है। अप्रतिहत सौभाग्य और आज्ञाफलको प्राप्त करता है तथा दक्षिण भावको उपार्जन करता है।

४—पडिक्कमणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? पडिक्कमणेणं वय-छिद्दाणि पिहेइ। पिहियवयछिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते सुप्पणिहिए विहरइ। उत्त० २९ : ११

प्रतिक्रमणसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है?

इससे जीव व्रतोंके छिद्रोंको रोकता है, जिससे फिर जीव निरुद्धास्रव हो, शुद्ध चारित्र और आठ प्रवचन माताओंमें सदा उपयोगवान समाधिपूर्वक सयम मार्गमें विचरता है।

५—काउस्सग्गेणं भंते! जीवे किं जणयइ? काउस्सग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ। विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारवहे पसत्थज्झाणोवगए सुहं सुहेणं विहरइ। उत्त० २६ : १२

कायोत्सर्गसे हे भगवन्! जीव क्या उपार्जन करता है?

कायोत्सर्गसे अतीत वर्तमानके अतिचारोंकी विशद्धि करता है। प्रायश्चितसे विशुद्ध जीव उसी तरह निवृत हृदयवाला हो जाता है जिस तरह भार हटा देनेसे भारवाहक। इस तरह हल्के भारवाला वह प्रशस्त ध्यानको प्राप्त कर सुख पूर्वक विचरता है।

६—पच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ? पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभइ। (पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ। इच्छा निरोहं गए य णं जीवे सव्वदव्वेसु विणीयतण्हे सीइभूए विहरइ)। उत्त० २६ : १३

प्रत्याख्यानसे हे भगवन्! जीव क्या उत्पन्न करता है?

प्रत्याख्यानसे जीव आस्रव द्वारका निरोध करता है। (इच्छाका निरोध करता है। ऐसा जीव फिर सर्व द्रव्य—पदार्थोंसे वितृष्ण हो—शीतल होकर विचरता है।)

२० : विकीर्ण सुभाषित

संसयं खलु सो कुणई, जो मग्गे कुणई घरं।
जत्थेव गन्तुमिच्छेज्जा, तत्थ कुव्वेज्ज सासयं॥

उत्त० ९ : २६

जो मार्गमें घर करता है, निश्चय ही वह संशयग्रस्त कार्य करता है। जहा पर जाना हो वही शाश्वत् घर करनेकी इच्छा करनी चाहिए।

असइं तु मणुस्सेहिं, मिच्छादंडो पजुञ्जई।
अकारिणोऽत्थवज्झन्ति, मुच्चई कारओ जणो॥

उत्त० ९ : ३०

मनुष्योके द्वारा अनेक वार मिथ्यादण्ड दिया जाता है। इस जगत् में न करनेवाले बान्धे जाते है और करनेवाले छुट जाते—निकल जाते है।

धम्मज्जियं च ववहारं, बुद्धेहायरियं सया।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई॥

उत्त० १ : ४२

जो व्यवहार धर्मसे उत्पन्न है और ज्ञानी पुरुषोने जिसका सदा आचरण किया है, उस व्यवहारका आचरण करनेवाला पुरुष कभी निंदाको प्राप्त नही होता।

गवासं मणिकुण्डलं, पसवो दास पोरुसं।
सव्वमेयं चइत्ता णं, कामरूवी भविस्ससि॥

उत्त० ६ : ५

गाय, घोड़े, मणिकुण्डल, पशु, दास और अन्य पुरुष इन सबको छोड कर तू परलोकमें कामरूप देवता होगा।

वरं मे अप्पा दन्तो, संजमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो, बंधणेहिं वहेहि य॥

उत्त० १ : १६

दूसरे लोग वध और बधनादिसे मेरा दमन करे—ऐसा न हो। दूसरोंके द्वारा दमन किया जाऊँ उसकी अपेक्षा संयम और तप द्वारा मैं ही अपनी आत्माका दमन करूँ—यह अच्छा है।

जइ मज्झ कारणा एए, हम्मंति सुबहूजिया।
न मे एयं तु निस्सेसं, परलोगे भविस्सई॥

उत्त० २२ : १६

यदि मेरे कारणसे ये सब बहुतसे जीव मारे जायगे तो मेरे लिए परलोकमें यह निश्रेयसके लिए नहीं होगा।

दवग्गिणा जहारण्णे, डज्झमाणेसु जन्तुसु।
अन्ने सत्ता पमोयन्ति, रागद्दोसवसं गया॥
एवमेव वयं मूढा, कामभोगेसु मुच्छिया।
डज्झमाणं न वुज्झामो, रागद्दोसग्गिणा जगं॥

उत्त० १४ : ४२, ४३

दावाग्नि द्वारा अरण्यमें जन्तुओंको जलते देखकर जैसे दूर स्थित अन्य जीव राग द्वेषके अधीन हुए आनन्द मानते हैं, ऐसे ही हम मूर्ख कामभोगमें मूर्छित जीव, जन्म-मरणकी अग्निसे धधकते इस जगत्को

देख कर भी राग-द्वेषवश बोध नहीं पाते !

अहे वयइ कोहेणं, माणेणं अहमा गई ।
मायागईपडिग्घाओ, लोभाओ दुहओ भयं ॥
उत्त० ९ : ५४ ॥

क्रोधसे मनुष्य नीचे गिरता है, मानसे अधोगति पाता है, माया से सद्‌गतिका रास्ता रुकता है और लोभसे इहभव और परभव दोनो बिगडते है ।

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥
द० ८ : ३८

क्रोध पारस्परिक प्रीतिका नाश करता है, मानसे विनय दूर होता है, माया मित्रताका नाश करती है और लोभ सभी गुणोको हरता है ।

कोहो य माणो य अणिग्गहीया,
माया य लोभो य पवड्‌ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥
द० ८ : ४०

अनियन्त्रित क्रोध और मान तथा बढी हुई माया और लोभ—ये चारो मलीन कषायें भव-भ्रमण रूपी पौधेकी जड़ोको सीचनेवाली है (उसे कभी सूखा नही होने देती अर्थात पुन पुन. जन्म-मरण की कारण है) ।

कोहं माणं निगिण्हित्ता, मायं लोभं च सव्वसो ।
इंदियाइं वसेकाउं, अप्पाणं उवसंहरे ॥
उत्त० २२ : ४८

क्रोध, मान, माया और लोभको सर्व प्रकारसे निग्रह कर तथा इन्द्रियोको वशमें कर आत्माको स्थिर करो।

पंचिन्दियाणि कोहं, माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं, सव्वं अप्पे जिए जियं॥

उ० ९ । ३६ ॥

पाचो इन्द्रियां, क्रोध, मान, माया, लोभ और दुर्जय आत्मा—ये दस शत्रु हैं। एक आत्माको जीत लेनेसे सब जीत लिए जाते हैं।

सोही उज्जुअभूअस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ।
णिव्वाणं परमं जाइ, घयसित्त व्व पावए॥

उत्त० ३ : १२

ऋजु—सरल आत्माकी ही शुद्धि होती है। धर्म शुद्ध आत्मामें ही ठहरता है। जिस तरह घी से सींची हुई निर्धूम अग्नि दिव्य प्रकाशको प्राप्त होती है उसी तरह शुद्ध आत्मा परम निर्वाणको प्राप्त करती है।

एगओ विरइं कुज्जा, एगओ य पवत्तणं।
असंजमे नियत्तिं च, संजमे य पवत्तणं॥

उत्त० ३१ : १

'मुमुक्षु एक बातसे विरति करे और एक बातमें प्रवृत्ति। असयमसे —हिंसादिकसे—निवृत्ति करे और सयममें—अहिंसादिमें—प्रवृत्ति।

पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्मारियं॥

उत्त० १८ : २५

जो नर पापी होते हैं वे घोर नरकमें पडते हैं और जो आर्य (सत्य) धर्मका पालन करते है, वे मनुष्य दिव्य गतिमें जाते हैं।

किरियं रोअए धीरो, अकिरियं परिवज्जए।
दिट्ठीए दिट्ठीसम्पन्ने, धम्मं चर सुदुच्चरं॥

उत्त० १८ : ३३

धीर पुरुष क्रियामें रुचि करे और अक्रियाको छोड़ दे तथा सम्यक् दृष्टिसे दृष्टि-सम्पन्न होकर दुष्कर धर्मका आचरण करे।

तहेव हिंसं अलियं, चोज्जं अबम्भसेवणं।
इच्छाकामं च लोभं च, संजओ परिवज्जए॥

उत्त० ३५ : ३

इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन-सेवन, भोगलिप्सा और लोभ का संयमी पुरुष त्याग करे।

अत्थंगयंमि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमइयं सव्वं, मणसा वि न पत्थए॥

द० ८ : २८

सूर्यके अस्त होनेसे प्रातः काल सूर्यके उदय न होने तक सर्व प्रकारके आहारादि—खान-पानकी मुमुक्षु मनसे भी इच्छा न करे।

अच्चणं रयणं चेव, वन्दणं पूअणं तहा।
इड्ढीसक्कारसम्माणं, मणसाऽवि न पत्थए॥

उत्त० ३५ : १८

अर्चा, सत्कार, वन्दन, पूजन, ऋद्धि, सत्कार, सन्मान—इन सबकी मुमुक्षु मनमें भी इच्छा न करे।

अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता, झाएज्जा सुसमाहिए।
धम्मसुक्काइं झाणाइं, झाणं तं तु बुहा वए॥

उत्त० ३० : ३५

आर्त और रौद्र इन दो ध्यानोंका वर्जन कर सुसमाहित मुमुक्षु धर्म

और शुक्ल ध्यानका चिंतन करे। ज्ञानियोने इसे ही ध्यान-तप कहा है।

अट्ठावयं न सिक्खिज्जा, वेहाईयं च णो वए।
हत्थकम्मं विवायं च, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ६ : १७

जुआ खेलना न सीखे, जो वात धर्मसे विरुद्ध है वह न वोले, हस्त कर्म और विवाद न करे। इन वातोको पापका हेतु जानकर विद्वान् इनका त्याग करे।

जे य चंडे मिए थद्धे, दुव्वाई नियडी सढे।
वुज्झइ से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा॥

दस० ६ । २ : ३

जो मनुष्य पशके समान चण्ड—क्रोधी, अभिमानी, दुर्वादी, कपटी और धूर्त होता है, वह दुःशील पुरुष संसार-प्रवाहमें उसी प्रकार वह जाता है जिस प्रकार काठका टकडा समुद्रके श्रोत में।

निद्दं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
मिहोकहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया॥

द० ८ : ४२

मुमुक्षु निद्राका विशेप आदर न करे, हँसी मजाकका वर्जन करे, गुप्त वात या स्त्रीकी कथामें आनन्द न ले पर सदा स्वाध्यायमे रत रहे।

तत्थिमा तइया भासा, जं वइत्ताऽणुतप्पई।
जं छन्नं तं न वत्तव्वं, एसा आणा नियण्ठिया॥

सू० १, ६ : २६

भाषा चार प्रकारकी है, उनमे झूठसे मिली हुई भाषा तीसरी है। विवेकी पुरुष ऐसी मिश्र भाषा न बोले। न वैसो भाषा बोले जिससे

बादमे पश्चाताप करना पड़े। न प्रच्छन्न बात कहे। यही निर्ग्रन्थ ऋषियोकी आज्ञा है।

जसं किंत्ति सिलोगं च, जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जा परिजाणिया॥

सू० १, ६ : २२

यश, कीर्ति, श्लाघा, आदर, वदन, पूजन तथा इस लोकमे जो भी विषय इच्छा है उन्हे विज्ञ पुरुष पापके कारण जानकर छोडे।

इहमेगे उ भासन्ति, सायं साएण विज्जई।
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं॥

कई एसा कहते है कि सुखसे ही सुखकी प्राप्ति होती है परन्तु वे मूर्ख है। जो परम समाधिको प्राप्त करानेवाले ज्ञान-दर्शन-रूप आर्य मार्गको छोडते है, वे सदा ससारमें भ्रमण करते है।

मा एयं अवमन्नन्ता, अप्पेणं लुम्पहा बहुं।
एयस्स उ अमोक्खाए, अयोहारि व्व जूरह॥

सू० १, ३। ४ : ६, ७

इस परम मार्गको तिरस्कार करके तुच्छ विषय सुखके लोभसे अति मूल्यवान् मोक्ष सुखको मत बिगाडो। "सुखसे सुख होता है"—इस असत्पक्षको नही छोडने पर लोहेके बदलेमे सोनेको न लेनेवाले वणिक्‌की तरह पश्चाताप करोगे।

अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टेज्ज भोगेसु, आउं परिमियमप्पणो॥

द० ८ : ३४

मुमुक्षु, इस जीवनको अध्रुव जान तथा सिद्धिमार्ग—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप मोक्ष-मार्गको कल्याणकारी समझ, भोगोसे निवृत्त

हो जाय। मनुष्यकी आयु बडी ही परिमित है।

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विन्नाय, तहप्पाणं निजुंजए॥

द० ८ : ३५

अपने बल और दृढता, श्रद्धा और आरोग्यको देख कर तथा क्षेत्र और कालको जान कर उसके अनुसार आत्माको तपश्चर्यादिमे लगावे।

गारं पि य आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहि संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वए, देवाणं गच्छे सलोगयं॥

सू० १, २ । ३ : १३

गृहमें निवास करता हुआ भी जो मनुष्य, प्राणियोके प्रति यथा-शक्य सयमी और समभाव रखनेवाला होता है—वह सुव्रती देवताओके लोकमें जाता है।

कंदप्पमाभिओगं च, किव्विसियं मोहमासुरत्तं च।
एयाउ दुग्गईओ, मरणम्मि विराहिया होंति॥

उ० ३६ : २५७

कन्दर्प भावना, आभियोगी भावना, किल्विपी भावना, मोह भावना और आसुरी भावना—ये दुर्गति रूप है। मरणके समय इन भावनाओ से जीव विराधक होते है।

कंदप्पकुक्कुयाइं तह, सीलसहावहासविगहाहि।
विम्हावेंतो य परं, कंदप्पं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६४॥

कन्दर्प[1], कौत्कुच्य[2], शील[3], स्वभाव, हास्य, और विकथाओं[4] से अन्य आत्माओंको विस्मय उत्पन्न करनेवाला कन्दर्पी भावनाका भानेवाला होता है।

मंता जोगं काउं, भूईकम्मं च जे पउंजंति।
साय-रस-इड्ढि-हेउं, अभिओगं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६५

जो साता, रस और ऋद्धिके लिए मन्त्र और भूतिकर्म[5] का प्रयोग करता है, वह आभियोगी भावनाका भानेवाला है।

नाणस्स केवलीणं, धम्मायरियस्स संघसाहूणं।
माई अवण्णवाई, किव्विसियं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६६

ज्ञान, केवली, धर्माचार्य, संघ और साधुओंका अवर्णवाद बोलनेवाला —निंदा करनेवाला मायावी मनुष्य किल्विषी भावनाकी भावना करता है।

अणुबद्धरोसपसरो, तह य निमित्तम्मि होइ पडिसेवी।
एएहिं कारणेहिं, आसुरीयं भावणं कुणइ॥

उ० ३६ : २६७

१—कन्दर्प—काम-कथा

२—कौत्कुच्य—भावभङ्गी और वाक् विन्यासके द्वारा हँसी उत्पन्न करना

३—शील—निरर्थक चेष्टा

४—विकथा—स्त्री, खानपान, देश आदिके विषयमें सारहीन वार्तालाप

५—मन्त्रित किए हुए भस्म आदिका प्रयोग

निरन्तर रोषका प्रसार करनेवाला तथा निमित्तका सेवन करने वाला¹—इन कारणोसे आसुरी-भावनाको भाता है ।

सत्थगहणं विसभक्खणं च, जलणं च जलपवेसो य ।
अणायारभंडसेवी, जम्मणमरणाणि बंधंति ॥

उ० ३६ : २६८

शस्त्र-ग्रहण, विष-भक्षण, अग्निमें झंपपात, जल-प्रवेश, अनाचार—भ्रष्टता तथा मजाकके द्वारा जो जीव मृत्युको प्राप्त करते हैं वे जन्म मरणकी वृद्धि करते हैं ।

१—ज्योतिष-शास्त्र द्वारा अथवा भूकम्पादि निमित्तो द्वारा शुभाशुभका कथन करनेवाला ।

२१ : भावना

भावना और शुद्धि

तहिं तहिं सुयक्खायं, से य सच्चे सुआहिए।
सया सच्चेण सम्पन्ने, मेत्तिं भूएहिं कप्पए॥

सू० १, १५ : ३

वीराग पुरुषने जो-जो भाव कहे हैं वे सब वास्तवमें यथार्थ हैं। जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्य भावोंसे ओतप्रोत—उनमें स्थिर होती है, वह सब जीवोंके प्रति मैत्री-भाव रखता है।

भूएहिं न विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ।
वुसिमं जगं परिन्नाय, अस्सिं जीवियभावणा॥

सू० १, १५ : ४

किसी भी प्राणीके प्रति वैर-विरोध—द्वेष नहीं करना—यही संयमी पुरुषका धर्म है। संयमी पुरुष जगत्‌के स्वरूपको अच्छी तरह समझ कर वास्तविक भावों—एकान्त निश्चित सत्यों—पर जीवनको चलाता है।

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥

सू० १, १५ : ५

जिस तरह नौका अथाह जलको पारकर किनारे लगती है, उसी

तरह जिसकी अन्तर-आत्मा भावनारूपी योग-चिन्तन से विशुद्ध—निर्मल होती है, वह ससार समुद्रको तिरकर—सर्व दुःखोको पारकर—परम सुखको पाता है।

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अन्तए।
अन्तेण खुरो वहई, चक्कं अन्तेण लोट्टई॥
अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह।

सू० १, १५ : १४, १५

जो विषय वासनाओका अन्त करता है, वह पुरुष दुनियाके लिए चक्षुरूप है। क्षुर (उस्तुरा) अपने अन्त—धार पर चलता है, और चक्का—पहिया भी अपने अन्त—किनारो पर ही चलता है। धीर पुरुष भी अन्तका सेवन करते है—एकान्त निश्चित सत्योपर जीवनको स्थिर करते है और इसीसे वे ससारका—वार-वार जन्म-मरणका—अन्त करते है।

१ : दुर्लभ बोधि भावना

१—संवुज्झह किं न वुज्झह, संवोही खलु पेच्च दुल्लहा।
नो हूवणमन्ति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

सू० १, २ । १ : १

समझो! तुम समझते क्यो नही? मनुष्य भव वीत जाने पर सत्‌वोध—ज्ञान प्राप्त होना निश्चय ही दुर्लभ है। वीती हुई रातें नही फिरतीं और न मनुष्य-जीवन वार-वार सुलभ होता है।

२—संवुज्झा जंतवो! माणुसत्तं, दट्ठु भयं वालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए, सकम्मुणा विप्परियासुवेइ॥

सू० १, ७ : ११

हे जीवो ! समझो ! मनुष्य भव दुर्लभ है। नरक तिर्यञ्च गतियोमे केवल भय है। विवेकहीन जीवोंको शीघ्र बोध नही होता। यह संसार ज्वराक्रान्तकी तरह एकांत दुःखी है। सुखकी कामना करता हुआ जीव अपने किए हुए कर्मोसे ही दुःख पाता है।

३—निट्ठियट्ठा व देवा वा, उत्तरीए इयं सुयं।
सुयं च मेयमेगेसिं, अमणुस्सेसु नो तहा॥
सू० १, १५ : १६

लोकोत्तर धर्मकी आराधना करनेवाला या तो पंचम गति—मोक्ष को पाता है या देवगति को। मैने सुना है कि मनुष्येतर जन्ममें ऐसा होना सम्भव नही।

४—अन्तं करन्ति दुक्खाणं, इहमेगेसिमाहियं।
आघायं पुण एगेसिं, दुल्लभेयं समुस्सए॥
सू० १, १५ : १७

कई कहते है कि देव ही दुःखोका अन्त कर सकते है परन्तु ज्ञानियो ने बार-बार कहा है कि यह मनुष्य भव दुर्लभ है। जो प्राणी मनुष्य नही वे अपने समस्त दुःखोंका नाश नहीं कर सकते।

५—इओ विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लहा।
दुल्लहाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे॥
सू० १, १५ : १८

एक बार मनुष्य भव ध्वस हुआ कि फिर उसका पाना सरल नही होता। उसके बिना तत्वबोध पाना दुर्लभ होता है और ऐसी चित्तवृत्ति भी दुर्लभ होती है जिससे धर्मकी आराधना हो सके।

६—अन्ताणि धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह।
इह माणुस्सए ठाणे, धम्ममाराहिउं नरा॥
सू० १, १५ : १५

धीर पुरुष अन्तका सेवन करते है—जीवन-धुराको वास्तविक तत्त्वोके छोर पर चलाते है और ऐसा कर ही वे ससारसे पारगामी होते है। इस मनुष्य लोकमे धर्मकी आराधनाके लिए ही हम मनुष्य हुए है।

२ : अशरण भावना

१—जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालम्मि तम्मिंसहरा भवंति॥
उत्त० १३ : २२

निश्चय ही अन्तकालमे मृत्यु मनुष्यको वैसे ही पकड कर ले जाती है, जैसे सिंह मृग को। अन्तकालके समय माता-पिता या भाई-बन्धु कोई उसके भागीदार नही होते।

२—वित्तं पसवो य नाइयो, तं बाले सरणं ति मन्नई।
एए मम तेसु वी अहं, नो ताणं सरणं न विज्जई॥
सू० १, २ । ३ : १६

मूर्ख मनुष्य धन, पशु और जातिवालोको अपनी शरण—आश्रय-स्थान मानता है और समझता है—'ये मेरे है' और 'मै उनका हू'। परन्तु उनमेसे कोई भी आपत्तिकालमें त्राण तथा शरण देनेवाला नही।

३—अब्भागमियम्मि वा दुहे, अहवा उक्कमिए भवन्तिए।
एगस्स गई य आगई, विदुमन्ता सरणं न मन्नई॥
सू० १, २ । ३ : १७

दु:ख आ पड़ने पर मनुष्य अकेला ही उसे भोगता है। आयुष्य

क्षीण होने पर जीव अकेला ही गति आगति करता है। विवेकी पुरुष, धन, पशु, सगे, सम्बन्धियोंको तनिक भी शरण रूप नहीं समझता।

४—माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥

उत्त० ६ : ३

विवेकी पुरुष सोचे—'माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, भार्या तथा औरसपुत्र—ये कोई भी अपने कर्मोंसे दुःख पाते हुए मुझकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं हैं।'

५—सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वा वि धणं भवे।
सव्वं पि ते अपज्जत्तं, नेव ताणाय तं तव॥

उत्त० १४ : ३९

यदि सारा जगत् और यह सारा धन भी तुम्हारा हो जाय, तो भी वे सब अपर्याप्त ही होंगे और न ये सब तुम्हारा रक्षण करनेमें ही समर्थ होंगे।

६—चिच्चा वित्तं च पुत्ते य, णाइओ य परिग्गहं।
चिच्चा ण णंतगं सोयं, निरवेक्खो परिव्वए॥

सू० १, ९ : ७

विवेकी मनुष्य धन, पुत्र, ज्ञाति और परिग्रह तथा अन्तर शोकको छोड़ निरपेक्ष हो संयमका अनुष्ठान करे।

७—मरिहिसि रायं जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव! ताणं, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि॥

उत्त० १४ : ४०

हे राजन्! जब कभी इन मनोरम कामभोगोंको छोड़ कर तुम्हें चल बसना है। इस संसारमें धर्म ही त्राण है। धर्मके सिवा अन्य वस्तु नहीं जो दुर्गतिसे रक्षा कर सके।

३ : संसार भावना

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसन्ति जंतुणो ॥

उत्त० १६ : १६

यहां जन्मका दुःख है, जराका दुःख है, रोगोंका दुःख है, मरणका दुःख है; इस तरह इस संसारमें दुःख ही दुःख है, जहां बेचारे प्राणी नाना प्रकारके क्लेश पाते हैं।

सारीरमाणसा चेव, वेयणाओ अणन्तसो।
मए सोढाओ भीमाओ, असइं दुक्खभयाणि य ॥

उत्त० १६ : ४६

इस आत्माने अनन्त बार तीव्र शारीरिक और मानसिक वेदनाएं भोगी हैं और अनन्त दुःख और भयसे वह पीड़ित हुई है।

जरामरणकन्तारे, चाउरन्ते भयागरे।
मए सोढाणि भीमाणि, जम्माणि मरणाणि य ॥

उत्त० १६ : ४७

इस जन्म-मरणरूपी कांतार और चार गतिरूप भयके धाममें मैंने अनन्तवार तीव्र दुःखपूर्ण जन्म और मरण किए हैं।

निच्चं भीएण तत्थेण, दुहिएण वहिएण य।
परमा दुहसंबद्धा, वेयणा वेइया मए ॥

उत्त० १६ : ७२

अत्यन्त भय, त्रास, दुःख और व्यथाका अनुभव करते हुए मैंने नित्य घोर दुःखदायी वेदनाएं वेदी हैं—भोगी हैं।

जारिसा माणुसे लोए, ताया दीसन्ति वेयणा।
एत्तो अणन्तगुणिया, नरएसु दुक्खवेयणा॥

उत्त० १६ : ७४

मनुष्य लोकमें जैसी वेदनाएं दिखाई देती है, उनसे अनन्त गुणी दुःखदायी वेदनाएं नरकमें हैं।

सव्व भवेसु असाया, वेयणा वेइया मए।
निमेसन्तरमित्तं पि, जं साया नत्थि वेयणा॥

उत्त० १६ : ७५

सब भवोमें मैने असाता वेदना—दुःख ही दुःख भोगे। सुखकी तो निमेष भी नही, केवल वेदना ही है।

मच्चुणाऽब्भाहओ लोगो, जराए परिवारिओ।
अमोहा रयणी वुत्ता, एवं ताय! वियाणह॥
अब्भाहयम्मि लोगम्मि, सव्वओ परिवारिए।
अमोहाहिं पडन्तीहिं, गिहंसि न रइं लभे॥

उत्त० १४ : २२ : २३

हे पिताजी! यह लोक मृत्युसे पीडित है, जरासे घिरा हुआ है, जाते हुए रात-दिन अमोघ शस्त्र है। इस पीडित, सर्व ओरसे घिरे हुए तथा अमोघ शस्त्रोकी घातसे सत्रस्त लोकमें—घरमें हम जरा भी आनन्द नही पाते।

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ, असारं अवउज्झइ॥
एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ॥

उत्त० १६ : २३-२४

जैसे घरमे आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओंको निकालता है और असारको छोड देता है उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्निसे जलते हुए इस संसारमे अपनी आत्माका उद्धार करूगा ।

अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ ।
महाउदगवेगस्स गई, तत्थ न विज्जई ॥

उत्त० २३ : ६६

उदधिके बीच एक विस्तृत महाद्वीप है, जहा पर महान् उदक—समुद्रके प्रवाहकी पहुच नही होती ।

जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥

उत्त० २३ : ६८

जरा और मरणरूपी जलके वेगसे वहते हुए प्राणियोंके लिए धर्म ही द्वीप, प्रतिष्ठान, गति और उत्तम शरण है ।

४ : अनित्य भावना

१—अच्चेइ कालो तूरन्ति राइओ,
न यावि भोगा पुरिसाण निच्चा ।
उविच्च भोगा पुरिसं चयन्ति,
दुमं जहा खीणफलं व पक्खी ॥

उत्त० १३ : ३१

काल बीता जा रहा है । रात्रिया भागी जा रही है । ये मनुष्योंके कामभोग नित्य नही है । जैसे पक्षी क्षीणफलवाले द्रुमको छोड़कर चले जाते है उसी तरह कामभोग क्षीणभागी पुरुषको छोड देते है ।

२—हत्थां मे पांया मे बाहा मे ऊरू मे उयरं मे सीसं मे सीलं मे आऊ मे बलं मे वण्णो मे तया मे छाया मे सोयं मे चक्खू मे घाणं मे जिब्भा मे फासा मे ममाइज्जइ, वयाउ पडिजूरइ। तंजहा—आउओ बलाओ वण्णाओ तयाओ छायाओ सोयाओ जाव फासाओ। सुसंधिओ संधी विसंधीभवइ, वलियतरंगे गाए भवई, केसा किण्हा पलिया भवंति। तं जहा—जंपि य इमं सरीरगं उरालं आहारोवइयं एयं पि य अणुपुव्वेणं विप्पजहियव्वं भविस्सइ। सू० २, १ : १३

ये मेरे हाथ है, ये मेरे पैर है, ये मेरी भुजाएँ है, यह मेरी जाघे है, यह मेरा पेट है, यह मेरा सिर है; यह मेरा शील है, यह मेरी आयु है, यह मेरा बल है, यह मेरा वर्ण है, यह मेरी त्वचा है, यह मेरी कान्ति है, यह मेरे कान है, यह मेरे नेत्र है, यह मेरी नासिका है, यह मेरी जीभ है, यह मेरा स्पर्श है। इस प्रकार प्राणी इनमें ममता करता है। परन्तु वय आने पर ये सब जीर्ण हो जाते है, मनुष्य—आयु, बल, वर्ण, त्वचा, कान्ति, कान, तथा स्पर्श पर्यन्त सभी इन्द्रियोसे हीन हो जाता है। उसकी दृढ सन्धिया ढीली हो जाती है, शरीरमे सर्वत्र चमडा सकुचित होकर तरगकी रेखाके समान हो जाता है, काले केश सफेद हो जाते है। यह जो आहारसे वृद्धि प्राप्त उत्तम शरीर है, इसे भी क्रमश अवधि पूरी होने पर छोड देना पडेगा।

३—गब्भाइ मिज्जंति वुयावुयाणा,
नरा परे पञ्चसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य,
चयंति ते आउखए पलीणा॥
सू० १, ७ : १०

कई जीव गर्भावस्थामें ही मर जाते है, कई स्पष्ट बोलनेकी

अवस्थामे तथा कई बोलनेकी अवस्था आनेके पहले ही चल बसते है। कई कुमार अवस्थामें, कई युवा होकर, कई आधी उमरके होकर, और कई वृद्ध होकर मर जाते हैं। मृत्यु हर अवस्थामें आ घेरती है।

४—डहरा बुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयन्ति माणवा।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवं आउखयम्मि तुट्टई॥
सू० १।२।१:२

देखो! युवक और बूढ़े यहा तक कि गर्भस्थ बालक तक चल बसते है। जैसे बाज पक्षीको हर लेता है वैसे ही आयु शेष होने पर काल जीवनको हर लेता है।

५—ठाणी विविह ठाणाणि, चइस्संति न संसओ।
अणियए अयं वासे, नायएहि सुहीहि य॥
एवमायाय मेहावी, अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं॥
सू० १।८:१२, १३

विविध स्थानोमें स्थित प्राणी एक-न-एक दिन अपने स्थानको छोड कर जानेवाले है—इसमे जरा भी सशय नही है। ज्ञाति और मित्रोके साथ यह सवास भी अनित्य है। उपरोक्त सत्यको जानकर विवेकी पुरुष अपनी आसक्तिको हटा दे और सर्व शुभ धर्मोसे युक्त मोक्ष ले जानेवाले आर्य धर्मको ग्रहण करे।

६—उवणिज्जई जीवियमप्पमायं, वण्णं जरा हरइ नरस्स रायं।
पञ्चालराया! वयणं सुणाहि, मा कासि कम्माइं महालयाइं॥
उत्त० १३:२६

आयुष्य निरन्तर क्षय होता जा रहा है, जरा मनुष्यके वर्ण—रूप

—सुन्दरताको हर रही है। हे पचाल राजन्! मेरी बात सुनो! पाप कर्मोंको मत करो।

७—जया सव्वं परिच्चज्ज, गन्तव्वमवसस्स ते।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं रज्जम्मि पसज्जसि॥
उत्त० १८ : १२

हे राजन्! सब चीजोंको छोडकर तुम्हे एक दिन परवशतासे अवश्य जाना है फिर इस अनित्य लोकमें इस राज्य पर तुम्हे आसक्ति क्यो है?

८—जीवियं चेव रूवं च, विज्जुसंपायचञ्चलं।
जत्थ तं मुज्झसि रायं, पेच्चत्थं नाव बुज्झसि॥
उत्त० १८ : १३

जिसमें तुम मूर्छित हो रहे हो—वह जीवन और रूप विद्युत-सम्पातकी तरह चंचल है। हे राजन्! परलोकमें क्या अर्थकारी—हितकर है यह क्यो नही समझते?

५ : एकत्व भावना

१—से मेहावी जाणेज्जा बहिरंगमेयं। इणमेव उवणीययरागं, तं जहा—माया मे पिया मे भाया मे भगिणी मे भज्जा मे पुत्ता मे धूया मे पेसा मे नत्ता मे सुण्हा मे सुहा मे पिया मे सहा मे सयणसंगन्थसंथुया मे, एए खलु मम नायओ अहमवि एएसिं। एवं से मेहावी पुव्वामेव अप्पणा एवं समभिजाणेज्जा। इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे जाव दुक्खे नो सुहे। से हंता भयं-तारो! णायओ इमं मम अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयह अणिट्ठं जाव णो सुहं, ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जाव परि-तप्पामि वा, इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ

परिमोएह अणिट्ठाओ जाव णो सुहावो, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ। तेसिं वा वि भयंतारार्णं मम नाययाणं अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुपज्जेज्जा अणिट्ठे जाव णो सुहे, से हंता अहमेएसिं भयन्तारार्णं णाययाणं इमं अन्नयरं दुक्खं रोगायंकं परियाइयामि अणिट्ठं जाव णो सुहे, मा मे दुक्खंतु वा जाव मा मे परितप्पंतु वा, इमाओ णं अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ परिमोएमि अणिट्ठाओ जाव णो सुहाओ, एवमेव णो लद्धपुव्वं भवइ। अन्नस्स दुक्खं अन्नो न परियाइयइ अन्नेण कडं अन्नो नो पडिसंवेदेइ पत्तेयं जायइ पत्तेयं मरइ पत्तेयं चयइ पत्तेयं उववज्जइ पत्तेयं झंझा पत्तेयं सन्ना पत्तेयं मन्ना एवं विन्नू वेयणा।

बुद्धिमान पुरुष सोचे कि ये कामभोग तो बहिरंग पदार्थ हैं। इनसे निकट सम्बन्धी तो अन्य है जैसेकि—यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, यह मेरे भाई है, यह मेरी बहिन है, यह मेरी स्त्री है, यह मेरे पुत्र है, यह मेरी पुत्री है, यह मेरे दास है, यह मेरा नाती है, यह मेरी पुत्रवधू है, यह मेरा मित्र है, यह मेरे पहले और पीछेके परिचित सम्बन्धी है। निश्चय ही ये सब ज्ञाति मेरे है और मैं उनका हूं। परन्तु बुद्धिमान पुरुषको पहले अपने आप विचार लेना चाहिए कि यदि कभी मुझको किसी प्रकारका दु.ख या रोग उत्पन्न हो, जो अनिष्ट और दु खदायी है, और उस समय मै अपने ज्ञातिवर्गसे यदि यह कहू कि—हे भयसे रक्षा करनेवाले ज्ञातिवर्ग ! मेरे इस अनिष्ट और अप्रिय दु ख तथा रोगमें आपलोग हिस्सा बँटायें, क्योकि—मै इस दु.खसे पीडित हू, शोकाकुल हू, बहुत ताप भोग रहा हू; आप इस अनिष्ट दु ख तथा रोगसे मुझको मुक्त करे तो वे ज्ञातिवर्ग इस प्रार्थनाको सुनकर दु ख तथा रोगको बटा ले या मुझको दु.ख और रोगसे मुक्त

कर दें ऐसा कभी नही होता। अथवा भयसे मेरी रक्षा करनेवाले इन ज्ञातियोको ही कोई दु ख या रोग उत्पन्न हो जाय, जो अनिष्ट और असुखकर हो, और मै चाहू कि भयसे रक्षा करनेवाले इन ज्ञातियोके अनिष्ट दु.ख या रोगको बँटा लू, जिससे ये मेरे ज्ञातिवर्ग दु:ख तथा परिताप न भोगें, और इनको दु:ख तथा अनिष्ट रोगसे मुक्त कर दू तो यह मेरी इच्छा कभी पूरी नही होती है। दूसरेके दु:खको दूसरा नही बँटा सकता। दूसरेके कर्मका फल दूसरा नही भोग सकता। मनुष्य अकेला ही मरता है, अकेला ही अपनी सम्पत्तिका त्याग करता है, अकेला ही सम्पत्तिको स्वीकार करता है, अकेला ही कषायोको ग्रहण करता है, अकेला ही पदार्थोंको समझता है, अकेला ही चिंतन करता है, अकेला ही विद्वान होता है, और अकेला ही सुख-दु ख भोगता है।

२—तेणावि जं कयं कम्मं, सुहं वा जइ वा दुहं।
कम्मुणा तेण संजुत्तो, गच्छई उ परं भवं॥

उत्त० १८ : १७

जीव जो शुभ अथवा अशुभ—सुखरूप व दु खरूप कर्म करता है, उन कर्मोसे सयुक्त वह परलोकको जाता है।

३—आघायकिच्चमाहेउं, नाइओ विसएसिणो।
अन्ने हरंति तं वित्तं, कम्मी कम्मेहि किच्चई॥

सू० १, ९ : ४

दाह सस्कारादि अन्तिम क्रियाएँ करनेके पश्चात् विषयैषी ज्ञाति और अन्य लोग उसके धनको हर लेते है और पापकर्म करनेवाला एकला ही अपने किए हुए कृत्यो द्वारा ससारमें पीडित होता है।

४—न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ,
न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥
उत्त० १३ : २३

ज्ञाती-सम्बन्धी, मित्र वर्ग, पुत्र और बान्धव उसके दुःखमें भाग नही बंटाते। मनुष्यको स्वयं अकेलेको ही दुःख भोगना पडता है। कर्म, करनेवालेका ही पीछा करता है; करनेवालेको ही कर्म-फल भोगना पडता है।

५—चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च, खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मप्पबीओ अवसो पयाइ, परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥
उत्त० १३ : २४

द्विपद और चतुष्पद, क्षेत्र और गृह, धन और धान्य—इन सबको छोडकर पराधीन जीव केवल अपने कर्मोको साथ लेकर ही अकेला अच्छे या बुरे परभवमें जाता है।

६—एगब्भूओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मिगे।
एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥
उत्त० १९ : ७८

जैसे मृग अरण्यमे अकेला ही चर्या करता है, उसी तरह मैं चारित्र रूपी वनमें तप और सयम रूपी धर्मका पालन करता हुआ विहार करूंगा।

६ : अन्यत्व भावना

१—इह खलु पुरिसे अन्नमन्नं ममट्ठाए एवं विप्पडिवेदेंति तं जहा—खेत्तं मे वत्थू मे हिरण्णं मे सुवण्णं मे धणं मे धन्नं मे कंसं मे दूसं

मे विपुल धणकणगरयमणिमोत्तियसंखसिलप्पवालरत्तरयण संतसारसावएयं मे। सद्दा मे रूवा मे गंधा मे रसा मे फासा मे एए खलु मे कामभोगा अहमवि एएसिं। सू० २, १ : १३

इस मनुष्य लोकमें पुरुषगण अपनेसे सर्वथा भिन्न पदार्थोको झूठ ही अपना मानकर ऐसा अभिमान करते है कि खेत मेरा है, घर मेरा है, चांदी मेरी है, सोना मेरा है, धन मेरा है, धान्य मेरा है, कांसा मेरा है, लोहादि मेरे है, ये बहुतसे धन, सोना, रत्नमणि, मोती, शख-शिला, मूगा, लालरत्न, उत्तमोत्तम मणि और पैतृक धन मेरे हैं। शब्द मेरे है, रूप मेरे है, सुगध मेरी है, रस मेरे है, स्पर्श मेरे है—ये कामभोग मेरे है और मैं इनका हूं।

२—से मेहावी पुव्वामेव अप्पणो एवं समभिजाणेज्जा, तंजहा—इह खलु मम अन्नयरे दुक्खे रोगायंके समुप्पज्जेज्जा अणिट्ठे अकंते अप्पिए असुभे अमणुन्ने असणामे दुक्खे णो सुहे। से हन्ता भय-न्तारो! कामभोगाइं मम अन्नयर दुक्खं रोगायंक परियाइयह अणिट्ठं अकंतं अप्पियं असुभं असणुन्नं असणामं दुक्खं णो सुहं। ता अहं दुक्खामि वा सोयामि वा जूरामि वा तिप्पामि वा पीडामि वा परितप्पामि वा इमाओ मे अन्नयराओ दुक्खाओ रोगायंकाओ पडिमोयह अणिट्ठाओ अकन्तओ अप्पियाओ असुभाओ अम-णुन्नाओ अमणामाओ दुक्खाओ णो सुहाओ। एवामेव णो लद्धपुव्वं भवइ। इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमंसि। से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो?

सू० २, १ : १३

परन्तु बुद्धिमान पुरुषको पहलेसे ही यह सोच लेना चाहिये कि जब मुझको किसी प्रकारका दुःख या रोग उत्पन्न होता है, जो इष्ट नही है, प्रीतिकर नही है, किन्तु अप्रिय है, अशुभ है, अमनोज्ञ है; विशेष पीड़ा देनेवाला है, दुःख रूप है, सुख रूप नही है, उस समय यदि मै यह कहू कि—हे भयसे रक्षा करनेवाले मेरे धनधान्य आदि कामभोगो ! मेरे इस अनिष्ट, अप्रिय तथा अत्यन्त दु.खद रोगमें हिस्सा बँटावे—क्योकि मे इस रोगसे बहुत दुःखित हो रहा हूं, शोकमें पड़ा हूं, आत्म-निन्दा कर रहा हू, कष्ट पा रहा हूं, बहुत वेदना पा रहा हू—आप लोग मुझको इस अप्रिय, अनिष्ट तथा दु.खद रोग और दुःखसे मुक्त कर दें तो यह कभी नही होता।

वस्तुतः धनधान्य और क्षेत्र आदि मनुष्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नही है। कभी तो पुरुष पहले ही इन कामभोगोको छोड़ कर चल देता है और कभी कामभोग ही पुरुषको छोड़ कर चल देते है।

ये कामभोग अन्य है और मैं अन्य हूं।

फिर हम क्यो अन्य वस्तुमें आसक्त हो रहे है ?

३—इह खलु नाइसंजोगा नो ताणाए वा नो सरणाए वा, पुरिसे वा एगया पुव्विं नाइसंजोगे विप्पजहइ नाइसंजोगा वा एगया पुव्विं पुरिसं विप्पजहंति, अन्ने खलु नाइसंजोगा अन्नो अहमंसि से किमंग पुण वयं अन्नमन्नेहिं नाइ संजोगेहिं मुच्छामो ?

सू० २, १ : १३

इस लोकमें ज्ञाति-सयोग दु.खसे रक्षा करनेमें और मनुष्यको शान्ति देनेमें समर्थ नही है। कभी मनुष्य ही पहले ज्ञातिसंयोगको छोड देता है, और कभी ज्ञातिसयोग ही पुरुषको पहले छोड़ देता है। अत.

ज्ञातिसंयोग दूसरा है और मैं दूसरा हूं। तब फिर इस अपनेसे भिन्न ज्ञातिसंयोगमें हम क्यों आसक्त हो?

४—तं एक्कगं तुच्छ सरीरगं से, चिईगयं दहिय उ पावगेणं।
भज्जा य पुत्तो वि य नायओ वा, दायारमन्नं अणुसंकमन्ति॥
उत्त० १३ : २५

मनुष्यके चितागत अकेले तुच्छ शरीरको अग्निसे जला दिया जाता है और उसकी भार्या, पुत्र और बांधव—किसी अन्य दातारका अनुसरण करते हैं।

५—दाराणि य सुया चेव, मित्ता य तह बन्धवा।
जीवन्तमणुजीवन्ति, मयं नाणुव्वयन्ति य॥
उत्त० १८ : १४

स्त्री और पुत्र, मित्र और बान्धव जीवनकालमें ही पीछे-पीछे चलते हैं, मरनेके बाद वे साथ नही देते।

६—नीहरन्ति मयं पुत्ता, पियरं परमदुक्खिया।
पियरो वि तहा पुत्ते, बन्धू रायं तवं चरे॥
उत्त० १८ : १५

जैसे अत्यन्त दु:खी हुए पुत्र मृत पिताको घरके बाहर निकाल देते हैं, वैसे ही माता-पिता भी मरे पुत्रको बाहर निकाल देते हैं। सगे सम्बन्धियोंके विषयमें भी यही बात है। हे राजन्! यह देख कर तू तप कर।

७ : अशुचि भावना

१—इमं सरीरं अणिच्चं, असुइं असुइसंभवं।
असासयावासमिणं, दुक्खकेसाण भायणं॥
उत्त० १९ : १३

यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचिसे उत्पन्न है। यह शरीर आत्मा-रूपी पक्षीका अस्थिर वास है और दुःख तथा क्लेशका भाजन—घर—है।

२—तं मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया, माणुस्सएसु कामभोगेसु।
सज्जह रज्जह गिज्झह, मुज्झह अज्झोववज्जह॥
ज्ञा० अ० ८

अतः हे देवानुप्रिय! तुम मानुषिक कामभोगोमे आसक्त न बनो, रागी न बनो, गृद्ध न बनो, मूर्छित न बनो और अप्राप्त भोगोको प्राप्त करनेकी लालसा मत करो।

३—असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुब्बुयसंनिभे॥ उत्त० १६ : १४

जल्दी या देरसे इस शरीरको छोड़ना पडता है। यह शरीर फेनके वुद्‌वुदके समान क्षणभगुर है। इस अशाश्वत शरीरमें मै जरा भी आनन्द नही पाता।

४—माणुसत्ते असारम्मि, वाहिरोगाण आलए।
जरामरणघत्थम्मि, खणं पि न रमामहं॥ उत्त० १६ : १५

यह मनुष्य शरीर असार है। व्याधि-रोगका घर है और जरा-मरणसे रात दिन ग्रसित है। इस असार मनुष्य शरीरमें मुझे एक क्षणके लिए भी आनन्द नही मिलता।

८ : आश्रव भावना

१—ते चक्खु लोगंसिह नायगा उ, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया माणव संपगाढा॥
सू० १, १२ : १२

अतिशय ज्ञानी वे तीर्थंकर आदि लोकके नेत्रके समान हैं। वे धर्म-नायक हैं। वे प्रजाओको कल्याण-मार्गकी शिक्षा देते हैं। वे कहते हैं—"हे मनुष्यो ! ज्यो-ज्यो मिथ्यात्व बढता है, त्यो-त्यो ससार भी शाश्वत होता जाता है। ससारकी वृद्धि इसी तरह होती है जिसमें नाना प्राणी निवास करते हैं।"

२—जे रक्खसा वा जमलोइया वा, जे वा सुरा गंधव्वा य काया
आगासगामी य पुढोसिया जे, पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥

सू० १, १२ : १३

जो राक्षस हैं, जो यमपुरवासी हैं, जो देवता है, जो गर्धव है, जो आकाशगामी व पृथ्वी निवासी हैं वे सब मिथ्यात्वादि कारणोसे ही बार-बार भिन्न-भिन्न रूपोमें जन्म धारण करते हैं।

३—जमाहु ओहं सलिलं अपारगं, जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसन्ना विसयंगणाहिं, दुहओऽवि लोयं अणुसंचरन्ति ॥

सू० १, १२ : १४

जिस संसारको अपार सलिलवाले स्वयभूरमण समुद्रकी उपमा दी गई है, वह भिन्न भिन्न योनियोके कारण बड़ा ही गहन और दुस्तर है। विषय और स्त्रियोमें आसक्त जीव स्थावर और जगम दोनो जगतमें बार-बार भ्रमण करते हैं।

४—ते तीयउप्पन्नमणागयाइं, लोगस्स जाणंति तहागयाइं।
नेयारो अन्नेसि अणन्नणेया, बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥

सू० १, १२: १६

उपरोक्त भावोको जिन्होने कहा है वे जीवोके भूत, वर्तमान और भविष्यको जाननेवाले, जगत्के अनन्य नेता और ससारको अत करने वाले बुद्ध—ज्ञानी—पुरुष हैं।

९ : संवर भावना

१—तिउट्टई उ मेहावी, जाणं लोगंसि पावगं।
तुट्टंति पावकम्माणि, नवं कम्ममकुव्वओ ॥
सू० १, १५ : ६

पाप कर्मको जाननेवाला बुद्धिमान पुरुष ससारमें रहता हुआ भी पापसे छुट जाता है। जो पुरुष नए कर्म नही करता उसके सभी पापकर्म छुट जाते हैं।

२—जं मयं सव्व साहूणं, तं मयं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा, देवा वा अभविसु ते ॥
सू० १, १५ : २४

सर्व साधुओंको मान्य जो सयम है वह पापको नाश करनेवाला है। इस संयमकी आराधना कर बहुत जीव ससार सागरसे पार हुए हैं और बहुतोंने देवभवको प्राप्त किया है।

३—अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणइ।
विन्नाय से महावीरे, जेण जाई ण मिज्जई ॥
सू० १, १५ : ७

जो नही करता उसके नए कर्म नही बधते। कर्मोको जाननेवाला महावीर पुरुष उनकी स्थिति और अनुभाग आदिको जानता हुआ ऐसा कार्य करता है जिससे वह ससारमे न तो कभी उत्पन्न होता और न कभी मरता है।

४—पंडिए वीरियं लद्धुं, निग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं, णवं वावि ण कुव्वई ॥
सू० १, १५ : २२

पडित पुरुष, कर्मोंको विदारण करनेमें समर्थ वीर्य्यको प्राप्त करके नवीन कर्म न करे और पूर्वकृत कर्मोको धुन डाले।

५—अभविंसु पुरा धीरा, आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुन्निबोहस्स मग्गस्स, अंतं पाउकरा तिण्णे॥
सू० १, १५ : २५

पूर्व समयमे बहुतसे धीर पुरुष हो चुके है और भविष्यकालमें भी ऐसे सुव्रती पुरुष होगे जो दुर्निबोध—दुष्प्राप्य—मोक्ष मार्गकी अन्तिम सीमा पर पहुँच कर तथा उसे दूसरोको प्रकट कर इस ससार सागरसे तिरे है या तिरेगे।

१० : निर्जरा भावना

१—पाणिवहमुसावाया, अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ, जीवो भवइ अणासवो॥
उत्त० ३० : २

प्राणिवध—हिंसा, मृषावाद—झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह तथा रात्रि भोजनसे विरत जीव अनाश्रव—नए कर्म-प्रवेशसे रहित—हो जाता है।

२—पंचसमिओ तिगुत्तो, अकसाओ जिइन्दिओ।
अगारवो य निस्सल्लो, जीवो होइ अणासवो॥
उत्त० ३० : ३

जो जीव पाच समितियोसे सवृत, तीन गुप्तियोसे गुप्त, चार कषाय से रहित, जितेन्द्रिय तथा तीन प्रकारके गर्व और तीन प्रकारके शल्यसे रहित होता है वह अनास्रव—नए कर्म-सचयसे रहित—हो जाता है।

३—जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे।
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे।

एवं तु संजयस्सावि, पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जइ ॥

उत्त० ३० : ५, ६

जिस तरह जल आनेके मार्गोंको रोक देने पर बड़ा तालाब पानीके उलीचे जाने और सूर्यके तापसे क्रमशः सूख जाता है उसी तरह आस्रव—पाप-कर्मके प्रवेश-मार्गोंको रोक देनेवाले संयमी पुरुषके करोड़ों भवों—जन्मों—के सचित कर्म तपके द्वारा जीर्ण होकर झड़ जाते हैं।

४—सो तवो दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भन्तरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भन्तरो तवो ॥

उत्त० ३० : ७

यह तप बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका कहा गया है। बाह्य तप छः प्रकारका कहा गया है और आभ्यन्तर तप भी उतने ही प्रकारका।

५—अणसणमूणोयरिया, य भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया, य बज्झो तवो होइ ॥

उत्त० ३० : ८

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और संलीनता—ये बाह्य तप हैं।

६—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिन्तरो तवो ॥

उत्त० ३० : ३०

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये आभ्यन्तर तपके छः भेद हैं।

७—धुणिया कुलियं व लेववं।
किसए देहमणसणा इह ॥ सू० १, २ । १ : १४

जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, इसी तरह अनशन आदि तप द्वारा अपनी देहको कृश कर देना चाहिए।

८—कसेहि अप्पाणं।
जरेहि अप्पाणं॥

आ० १, ४ । ३ : ५

आत्माको कसो—दमन करो। आत्माको जीर्ण करो—पतली करो।

९—इह आणाकंखी पंडिए
अणिहे एगमप्पाणं
सपेहाए धुणे सरीरगं।

आ० १, ४ । ३ : ४

सत्पुरुषोकी आज्ञा पालनकी चाह रखनेवाला पण्डित पुरुष, आत्मा को अकेली समझ कर, अमोह भावसे शरीरको तपसे क्षीण करे।

१०—जहा जुन्नाइं कट्ठाइं
हव्ववाहो पमत्थति
एवं अत्तमाहिते अणिहे।

आ० १, ४ । ३ : ६

जिस तरह अग्नि पुराने सूखे लकड़ोको शीघ्र जलाती है, उसी तरह आत्मनिष्ठ और स्नेहरहित जीवके कर्म शीघ्र जलते हैं।

११—न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला।
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा॥

सू० १, १२ : १५

मूर्ख जीव कर्म (सावद्यानुष्ठान) कर कर्मोका क्षय नही कर सकते। धीर पुरुष अकर्म द्वारा कर्मोका क्षय करते है।

१२—सउणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं, कम्मं खवइ तवस्सि माहणे॥

सू० १, २-१ : १५

जैसे शकुनिका पक्षिणी अपने शरीरमें लगी हुई रजको पंख झाड़ कर दूर कर देती है, उसी तरहसे जितेन्द्रिय अहिंसक तपस्वी अनशन आदि तप कर अपने आत्म-प्रदेशोंसे कर्मको झाड़ देता है।

१३—खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो॥

उत्त० २८ : ३६

संयम और तपके द्वारा पूर्व कर्मोंका क्षयकर महर्षि सर्व दुःखोंसे रहित जो मोक्ष-पद है उसके लिए पराक्रम करते हैं।

१४—एवं तवं तु दुविहं, जे सम्मं आयरे मुणी।
सो खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पंडिओ॥

उत्त० ३० : ३७

जो मुनि बाह्य और आभ्यन्तर इन दो प्रकारके तपोंका सम्यक् प्रकारसे आचारण करता है, वह पण्डित पुरुष संसारसे शीघ्र मुक्त हो जाता है।

१५—तवनाराय जुत्तेण, भित्तूण कम्मकंचुयं।
मुणी विगयसंगामो, भवाओ परिमुच्चए॥

उत्त० ९ : २२

तप रूपी बाणसे सयुक्त हो, कर्मरूपी कवचको भेद करनेवाला मुनि, संग्रामका अंत ला, संसारसे—जन्म जन्मान्तरसे मुक्त हो जाता है।

११ : धर्म भावना

१—धम्मो मङ्गलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणो ॥
द० १ : १

धर्म उत्कृष्ट मंगल है। अहिंसा, संयम और तप—यही धर्म है। जिसका मन सदा धर्ममें रहता है उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२—पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं।
जेसिं पिओ तवो, संजमो अ खन्ती अ बंभचेरं च ॥
द० ४ : २८

जिन्हें तप, संयम, क्षमा और ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे शीघ्र अमरभवनको प्राप्त करते हैं, भले ही उन्होंने पिछली अवस्थामें ही संयम ग्रहण क्यों न किया हो।

३—सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ॥
उत्त० १३ : १०

मनुष्योंके सब सदाचार सफल होते है। किए हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलसे कोई छुटकारा नहीं पा सकता। उत्तम कामभोग और सम्पत्तिके रूपमें मुझे भी अपने शुभ कर्म—पुण्योंका फल मिला है।

४—इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए, धम्मं अकाऊण परंमि लोए ॥
उत्त० १३ : २१

हे राजन्! यह जीवन अशाश्वत है। जो इसमें पुण्य—सत्कृत्य और धर्म नहीं करता वह मृत्युके मुखमें पड़नेके समय पश्चाताप करता है तथा परलोकमें भी दुःखित होता है।

५—अद्धाणं जो महंतं तु, अप्पाहेओ पवज्जई,
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहातण्हाएपीडिओ।
एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं,
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाहीरोगेहिं पीडिओ॥
अद्धाणं जो महंतं तु, सपाहेओ पवज्जई,
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहातण्हाविवज्जिओ।
एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं,
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे॥

उत्त० १६ : १६-२२

जैसे कोई लम्बी यात्राके लिए निकले और साथमें अन्न-जल (पाथेय) न ले तो आगे जाकर क्षुधा तृष्णासे पीड़ित होकर दुःखी होता है, वैसे ही जो धर्म न कर परभवको जाता है वह जाता हुआ व्याधि और रोगसे पीड़ित होनेपर दुःखी होता है। जैसे कोई लम्बी यात्राके लिए निकलता हुआ अन्न-जल आदि साथमें ले लेता है तो क्षुधा तृषासे पीड़ित नहीं होता हुआ सुखी रहता है, वैसे ही धर्म कर परभवको जाता हुआ प्राणी अल्पकर्म और अवेदनाके कारण सुखी होता है।

६—जा जा वच्चइ रयणी, न सा पड़िनियत्तई।
अहम्मं कुणमाणस्स, अफला जन्ति राइओ॥
जा जा वच्चइ रयणी, न सा पड़िनियत्तई।
धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जन्ति राइओ॥

उत्त० १४ : २४ : २५

जो-जो रात्रि जाती है वह लौटकर नहीं आती। अधर्म करने वालेकी रात्रियां निष्फल जाती हैं।

जो-जो रात्रि जाती है वह लौटकर नही आती। धर्म करनेवाले की रात्रियां सफल जाती है।

७—जरा जाव न पीड़ेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिआ न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥
द० अ० ८ : ३६

जरा जब तक पीडित नही करती, व्याधिया जब तक नही बढती, इन्द्रिया जब तक हीन (शिथिल) नही होती तब तक धर्मका अच्छी तरह आचरण कर लेना चाहिए।

८—इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि, इमं च मे किच्च मिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं, हरा हरंति त्ति कहं पमाओ॥
उत्त० १४ : १५

यह मेरे पास है और यह मेरे पास नही है, यह मुझे करना है और यह मुझे नही करना—ऐसा विचार करते-करते ही काल रूपी चोर प्राणोको हर लेता है। फिर धर्ममें यह प्रमाद क्यो ?

९—जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥
उत्त० १४ : २७

जिस मनुष्य की मृत्यु से मैत्री हो, जो उसके पजे से भाग निकलने का सामर्थ्य रखता हो, जो नही मरूँगा यह निश्चय रूप से जानता हो वही कल—आगामी काल—का भरोसा कर सकता है।

१०—अज्जेव धम्मं पडिवज्जयामो, जहिं पवन्ना न पुणब्भवामो।
अणागयं नेव य अत्थि किंचि, सद्धाखमं णे विणइत्तु रागं॥
उत्त० १४ : २८

हम तो आज ही धर्म अगीकार करेगे, जिसके स्वीकार करने से

पुनर्भव नही होता। ऐसा कोई पदार्थ नही जो हमने नही भोगा। श्रद्धा हमें राग से मुक्त करेगी।

१२ : कामभोग भावना

१—उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई॥
उत्त० २५ : ४१

भोगसे ही कर्मोका लेप—बन्धन—होता है। भोगीको जन्म-मरण रूपी संसारमे भ्रमण करना पड़ता है जबकि अभोगी संसारसे छुट जाता है।

२—उल्लो सुक्खो य दो छूढा, गोलया मट्टियामया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोऽत्थ लग्गई॥
एवं लग्गन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा।
विरत्ता उ न लग्गन्ति, जहा से सुक्क गोलए॥
उत्त० २५ : ४२, ४३

जिस तरह सूखे और गीले दो मिट्टीके गोलोको फेकने पर उनमेंसे गीला ही दीवारके चिपकता है और सूखा नही चिपकता, उसी प्रकार जो काम लालसामें आसक्त और दुष्ट बुद्धिवाले मनुष्य होते है, उन्ही को ससारका बन्धन होता है पर जो कामभोगोसे विरत होते है, उनके ऐसा नही होता।

३—खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा॥
उत्त० १४ : १३

कामभोगोंमें क्षणिक (इन्द्रिय—) सुख होता है और दीर्घकालीन आत्मिक दुःख। उनमें सुखानुभव तो अणि–नाम मात्र है और दु खका कोई ठिकाना नही। ससारसे छुटकारा पानेमें ये बाधक—विघ्नकारी है। कामभोग अनर्थकी खान है।

४—जहा य किम्पागफला मणोरमा, रसेण वण्णेण य भुंज्जमाणा।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा, एओवमा कामगुणा विवागे॥
उत्त० ३२ : २०

जिस तरह किम्पाकफल खाते समय रस और वर्णमें मनोरम होनेपर भी पचनेपर जीवनका अत करते है, उसी तरहसे भोगनेमें मनोहर कामभोग विपाक कालमें—फल देनेकी अवस्थामें अधोगतिके कारण होते है।

५—सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं॥
उत्त० ६ : ५३

कामभोग शल्य रूप है। कामभोग विषरूप है। कामभोग जहरी नागके सदृश है। भोगोकी प्रार्थना करते-करते जीव विचारे उनको प्राप्त किए विना ही दुर्गतिमें चले जाते है।

६—सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥
उत्त० १३ : १६

सर्व गीत विलाप है, सर्व नृत्य विडम्बना है, सर्व आभूषण भार है और सर्व कामभोग दु ख रूप है।

७—कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं, सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइयं माणसियं च किंचि, तस्सऽन्तगं गच्छइ वीयरागो॥
उत्त० ३२ : १६

देवो सहित सर्वलोकमें जो सब कायिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब कामभोगोकी आसक्तिसे ही उत्पन्न हैं। वीतराग पुरुष ही उन सबका अंत ला सकता है।

८—गिद्धोवमा उ नच्चाणं, कामे संसार वड्ढणे।
उरगो सुवण्णपासे व्व, संकमाणो तणुं चरे॥
उत्त० १४ : ४७

कामभोग ससारको बढ़ानेवाले हैं। गृद्ध पक्षीके दृष्टान्तको जान कर विवेकी पुरुष, गरुड़के समीप सर्पकी तरह, कामभोगोसे सशंकित रहता हुआ डर-डर कर चले।

९—इह कामाणियट्टस्स, अत्तट्ठे अवरज्झई।
सोच्चा नेयाउयं मग्गं, जं भुज्जो परिभस्सई॥
उत्त० ७ : २५

इस ससारमें कामभोगो से निवृत्त न होने वाले पुरुष का आत्म-प्रयोजन नष्ट हो जाता है। मोक्ष मार्ग को सुनकर भी वह उससे पुनः पुन भ्रष्ट हो जाता है।

१०—जे गिद्धे कामभोगेसु, एगे कूडाय गच्छई।
न मे दिट्ठे परे लोए, चक्खुदिट्ठा इमा रई॥ उत्त० ५ : ५

जो मनुष्य शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पांच प्रकार के कामभोगो में आसक्त होते हैं वे नाना पापकृत्यमें प्रवृत्त होते हैं। जब उन्हें कोई धर्मकी बात कहता है तो वे कहते हैं : "हमने परलोक नही देखा और इन कामभोगोका आनन्द तो आखोसे देखा है—प्रत्यक्ष है।"

११—हत्थागया इमे कामा, कालिया जे अणागया।
को जाणइ परे लोए, अत्थि वा नत्थि वा पुणो॥
उत्त० ५ : ६

"ये वर्तमान कालके कामभोग तो हाथमें आए हुए हैं। लेकिन कामभोग का निषेध—कौन जानता है और यह भी कौन जानता है कि परलोक है या नहीं?"

९७—जणेण सद्धिं होक्खामि इइ बाले पगब्भई।
कामभोगाणुराएणं केसं संपडिवज्जई॥
उत्त० ५ : ७

"मैं तो अनेक लोगोंके साथ रहूँगा"—ऐसे मनुष्य इसी प्रकार धृष्टता भरी बातें कहा करते हैं। ऐसे मनुष्य कामभोगोंके अनुराग—आसक्तिसे दुःख क्लेश और परलोकमें क्लेशको प्राप्त करते हैं।

९८—कायसा वयसा मत्ते वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ सिसुणागु व्व मट्टियं॥
उत्त० ५ : १०

कामभोगोंमें आसक्त हुए मनुष्य शरीर और वचनसे मत्त होकर एक ही साथ दो प्रकारसे केंचुएकी तरह मल संचय करता है।

९९—जे इह सायाणुगा नरा, अज्झोववन्ना कामेहि मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, न वि जाणंति समाहिमाहियं॥
सूय० १,२-३ : ४

इस संसारमें जो मनुष्य सुखशील हैं—समृद्धि, रस और सुखमें लुब्ध हैं, जो कामभोगोंमें मूर्च्छित हैं, जो इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त होकर दीनकी तरह धृष्ट बने हैं वे समाधिमार्गको नहीं जानते।

१००—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव॥
उत्त० ४ : ५

१६—एवं कामसेण विऊ, अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं।
कामी कामे न कामए, लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ॥
सू० १, २ । ३ : ६

जिस तरह वाहक द्वारा त्रास देकर हाका जाता हुआ बैल थक जाता है और मारे जाने पर भी अल्प बलके कारण आगे नही चलता और आखिर रास्तेमें ही कष्ट पाता है

उसी तरहसे क्षीण मनोबल वाला अविवेकी पुरुष सद्‌बोध पाने पर भी कामभोग रूपी कादेसे नही निकल सकता। आज या कल इन कामभोगोको छोडूगा, वह केवल यही सोचा करता है। सुख चाहने-वाला पुरुष कामभोगोकी कामना न करे और प्राप्त हुए भोगोको भी अप्राप्त हुआ करे—त्यागे।

१७—मा पच्छ असाधुता भवे, अच्चेही अणुसास अप्पगं।
अहियं च असाहु, सोयई से थणई परिदेवई बहुं ॥
सू० १, २ । ३ : ७

कही परभवमे दुर्गति न हो इस विचारसे आत्माको विषय सगसे दूर करो और उसे अकुशमें रक्खो। असाधु कर्मसे तीव्र दुर्गतिमें गया हुआ जीव अत्यन्त सोच करता है, आक्रन्दन करता है और विलाप करता है।

१८—इह जीवियमेव पासहा, तरुणे वा ससयस्स तुट्टई।
इत्तरवासे य वुज्झह, गिद्ध नरा कामेसु मुच्छिया ॥
सू० १, २ । ३ : ८

ससारमें और पदार्थकी तो वात ही क्या, इस अपने जीवनको ही देखो। यह पल-पल क्षीण हो रहा है। कभी आयु तरुणावस्थामें ही पूरा हो जाता है और अधिक हुआ तो सौ वर्षके छोटेसे कालमें।

यहां कितना क्षणिक निवास है ! हे जीव ! समझो । कितना आश्चर्य है कि आयुष्यका भरोसा न होते हुए भी विषयासक्त पुरुष कामोमें मूर्च्छित रहते है ।

१९—न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई ।
पच्चुप्पन्नेण कारियं, को दट्ठूं परलोगमागए ॥
सू० १, २ । ३ : १०

टूटा हुआ आयु नही संध सकता—ऐसा सर्वज्ञोने कहा है, तो भी मूर्ख लोग धृष्टतापूर्वक पाप करते रहते है और कहते है "हमें तो वर्तमानसे ही मतलब है । परलोक कौन देखकर आया है ?"

२०—अदक्खुव दक्खुवाहियं, तं सद्दहसु अदक्खुदंसणा ।
हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे, मोहणिएण कडेण कम्मुणा ॥
सू० १, २ । ३ : ११

हे नही देखनेवाले पुरुषो ! त्रिभुवनको देखनेवाले ज्ञानी पुरुषोके वचनो पर श्रद्धा करो । मोहनीय कर्मके उदयसे अवरुद्ध दर्शनशक्ति वाले अंध पुरुषो ! सर्वज्ञोके वचनको ग्रहण करो ।

२१—पुरिसो रम पावकम्मुणा, पलियन्तं मणुयाण जीवियं ।
सन्ना इह काममुच्छिया, मोहं जन्ति नरा असंवुडा ॥
सू० १, २ । १ : १०

हे पुरुष ! पाप कर्मोसे निवृत हो । यह मनुष्य जीवन शीघ्रतासे दौड़ा जा रहा है । जो लाभ लेना हो वह लो ले । भोग रूपी कादेमें फसा हुआ और कामभोगोमें मूर्च्छित अजितेन्द्रिय मनुष्य हिताहित विवेकको खोकर मोह ग्रस्त होता है ।

२२ : आत्मा

१—अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नन्दणं वणं॥
उत्त० २० : ३६

यह आत्मा ही वैतरणी नदी है, और यही कूट शाल्मली वृक्ष है। आत्मा ही इच्छानुसार दूध देनेवाली—कामदुहा धेनु है और यही नंदन वन है।

२—अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय सुप्पट्ठिओ॥
उत्त० २० : ३७

आत्मा ही सुख और दुःखको उत्पन्न करने और न करनेवाली है। आत्मा ही सदाचारसे मित्र और दुराचारसे अमित्र—शत्रु है।

३—से सुयं च मे अज्झत्थं च मे।
बन्धप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव॥
आ० ५। २ : १५०

मैंने सुना है और मुझे अनुभव भी है कि बंधनसे मुक्त होना तुम्हारे ही हाथमें है।

४—इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ
जुद्धारिहं खलु दुल्लभं।
आ० ५। ३ : १५३

हे प्राणी ! अपनी आत्माके साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करनेसे क्या मतलब ? दुष्ट आत्माके समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ हैं।

५—पुरिसा ! तुममेव तुमं—मित्तं, किं बहिया
मित्तमिच्छसी ? पुरिसा ! अत्ताणमेव
अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमोक्खसि।

आ० ३ । ३ : ११७-८

हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यो मित्रकी खोज करता है ? हे पुरुष अपनी आत्माको ही वशमें कर। ऐसा करनेसे तू सर्व दुखोसे मुक्त होगा।

२३ : अहिंसा

१—तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ॥

द० ६ : ६

महावीरने १८ गुण-स्थानोंमें प्रथम स्थानमें अहिंसाका उपदेश दिया है। अहिंसाको भगवानने जीवोंके लिए कल्याणकारी देखा है। सर्व जीवोंके प्रति संयमपूर्ण जीवन-व्यवहार ही उत्तम अहिंसा है।

२—पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए।
अन्नाणी किं काही, किं वा नाही सेय पावगं ॥

द० ४ : १०

सर्व संयमियोंके लिए एक ही बात है—'पहले जीवोंका ज्ञान और फिर दया।' अज्ञानी बेचारा क्या कर सकता है? वह क्या जाने—क्या श्रेय है और क्या पाप।

३—जो जीवे वि न याणाइ, अजीवे वि न याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो कहं सो नाहीइ संजमं ॥

द० ४ : १२

जिसे जीवोंका विवेक—ज्ञान नहीं, उसे अजीवोंका विवेक—ज्ञान भी नहीं हो सकता और अगर जीव-अजीवका विवेक न हो तो अहिंसा-रूपी संयमको कोई कैसे जान सकता है?

४—पुढवीजीवा पुढो सत्ता, आउजीवा तहागणी।
वाउजीवा पुढो सत्ता, तणरुक्खा सबीयगा॥

सू० १, ११ : ७

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) अग्नि, (४) वायु और (५) घास-वृक्ष-धान आदि वनस्पति—ये सब अलग-अलग जीव हैं। पृथ्वी आदि हरेकमें भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वके धारक अलग-अलग जीव है।

५—अहावरा तसा पाणा, एवं छक्काय आहिया।
एयावए जीवकाए, नावरे कोइ विज्जई॥

सू० १, ११ : ८

उपरोक्त स्थावर जीवोके उपरान्त त्रस प्राणी हैं, जिनमें चलने-फिरनेका सामर्थ्य होता है। ये ही जीवोके ६ वर्ग है। इनके सिवा दुनियामें और जीव नही हैं।

६—जे केइ तसा पाणा, चिट्ठन्ति अदु थावरा।
परियाए अत्थि से अञ्जू, जेण ते तसथावरा॥

सू० १, १। ४ : ८

जगत्‌में कई जीव त्रस है और कई जीव स्थावर। एक पर्यायमें होना या दूसरीमें होना कर्मोंकी विचित्रता हैं। अपनी-अपनी कमाई है, जिससे जीव त्रस या स्थावर होते है।

७—उरालं जगओ जोगं, विवज्जासं पलेन्ति य।
सव्वे अक्कंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसिया॥

सू० १, १। ४ : ६

एक ही जीव, जो एक जन्ममें त्रस होता है, दूसरे जन्ममें स्थावर हो सकता हैं। त्रस हो या स्थावर—सब जीवोको दुःख अप्रिय होता है। यह समझकर मुमुक्षु सब जीवोके प्रति अहिंसा-भाव रखे।

८—तेसिं अच्छणजोएण, निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा कायवक्केण, एवं हवइ संजए॥
द० ८ : ३

मन, वचन और काया इनमेंसे किसी एकके द्वारा भी किसी प्रकार के जीवोकी हिंसा न हो, ऐसा व्यवहार ही संयमी जीवन है। ऐसे जीवनका निरन्तर धारण ही अहिंसा है।

९—एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ किंचण।
अहिंसा समयं चेव, एयावन्तं वियाणिया॥
सू० १, १ । ४ : १० ; ११ : १०

'किसी भी प्राणीकी हिंसा नही करनी चाहिए'—यही ज्ञानियोके ज्ञान—वचनोका सार है। अहिंसा—समता—सर्व जीवोके प्रति आत्मवत् भाव—इसे ही शाश्वत् धर्म समझो।

१०—उड्ढं अहे य तिरियं, जे केइ तसथावरा।
सव्वत्थ विरइं विज्जा, सन्ति निव्वाणमाहियं॥
सू० १, ११ : ११

ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—तीनो लोकमें जो भी त्रस और स्थावर जीव हैं उन सबके प्राणातिपातसे विरत होना चाहिए। सब जीवोके प्रति वैरकी शांतिको ही निर्वाण कहा है।

११—जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संति तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा॥
सू० १, ११ : ३६

जो तीर्थंकर हो चुके है और जो तीर्थंकर होनेवाले है—उन सबका प्रतिष्ठास्थान शान्ति—सब जीवोके प्रति दयारूप भाव—ही है, जिस तरह कि सब जीवोका आधार पृथ्वी है।

१२—पभू दोसे निराकिच्चा, न विरुज्झेज्ज केण वि।
मणसा वयसा चेव, कायसा चेव अन्तसो॥

सू० १, ११ : १२

इन्द्रियोको जीतनेवाला समर्थ पुरुष किसी भी प्राणीके साथ जावज्जीवन पर्यंत मन, वचन और कायासे वैर विरोध न करे।

१३—विरए गामधम्मेहिं, जे केइ जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए, थामं कुव्वं परिव्वए॥

सू० १, ११ : ३३

शब्दादि इन्द्रियोके विषयोसे उदासीन पुरुष, इस जगत्‌में जो भी त्रस और स्थावर जीव है, उनको आत्मतुल्य देख उनका बचाव करता हुआ बलवीर्यको प्रकट कर संयमका पालन करे।

१४—एएसु बाले य पकुव्वमाणे, आवट्टई कम्मसु पावएसु।
अइवायओ कीरइ पावकम्मं, निउञ्जमाणे उ करेइ कम्मं॥

सू० १, १० : ५

अज्ञानी मनुष्य इन पृथ्वी आदि जीवोके प्रति दुर्व्यवहार करता हुआ पाप कर्म संचय कर बहुत दुःख पाता है। जो जीवोकी घात करता है वह और जो जीवोकी घात कराता है वह—दोनो ही पाप-कर्मका उपार्जन करते है।

१५—सयं तिवायए पाणे, अदुवन्नेहि घायए।
हणन्तं वाणुजाणाइ, वेरं वड्ढेइ अप्पणो॥

सू० १, १।१ : ३

जो स्वयं जीवोकी हिंसा करता है, दूसरोसे करवाता है या जो जीव-हिंसाका अनुमोदन करता है वह (प्रति-हिंसाको जगाता हुआ) वैरकी वृद्धि करता है।

१६—तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं परियावेयव्वं ति मन्नसि,
तुमंसि नाम सच्चेव जं परिघित्तव्वं ति मन्नसि।
तुमंसि नाम सच्चेव जं उद्दवेयव्वं ति मन्नसि,
अंजू चेय पडिवुद्धजीवी तम्हा न हंता न वि
घायए अणुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभि पत्थए।

आ० १, ५ । ५ : ५

हे पुरुष ! जिसे तू मारनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही सुख दुःखका अनुभव करनेवाला प्राणी है; जिस पर हुकूमत करनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे दु.ख देनेका विचार करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसे अपने वशमें रखनेकी इच्छा करता है विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है; जिसके प्राण लेनेकी इच्छा करता है—विचार कर वह तेरे जैसा ही प्राणी है।

सत्पुरुष इसी तरह विवेक रखता हुआ जीवन बिताता है और न किसीको मारता है और न किसीकी घात करता है।

जो हिंसा करता है, उसका फल वैसा ही पीछा भोगना पड़ता है, अत. वह किसी भी प्राणीकी हिंसा करनेकी कामना न करे।

१७—पुव्वं निकायसमयं पत्तेयं, पुच्छिस्सामि
हं भो ! पवाइया किं भे सायं दुक्खं असायं ?
समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया—
सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं, सव्वेसिं जीवाणं
सव्वेसिं सत्ताणं, असायं अपरिनिव्वाणंमहब्भयं दुक्खं।

आ० १, ४ । २ : ६

प्रत्येक दर्शनको पहले जानकर मै प्रश्न करता हू, 'हे वादियो ! तुम्हे सुख अप्रिय है या दु ख अप्रिय ?' यदि तुम स्वीकार करते हो कि दु ख अप्रिय है तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियोको, सर्व भूतोको, सर्व जीवोको और सर्व सत्त्वोको दु ख महा भयकर, अनिष्ट और अशान्ति कर है ।

१८—सव्वे पाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्खपडिकूला
अप्पियवहा पियजीवणो, जीविउकामा सव्वेसिं जीवियं पियं
आ० १, २ । ३ : ७

सभी प्राणियोको अपनी-अपनी आयु प्रिय है । सुख अनुकूल है । दु ख प्रतिकूल है । वध सबको अप्रिय है । जीना सबको प्रिय है । सब जीव लम्बे जीवनकी कामना करते है । सभीको जीवन प्रिय लगता है ।

१९—नाइ वाएज्ज कंचणं ।

यह सब समझ कर किसी जीवकी हिंसा नही करनी चाहिए ।

न य वित्तासए परं । उत्त० २ : २०

किसी जीवको त्रास नही पहुचाना चाहिए ।

न विरुज्झेज्ज केणई । सू० १, १५ : १३

किसीके प्रति वैर और विरोधभाव नही रखना चाहिए ।

मेत्तिं भूएसु कप्पए ॥ उत्त० ६ : २

सब जीवोके प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए ।

२०—पुढवीकाए जाव तसकाए ।

मम अस्सायं दण्डेव वा अट्ठीण वा मुट्ठीण वा लेलूण वा कवालेण वा आउट्टिज्जमाणस्स वा हम्ममाणस्स वा तज्जिज्जमाणस्स वा ताडिज्जमाणस्स वा परिपाविज्जमाणस्स वा किलामिज्जमाणस्स

वा उद्दविज्जमाणस्स वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेमि, इच्चेवं जाण सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे पाणा सव्वे सत्ता दण्डेण वा जाव कवालेण वा आउट्टिज्जमाणा वा हम्ममाणा वा तज्जिज्जमाणा वा जाव लोमुक्खणणमायमवि हिंसाकारगं दुक्खं भयं पडिसंवेदेन्ति। एवं नच्चा सव्वे पाणा जाव सत्ता न हन्तव्वा, न अज्जावेयव्वा न परिघेयव्वा न परितावेयव्वा न उद्दवेयव्वा।

एस धम्मे धुवे नीइए सासए।

सू० २, १ : १५

पृथ्वीकाय, अप्काय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये ६: जीव निकाय हैं।

'जैसे मुझे कोई बेंत, हड्डी, मुष्टि, ककर, ठिकरी आदिसे मारे, पीटे, ताड़े, तर्जन करे, दु.ख दे, व्याकुल करे, भयभीत करे, प्राण हरण करे तो मुझे दु ख होता है, जैसे मृत्युसे लगाकर रोम उखाड़ने तकसे मुझे दुःख और भय होता है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वोको होता है'—यह सोचकर किसी भी प्राणी, भूत जीव व सत्त्वको नही मारना चाहिए, उसपर हुकूमत नही करनी चाहिए, उसे परिताप नही पहुँचाना चाहिए, उसे उद्विग्न नही करना चाहिए।

यह धर्म ध्रुव, नित्य और शाश्वत है।

२१—पाणे य नाइवाइज्जा, से समीए त्ति वुच्चई ताई।
तओ से पावयं कम्मं, निज्जाइ उदगं व थलाओ॥

उत्त० ८ : ६

जो जीवोकी हिंसा नही करता और उनका त्रायी होता है वह 'समित'—सब तरहसे सावधान—कहलाता है। उच्च स्थानसे जैसे

पानी निकल जाता है, वैसे ही अहिंसासे निरन्तर भावित प्राणीके कर्म समूह दूर हो जाते हैं।

२२—जगनिस्सिएहिं भूएहिं, तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दंडं, मणसा वयसा कायसा चेव॥

उत्त० ८ : १०

संसाराश्रित जो भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी तरहसे दण्डका प्रयोग न करे।

२३—अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि॥

उत्त० १८ : ११

हे पार्थिव! तुझे अभय है। जैसे तुम अभयकी कामना करते हो, वैसे ही तुम भी अभय दाता बनो। इस अनित्य जीव-लोकमें तुम हिंसामें क्यो आसक्त हो?

२४—सव्वं जगं तू समयाणुपेही, पियमप्पियं कस्स वि नो करेज्जा।
उट्ठाए य पाणे वुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए॥

सू० १, १०:७

सू० १, १२:१८

मुमुक्षु सर्व जगत् अर्थात् सर्व जीवोंको समभावसे देखे। वह किसीको प्रिय और किसीको अप्रिय न करे। छोटे और बड़े सब प्राणियोंको—सारे जगत्के चराचर प्राणियोंको—आत्माके समान देखे।

२५—अणेलिसस्स खेयन्ने, न विरुज्झेज्ज केणइ।
सया सच्चेण संपन्ने, मेत्तिं भूएहि कप्पए॥

सू० १, १५ : १३

सू० १, १५ : ३

संयममें निपुण पुरुष किसीके साथ वैर विरोध न करे। जिसकी अन्तरात्मा सदा सत्यभावोसे ओतप्रोत—उनमें स्थिर रहती है, वह सब जीवोके प्रति मैत्री भाव रखता है।

२६—उड्ढं अहे य तिरियं दिसासु, तसा य जे थावर जे य पाणा।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा, मणप्पओसं अविकम्पमाणे॥

सू० १, १४ : १४

ऊर्ध्व, अध. और तिर्यक्—तीनो दिशाओंमें जो त्रस और स्थावर प्राणी है उनके प्रति सदा यत्नवान रहता हुआ जीवन वितावे। संयम मे अविकम्प—अडोल रहता हुआ मनसे भी द्वेष न करे।

२७—पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ, तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा।
जे अण्डया जे य जराउ पाणा, संसेयया जे रसयाभिहाणा॥
एयाइं कायाइं पवेइयाइं, एएसु जाणे पडिलेह सायं।
एएण काएण य आयदण्डे, एएसु या विप्परियासुवेन्ति॥

सू० १, ७ : १, २

(१) पृथ्वी, (२) जल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तृण, वृक्ष, बीज आदि वनस्पति तथा (६) अण्डज, जरायुज, स्वेदज, रसज—ये सब त्रस—इनको ज्ञानियोने जीव-समूह कहा है। इन सबमें सुखकी इच्छा है, यह जानो और समझो।

जो इन जीव-कायोका नाशकर पाप-सचय करते है वे बार-बार इन्ही प्राणियोमें जन्म धारण करते है।

२८—हम्ममाणो न कुप्पेज्ज, वुच्चमाणो न संजले।
सुमणे अहियासेज्जा, न य कोलाहलं करे॥

सू० १, ६ : ३१

कोई पीटे तो क्रोध न करे। कोई दुर्वचन कहे तो प्रज्वलित न

हो—तप्त न हो। इन सव परिषहोको सुमनसे—समभावसे सहन करे और कोलाहल—हल्ला न मचाये।

२९—अजयं चरमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : १

अयत्नपूर्वक चलनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप कर्मका बधन करता है और उसका फल कटुक होता है।

३०—अजयं चिट्ठमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : २

अयत्न पूर्वक खड़ा होनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३१—अजयं आसमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ३

अयत्नसे बैठनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३२—अजयं सयमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
बन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ४

अयत्नसे सोनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३३—अजयं भुञ्जमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
वन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ५

अयत्नसे भोजन करनेवाला पुरुष त्रस-स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३४—अजयं भासमाणो उ, पाणभूयाइं हिंसइ।
वन्धइ पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं॥
द० ४ : ६

अयत्नसे बोलनेवाला पुरुष त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसा करता है, जिससे पाप-कर्मका बंधन करता है, जिसका फल कटुक होता है।

३५—जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयं आसे, जयं सए।
जयं भुञ्जन्तो भासन्तो, पावकम्मं न वन्धइ॥ द० ४ : ८

यत्न पूर्वक चलने, यत्न पूर्वक खड़ा होने, यत्न पूर्वक बैठने, यत्न पूर्वक सोने, यत्न पूर्वक भोजन करने और यत्नपूर्वक बोलनेवाला संयमी पुरुष पाप-कर्मोंका बंधन नहीं करता।

३६—सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासव्वस्स दन्तस्स, पावकम्मं न वन्धइ॥ द० ४ : ९

जो जगत्‌के सब जीवोंको आत्मवत् समझता है, जो जगत्‌के सब जीवोंको समभावसे देखता है, जो आस्रवका निरोध कर चुका है और जो दांत है, उसके पाप-कर्मका बंधन नहीं होता।

३७—जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवली भासियं॥ अनुयोगद्वार

जो त्रस और स्थावर—सर्व जीवोंके प्रति समभाव रखता है, उसीके सच्ची सामायिक होती है—ऐसा केवली भगवानने कहा है।

२४ : बोलीका विवेक

१—मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए॥

द० ६ : १३

संसारमें सब संत पुरुषोंने झूठ बोलनेकी निन्दा की है। झूठ सभी प्राणियोंको अविश्वसनीय है—झूठसे लोगोंमें विश्वास हट जाता है, इसलिए इसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

२—अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए॥

द० ६ : १२

अपने लिए या दूसरोंके लिए, क्रोधसे या भयसे हिंसाकारी झूठ कभी न बोलना चाहिए और न बुलवाना चाहिए।

३—अपुच्छिओ न भासिज्जा, भासमाणस्स अन्तरा।
पिट्ठिमंसं न खाइज्जा, माया मोसं विवज्जए॥

द० ८ : ४७

विवेकी पुरुष पूछे बिना न बोले और न बीचमें बोले। वह चुगली न खाय और कपटपूर्ण झूठसे दूर रहे।

४—सच्चमेगं पढमं भासज्जायं, बीयं मोसं, तइयं सच्चामोसं।
जं णेव सच्चं णेव मोसं, असच्चामोसं णाम तं चउत्थं भासज्जातं॥

भाषा चार प्रकारकी होती है—(१) सत्य, (२) असत्य, (३) सत्यासत्य और (४) न-सत्य-न-असत्य—सत्य-असत्य रहित व्यवहार भाषा।

५—चउण्हं खलु भासाणं, परिसंखाय पण्णवं।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो॥

द० ७ : १

प्रज्ञानवान् उपरोक्त चारो भाषाओको अच्छी तरह जानकर सत्य और न-सत्य-न-असत्य इन दो भाषाओसे व्यवहार करना सीखे और एकात मिथ्या या सत्यासत्य इन दो भाषाओको कभी न बोले।

६—जाय सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा।
जाय बुद्धेहिऽणाइण्णा, न तं भासेज्ज पन्नवं॥

द० ७ : २

जो भाषा सत्य होने पर भी बोलने लायक न हो, जो कुछ सच कुछ झूठ हो, जो भाषा मिथ्या हो तथा जो भाषा व्यवहार भाषा (न-सत्य न-असत्य) होने पर भी विचारशील पुरुषो द्वारा व्यवहारमें नही लाई जाती हो—विवेकी पुरुष ऐसी भाषा न बोले।

७—असच्चमोसं सच्चं य, अणवज्जमकक्कसं।
समुप्पेहमसंदिद्धं, गिरं भासेज्ज पन्नवं॥

द० ७ : ३

विवेकी निरवद्य—पाप-रहित, अकर्कश—प्रिय, हितकारी और असदिग्ध—स्पष्ट अर्थवाली व्यवहार और सत्य भाषा बोले।

८—तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो॥

द० ७ : ११

जीवोंके दिलोंको दुःखानेवाली कर्कश भाषा—सत्य होने पर भी विवेकी न बोले। ऐसी भाषासे पाप-बंधन होता है।

९—तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए॥
द० ७ : १२

विवेकी काणेको 'काणा', नपुंसकको 'नपुंसक' रोगीको 'रोगी' या चोरको 'चोर' न कहे।

१०—अप्पत्तिअं जेण सिया, आसु कुप्पिज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासिज्जा, भासं अहिअगामिणिं॥
द० ८ : ४८

जिससे अविश्वास उत्पन्न हो, दूसरा शीघ्र कुपित हो, ऐसी अहितकर भाषा विवेकी पुरुष कभी न बोले।

११—एएणन्नेण अट्ठेणं परो जेणुवहम्मइ।
आयारभावदोसन्नू न तं भासेज्ज पन्नवं॥
द० ७ : १३

आचार और भावके दोषोंको समझनेवाला विवेकी पुरुष उपर्युक्त या अन्य कोई भाषा जिससे कि दूसरेके हृदयको आघात पहुंचे न बोले।

१२—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥
उत्त० १ : २५

विवेकी पुरुष अपने लिए, दूसरोंके लिए, अपने और दूसरे दोनोंके लिए पूछने पर सावद्य—पापकारी भाषा न बोले, न अर्थशून्य और मार्मिक बात कहे।

१३—दिट्ठं मिअं असंदिद्धं, पडिपुन्नं विअं जिअं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं॥

द० ८ : ४६

आत्मार्थी पुरुष दृष्ट, परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट और अनुभूत वचन बोले। उसके वचन वाचालता रहित और किसीको भी उद्विग्न करनेवाले न हों।

२५ : अस्तेय

१—चित्तमन्तमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहं से अजाइया॥
तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया॥
द० ६ : १४, १५

सचेतन पदार्थ हो या अचेतन, अल्प मूल्यवाला पदार्थ हो या बहुमूल्यवाला पदार्थ—यहा तक कि दात कुरेदनेका तिनका भी हो—सयमी, स्वामीकी आज्ञा विना, उसे स्वय ग्रहण नही करता, न दूसरेसे ग्रहण करवाता है और न ग्रहण करनेवालेको भला समझता है—उसका अनुमोदन करता है।

२—तवतेणे वयतेणे, रूवतेणे य जे नरे।
आयारभाव तेणे य, कुव्वइ देवकिव्विसं॥
द० ५ । २ : ४६

जो नर तपका चोर, वचनका चोर, रूपका चोर, तथा आचार और भावका चोर होता है, वह नीच जातिके किल्वीषी देवोमे उत्पन्न होता है।

३—रूवे अतित्ते य परिग्गहे य, सत्तोवसत्तो न उवइ तुट्ठिं।
अतुट्ठिदोसेण दुही परस्स, लोभाविले आययई अदत्तं॥
उत्त० ३२ : २६, ४२, ५५, ६८, ८१, ९४

रूप, शब्द, गंध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयोंमे गाढ़ आसक्तिवाला मनुष्य तुष्टि—सतोष नही पाता और अतृप्तिके दोषसे दु खी और लोभसे कलुषित वह आत्मा दूसरेकी न दी हुई इष्ट वस्तु को ग्रहण करता—उसकी चोरी करता है।

४—इच्छामुच्छा तण्हागेहि असंजमो कंखा।
हत्थलहुत्तणं परहडं तेणिक्कं कूडया अदत्तं ॥
प्रश्न० १, ३ : १०

परधनकी इच्छा, मूर्छा, तृष्णा, गृद्धि, असयम, काक्षा, हस्तलघुता, परधन हरण, अस्तेनक, कूटतोलकूटमाप और विना दी हुए वस्तु लेना ये सब चोरीके ही अन्य नाम है।

५—अदत्तादाणं अकित्तिकरणं अणज्जं साहुगरहणिज्जं।
पियजणमित्तजणभेदविप्पीतिकारकं रागदोसवहुलं ॥
प्रश्न० १, ३ : ६

अदत्तादान अपयशका करनेवाला अनार्य कर्म है। यह सभी सन्तो द्वारा निंद्य है। यह प्रियजन, मित्रजनमें भेद औरअप्रतीति उत्पन्न करता है और राग-द्वेषसे भरा हुआ है।

६ —हरदहमरणभयकलुसतासण परसंतिगऽभेज्जलोभमूलं।
उप्पूरसमरसंगामडमरकलिकलहवेहकरणं ॥
प्रश्न० १, ३ : ६

चौर्यकर्म दूसरेके हृदयको दाह पहुचाता है। यह मरण, भय, और त्रास उत्पन्न कराता है। परधनमें गृद्धिका हेतु औरलोभका मूल है। वडे-वडे समर-सग्राम, डमर—स्वपरचक्रभय, क्लेश, कलह, वेध—पश्चाताप आदिका हेतु है।

२६ : ब्रह्मचर्य

१ : ब्रह्मचर्यकी महिमा

१—विणयसीलतवनियमगुणसमूहं तं बंभं भगवंतं।
गहगणनक्खत्ततारगाणं वा जहा उडुपत्ती॥
प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य—विनय, शील, तप, नियम आदि गुण-समूहमें उसी तरह सबसे प्रधान है जिस तरह ग्रह, नक्षत्र, और ताराओंमें उडुपति—चन्द्रमा।

२—दाणाणं चेव अभयदयाणं, झाणेसु य परमसुक्कज्झाणं।
णाणेसु य परमकेवलं तु सिद्धं, लेसासु य परमसुक्कलेसा॥
प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य सर्व गुण-समूहमें उसी तरह प्रधान है जिस तरह दानोंमें अभयदान, ध्यानमें परम शुक्लध्यान, ज्ञानमें सिद्धि देनेवाला परम केवलज्ञान और लेश्याओंमें परम शुक्ललेश्या।

३—एवमणेगा गुणा अहीणा भवंति एक्कंमि बंभचेरे।
इहलोइयपारलोइयजसे य कित्ती य पच्चओ य॥
जंमि य आराहियंमि आराहियं वयमिणं सव्वं।
सीलं तवो य विणओ य संजमो खंती गुत्ती मुत्ती तहेव॥
प्रश्न० २।४

इस तरह एक ब्रह्मचर्यके पालन करनेसे अनेक गुण अधीन हो जाते हैं। यह व्रत इहलोक और परलोकमें यश कीर्ति और प्रतीतिका कारण है। जिसने एक ब्रह्मचर्य व्रतकी आराधना करली—समझना चाहिए उसने सर्व व्रत, शील, तप, विनय, संयम, क्षांति, समिति-गुप्ति—यहां तक कि मुक्तिकी भी आराधना कर ली।

४—तम्हा निहुएण बंभचेरं चरियव्वं सव्वओ।
विसुद्धं जावज्जीवाए जाव सेयट्ठिसंजउत्ति ॥

प्रश्न० २।४

जब तक जीवन कायम रहे और जब तक शरीरमें रक्त और मांस हो तब तक सम्पूर्ण विशुद्धतापूर्वक निश्चल रूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिए।

५—पसत्थं सोमं सुभं सिवं सया विसुद्धं।
सव्व भव्वजणाणुचिन्नं निस्संकियं निब्भयं ॥

प्रश्न० २।४

ब्रह्मचर्य व्रत सदा प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। वह परम विशुद्धि—आत्माकी महान् निर्मलता है। सब भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का आचीर्ण—उनका जीवन है। यह प्राणीको विश्वासपात्र—विश्वसनीय बनाता है—उससे किसीको भय नहीं रहता।

६—नित्तुसं निरायासं निरुवलेवं निव्वुतिघरं।
नियमनिप्पकंपं तवसंजममूलदलियणेम्मं ॥

प्रश्न० २।४

यह तुस रहित धानकी तरह सार वस्तु है। यह खेद रहित है। यह जीवको कर्मसे लिप्त नहीं होने देता। चित्तकी स्थिरताका हेतु है। धर्मी पुरुषोंका निष्कंप—शाश्वत नियम है। तप संयमका मूल—

आदि भूत द्रव्य है।

७—झाणवरकवाडसुकयरक्खणंमज्झप्पदिन्नफलिहं।
संन्नवद्धोच्छइयदुग्गइपहं सुगतिपहदेसगं च॥
प्रश्न० २। ४

आत्माकी अच्छी तरह रक्षा करनेमें उत्तम ध्यानरूपी कपाट और आध्यात्मकी रक्षाके लिए अविकार रूप भोगल है, दुर्गतिके पथको रोकनेवाला बख्तर है, सुगतिके पथको प्रकाशित करनेवाला लोगोत्तम व्रत है।

८—लोगुत्तमं च वयवयविणं पउमसरतलागपालिभूयं।
महासगडअरगतुंवभूयं महाविडिमरुक्खक्खंधभूयं॥
प्रश्न० २। ४

यह धर्म रूपी पद्म सरोवरकी पाल है, गुण रूपी महारथकी धुरा है। व्रत नियम रूपी शाखाओंसे फैले हुए धर्म रूपी बड़ वृक्षका स्कंध है।

९—महानगरपागारकवाडफलिहभूयं।
रज्जुपिणिद्धो व इंदकेतू विसुद्धणेगगुणसंपिणद्धं॥
प्रश्न० २। ४

शील रूपी महानगरकी परिधि (परकोटे) के द्वारकी अर्गला—भोगल है। रस्सियोंसे बंधी इन्द्रध्वजाके समान अनेक गुणोंसे स्थिर धर्मपताका है।

१०—जंमि य भग्गंमि होइ सहसा सव्वं सभग्गमद्दियमथियं।
चुन्निय कुसल्लिय पव्वयपडिय खंडिय परिसडिय विणासियं॥
प्रश्न० २। ४

'एक ब्रह्मचर्य व्रतके भंग होनेसे सहसा सब गुण भग हो जाते है,

मर्दित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, कुचलित हो जाते हैं, पर्वतसे गिरी हुई वस्तुकी तरह टुकडे २ हो जाते हैं और विनष्ट हो जाते हैं।

२ : सबसे बड़ी आसक्ति

११—मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स, संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए, जहित्थिओ बालमणोहराओ॥
उत्त० ३२ : १७

जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, संसारभीरु है, धर्ममें स्थित है—उनके लिए भी मूर्खके मनको हरनेवाली स्त्रियोंकी आसक्तिको पार पानेसे अधिक दुष्कर कार्य इस लोकमें दूसरा नहीं है।

१२—ए ए संगे समइक्कमित्ता, सुदुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता, नई भवे अवि गंगासमाणा॥
उत्त० ३२ : १८

इस आसक्तिको जीत लेने पर शेष आसक्तियोंका पार पाना सरल है। महासागर तैर लेनेपर गङ्गाके समान नदियोंका तैरना क्या दुस्तर है?

३ : ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपाय

(१) एकान्तवास

१३—जतुकुंभे जहा उवज्जोई
संवासे विदू विसीएज्जा
सू० १, ४। १ : २६

जैसे अग्निके निकट लाखका घड़ा गल जाता है, उसी तरह विद्वान् पुरुष भी स्त्रीके सवाससे विषादको प्राप्त होता है।

१४—जहा विरालावसहस्स मूले, न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थी निलयस्स मज्झे, न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥
उत्त० ३२ : १३

जैसे बिल्लियोके वासके मूलमें—समीपमें—चूहेका रहना प्रशस्त सलामतभरा—नही, उसी तरहसे जिस मकानमें स्त्रियोका वास हो उस स्थानमें ब्रह्मचारीके रहनेमे क्षेम कुशल नहीं।

१५—अहसेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्सं।
एवं विवेगमायाय, संवासो न वि कप्पए दविए ॥
सू० १, ४। १ : १०

विष मिश्रित खीरके भोजन करनेवाले मनुष्यकी तरह स्त्रियोके सहवासमें रहनेवाले ब्रह्मचारीको पीछे विशेष अनुताप करना पडता है। इसलिए पहलेसे ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियोके साथ सहवास न करे।

१६—जं विवित्तमणाइन्नं, रहियं इत्थी जणेण य।
वंभचेरस्सरक्खट्ठा, आलयं तु निसेवए ॥
उत्त० १६ : श्लो० १

मुमुक्षु ब्रह्मचर्यकी रक्षाके लिए—विविक्त—खाली, अनाकीर्ण और स्त्रियोसे रहित स्थानमें वास करे।

१७—जत्थ इत्थिकाओ अभिक्खणं, मोहदोसरतिरागवड्ढणीओ।
कहिंति य कहाओ वहुविहाओ, तेऽवि हु वज्जणिज्जा ॥
प्रश्न० २, ४ भा० १

जहा मोह और रति—कामरागको वढानेवाली स्त्रियोका बार-बार आवागमन हो, और जहा पर नाना प्रकारकी मोहजनक स्त्री कथाएँ कही जाती हो—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारीके लिए वर्जनीय है।

१८—जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा वा।
अट्टं रुद्दं च हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्जऽवज्जभीरू॥
प्रश्न० २, ४ भावना १

जिस स्थानमे रहनेसे मन अस्थिरताको प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण रूपसे या अश रूपसे भग होनेकी आशका हो और अपध्यान —आर्त्त और रौद्र ध्यान—उत्पन्न होता हो, उस स्थानका पापभीरु ब्रह्मचारी वर्जन करे।

(२) स्त्री कथा विरति

१९—नारी जणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता।
विव्वोयविलाससंपउत्ता, हाससिंगारलोइयकहव्व॥

ब्रह्मचारी स्त्रियोंके वीचमें कामपूर्ण कथा न कहे। वह चित्र-विचित्र, कामुक स्त्रियोकी चेष्टा-प्रचेष्टा युक्त और विलास, हास्य और शृंगारोत्पादक लौकिक कथाएँ न कहे।

२०—कहाओ सिंगारकलुणाओ तवसंजमबंभचेरघातोवघातियो।
अणुचरमाणेणं बंभचेरं न कहेयव्वा न सुणेयव्वा न चिंतेयव्वा॥

शृंगार रसके कारण मोह उत्पन्न करनेवाली तथा तप, संयम और ब्रह्मचर्यका घात-उपघात करनेवाली—कामुक कथाए ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे।

(३) नारी-प्रसंग विरति

२१—से णो काहिए, णो पासणिए।
णो संपसारए, णो ममाए॥
णो कयकिरिए, वइगुत्ते।
अज्झप्पसंवुडे परिवज्जए सदा पावं॥
आ० १।५:४

ब्रह्मचारी स्त्री-सम्बन्धी शृंगार कथा न कहे। स्त्रियोंके अंगोपांग आदिका निरीक्षण न करे। स्त्रियोंके साथ परिचय न करे, उनसे ममता न करे, उनकी आगत-स्वागत न करे और अधिक क्या स्त्रियोंसे बातचीत करनेमे भी अत्यन्त मर्यादित रहे तथा मनको वशमें कर हमेशा पापाचारसे दूर रहे।

२२—कुव्वन्ति सन्थवं ताहिं, पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा उ वज्जए इत्थी, विसलित्तं व कण्टगं नच्चा॥
सू० १, ४।१ : १६, ११

जो स्त्रियोंके साथ परिचय करता है वह समाधि योगसे भ्रष्ट हो जाता है। अत. स्त्रियोंको विष लिप्त कंटकके समान जानकर ब्रह्मचारी उनके संसर्गका वर्जन करे।

२३—जहा कुक्कुडपोयस्स, निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बम्भयारिस्स, इत्थीविग्गहओ भयं॥
द० ८ : ५४

जैसे कुकडी—मूर्गीके बच्चेको बिल्लीसे हमेशा भय रहता है, उसी तरह ब्रह्मचारीको स्त्री-शरीरसे भय रहता है।

२४—हत्थपायपडिच्छिन्नं, कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं, बंभयारी विवज्जए॥
द० ८ : ५६

अधिक क्या जिसके हाथ पैर प्रतिछिन्न है, जो नकट्टी और बुची ऐसे विकृत अंगवाली सौ वर्षकी डोकरी है, उसके संसर्गसे भी ब्रह्मचारी बचे।

२५—नो तासु चक्खु संधेज्जा, नो वि य साहसं समभिजाणे।
नो सहियं पि विहरेज्जा, एवमप्पा सुरक्खिओ होइ॥
सू० १, ४।१ : ५

ब्रह्मचारी स्त्रियो पर दृष्टि न सांधे, उनके साथ कुकर्मका साहस न करे। ब्रह्मचारी स्त्रियोके साथ विहार अथवा एकांत वास न करे। इस प्रकार स्त्री प्रसगसे वचनेसे आत्मा नाशोसे सुरक्षित होता है।

(४) दर्शन विरति

२६—अंगपच्चंगसंठाणं, चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए, कामरागविवड्ढणं॥

द० ८ : ५८

स्त्रियोके अङ्ग-प्रत्यग, उनकी मनोहर बोली और चक्षु विनयास—ब्रह्मचारी इन सब पर ध्यान न लगावे। ये सब बातें कामरागकी वृद्धि करनेवाली हैं।

२७—चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं, दिट्ठिं पडिसमाहरे॥

द० ८ : ५५

आत्मगवेषी पुरुष सुअलकृत नारीकी ओर—यहा तक की दीवार पर अङ्कित चित्र तक की ओर गृद्ध-दृष्टिसे न ताके। यदि दृष्टि पड़ भी जाय तो सूर्यकी किरणोके सामनेसे जैसे उसे हटाते है उसी तरह हटा लें।

२८—अदंसणं चेव अपत्थणं च, अचितणं चेव अकित्तणं च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बंभचेरे रयाणं॥

उत्त० ३२ : १५

स्त्रियोंके रूप, लावण्य, विलास, हास्य, मजुल भाषण, अङ्ग-विन-यास और कटाक्ष आदिको न देखना चाहिए। उनकी इच्छा नही करनी चाहिए, उनका मनमें चिन्तन नही करना चाहिए, उनका कीर्तन नही करना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रतमे रत पुरुषके लिए ये नियम सदा

हितकारी और आर्य ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करनेमे सहायक है।

(५) शब्द विरति

२६—कूइअं रुइयं गीयं, हसियं थणियकंदियं।
बंभचेररओ थीणं, सोयगिज्झं विवज्जए॥

उत्त० १६ : श्लो ५

ब्रह्मचारी स्त्रियोके मधुर ध्वनि, रुदन, गीत, हास्य, विलाप, क्रदन अथवा विषय-प्रेमके शब्दोको सुननेसे दूर रहे।

(६) स्मरण विरति

३०—हासं किड्डं रइं दप्पं, सहस्साऽवत्तासियाणी य।
बंभचेररओ थीण, नाणुचिन्ते कयाइ वि॥

उत्त० १६ : श्लो० ६

ब्रह्मचारी पूर्व कालमें स्त्रीके साथ भोगे हुए हास्य, क्रीडा, मैथुन, दर्प और सहसा वित्रासन आदिके प्रसगोका कभी भी स्मरण न करे।

३१—मा पेह पुरा पणामए, अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
ज दूमण तेहि नो नया, ते जाणन्ति समाहिमाहियं॥

सू० १, २ : २७

दीन बनानेवाले पूर्व भोग हुए विषय-भोगोका स्मरण मत कर, न उनकी कामना कर। सारी उपाधियो—दुष्प्रवृत्तियोको दूर कर। मनको दुष्ट बनानेवाले विषयोके सामने जो नत मस्तक नही होता वह जिन-कथित समाधिको जानता है।

(७) रस विरति

३२—रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

उत्त० ३२ : १०

घी, दूध आदि रसोका बहुत सेवन नही करना चाहिए। रस पदार्थ मनुष्योके लिए दीप्तिकर—उद्दीपक होते है। जिस तरह स्वादु फलवाले वृक्षकी ओर पक्षी दलके दल उड़ आते है उसी तरहसे दीप्त वीर्यवान पुरुषकी ओर काम वासनाऐ दौड़ी चली आती हूं।

(८) अति भोजन विरति

३३—जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे, समारुओ नोवसमं उवेइ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो, न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥
उत्त० ३२ : ११

जिस तरह प्रचुर काष्ठसे भरे हुए वनमे अग्नि लग जाय और साथ ही पवन चलती हो तो दावाग्नि नही बुझती उसी तरहसे अति मात्रामें—यथेच्छ आहार करनेवाले मनुष्यकी इन्द्रियाग्नि शान्त नही होती। ब्रह्मचारीके लिए अति आहार हितकर नही है।

३४—न बहुसो, न नितिकं, न सायसूपाहिकं न खद्धं।
तहा भोत्तव्वं जह से जायमाता य भवति॥
प्रश्न० २ : ४ भ० ५

ब्रह्मचारी एक दिनमे बहु वार आहार न करे, प्रतिदिन आहार न करे, अधिक शाक दाल न खाय, अधिक मात्रामें भोजन न करे। जितना सयम यात्राके लिए जरूरी हो उसी मात्रामें ब्रह्मचारी आहार करे।

३५—न य भवतिविब्भमो न भंसणा य धम्मस्स।
अंतरप्पा आरतमणविरतगामधम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते॥
प्रश्न० २ : ४ भा० ५

विभ्रम न हो, धर्मसे भ्रश न हो—आहार उतनी ही मात्रामे होना चाहिए। इस समितिके योगसे जो भावित होता है, उसकी अतरात्मा तल्लीन, इन्द्रियोके विषयसे निवृत, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्यके

रक्षाके उपायोसे युक्त होती है।

(९) शृङ्गार विरति

३६—विभूसावत्तिए खलु विभूसियसीररे।
इत्थिजणस्स अहिलसणिज्जे हवइ॥

उत्त० १६ : १।२

विभूषाके स्वभाववाला ब्रह्मचारी निश्चय ही विभूषित शरीरके कारण स्त्रियोका काम्य—उनकी अभिलाषाका पदार्थ हो जाता है।

३७—तस्सबंभयारिस्स वंभचेरे संका वा कंखा वा।
वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिजा॥

उत्त० १६ : १२

जो ब्रह्मचारी स्त्रियोकी अभिलाषाका इस तरह शिकार बनता है, उसके मनमें ब्रह्मचर्य उत्तम है या नही—ऐसी शका उत्पन्न होती है। फिर उसके मनमें विषयभोगकी आकाक्षा उत्पन्न होती है और ब्रह्मचर्य के उत्तम फलमें विचिकित्सा—विकल्प—सदेह उत्पन्न होता है और इस तरह वह ब्रह्मचर्य घर्मसे च्युत हो जाता है।

(१०) कामभोग विरति

३८—सद्दे रूवे य गन्धे य, रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥

उत्त० १६ श्लो० १०

ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पाच प्रकारके इन्द्रियोके विषयोको सदाके लिए छोड़ दे।

३९—विसएसु मणुन्नेसु, पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विन्नाय, परिणामं पोग्गलाणय॥

द० ८ : ५९

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलोंके परिणामोंको अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयोंमें रागभाव न करे।

४०—पोग्गलाणं परिणामं, तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे, सीईभूएण अप्पणा॥

द० ८ : ६०

शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—इन पुद्गलोंके परिणामोंको यथातथ्य जानकर ब्रह्मचारी अपनी आत्माको शीतल कर, तृष्णा रहित हो जीवन यापन करे।

४१—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइत्ति वुच्चइ॥
जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठीकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चइ॥

द० २ : २, ३

जो वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियों और शय्याका केवल परवशतासे—उनके अभावमें सेवन नहीं करता, वह त्यागी नहीं है। पर जो कांत और प्रिय भोग सुलभ होने पर भी उन्हें पीठ दिखाता है—जो स्वाधीन भोगोंका त्याग करता है—वही सच्चा त्यागी—ब्रह्मचारी है।

४२—विवित्तसेज्जासणजंतियाणं, ओमासणाणं दमिइंदियाणं।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं, पराइओ वाहिरिवोसहेहिं॥

उत्त० ३२ : १२

एकान्त शय्यासनके सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुषके चित्तको विषय रूपी शत्रु पराभव नहीं कर सकता। औषधसे जैसे व्याधि पराजित हो जाती है वैसे ही इन नियमोंके पालनसे विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है।

(११) उपसंहार

४३—आलओ थीजणाइण्णो, थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं, तासिं इन्दियदरिसणं ॥
कूइयं रुइयं गीयं, हासभुत्तासियाणि य ।
पणीयं भत्तपाणं च, अइमायं पाणभोयणं ॥
गतभूसणमिट्ठं च, कामभोगा य दुज्जया ।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥

उत्त० १६ : श्लो० ११-१३

(१) स्त्रियोसे आकीर्ण निवास, (२) मनोहर स्त्री कथा, (३) स्त्री सहवास और परिचय, (४) स्त्रियोकी इन्द्रियोका निरीक्षण, (५) उनके कूजन, रूदन, गीत और हास्यका सुनना, (६) उनके साथ एकासन, (७) स्निग्ध रसदार खान पान, (८) अति खान-पान (९) गात्र विभूषा—शरीर शृगार तथा (१०) काम भोग—शब्दादि विषयोमें आशक्ति—ये सब बाते प्रिय होती हैं और उनका त्याग बडा कठिन होता है परन्तु आत्मगवेषी ब्रह्मचारीके लिए ये सब तालपुट विषकी तरह हैं ।

४४—दुज्जए कामभोगे य, निच्चसो परिवज्जए ।
संकाट्ठाणाणि सव्वाणि, वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥

उत्त० १६ : श्लो० १४

ब्रह्मचारी दुर्जय कामभोगोका सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्यके लिए जो शका—विघ्नके स्थान हो उन्हे एकाग्रसे मनसे वर्जन करे—टाले ।

४५—बम्भयारिस्स बम्भचेरे, संका वा कंखा वा
विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेअं वा लभेज्जा

उम्मायं वा पाउणिज्जा, दीहकालियं वा
रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा
उत्त० १६ : ४

जो उपर्युक्त समाधि-स्थानोके प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रतोमें शका उत्पन्न होती है, फिर विषयभोगोकी आकाक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्यके फलके विषय में विचिकित्सा—सदेह उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्यका नाश हो जाता है। उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते है और अन्तमें चित्तसमाधिके भङ्ग होनेसे वह केवली भाषित धर्मसे भ्रष्ट—पतित हो जाता है।

४ : परनारी

४६—अवि हत्थपायछेदाए अदु वा वद्धमंसउक्कन्ते।
अवि तेयसाभितावणाणि तच्छिय खारसिंचणाइं य॥
सू० १, ४। १ : २१

जो लोग पर स्त्रीका सेवन करते है उनके हाथ पैर काट लिए जाते है अथवा उनकी चमड़ी और मास कतर लिए जाते है तथा अग्निके द्वारा वे तपाए जाते है एवं उनका अङ्ग काटकर क्षारके द्वारा सिंचन किया जाता है।

४७—अदु कण्णनासछेयं कण्ठच्छेयणं तिइक्खन्ती।
इइ एत्थ पावसंतत्ता न वेन्ति पुणो न काहिन्ति॥
सू० १, ४। १ : २२

पापी पुरुष इस लोकमें कान, नाक और कण्ठका छेदन सह लेते हैं परन्तु यह नही निश्चय कर लेते कि हम अब पाप नही करेंगे।

४८—अणागयमपस्सन्ता पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पन्ति खीणे आउम्मि जोव्वणे॥

सू० १, ३।४ : १४

असत् कर्मसे भविष्यमें होनेवाले दुःखोंकी ओर न देख जो केवल वर्त्तमान सुखोंको खोजते हैं वे यौवन और आयु क्षीण होने पर पश्चाताप करते हैं।

५. ब्रह्मचारीकी महिमा

४६—वाउ व्व जालमच्चेइ पिया लोगंसि इत्थियो।

सू० १, १५ : ८

जैसे वायु अग्निकी ज्वालाको पार कर जाता है वैसे ही महापराक्रमी पुरुष इस लोकमें प्रिय स्त्रियोंके मोहको उल्लंघन कर जाते हैं।

५०—इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा।

सू० १; १५ : ६

जो पुरुष स्त्रियोंका सेवन नहीं करते वे मोक्ष पहुंचनेमें सबसे अग्रसर होते हैं।

५१—जे विन्नवणाहिऽजोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा अदक्खु कामाइं रोगवं॥

सू० १, २।३:२

कामको रोगरूप समझकर जो स्त्रियोंसे अभिभूत नहीं हैं, उन्हें मुक्त पुरुषोंके समान कहा है। स्त्री परित्यागके बाद ही मोक्षके दर्शन सुलभ है।

५२—नीवारे व न लीएज्जा छिन्नसोए अणाविले।
अणाइले सया दन्ते, संधिं पत्ते अणेलिसं॥

सू० १, १५ : १२

स्त्री-प्रसग सूअरको फंसानेवाले चावलके कणकी तरह है। विषय और इन्द्रियोको जीतकर जो छिन्नस्त्रोत हो गया है तथा जो राग द्वेष रहित है वह स्त्री-प्रसंगमे न फसे। जो विषयभोगोमें अनाकुल और सदा इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला पुरुष है वह अनुपम भावसन्धि (कर्मक्षय करनेकी मानसिक दशा) को प्राप्त करता है।

५३—जहा नई वेयरणी, दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥
सू० १, ३। ४ : १६

जिस तरह सर्व नदियोमे वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है, उसी तरह इस लोकमें अविवेकी पुरुषके लिए स्त्रियोका मोह जीतना कठिन है।

५४—जेहि नारीण संजोगा, पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं निराकिच्चा, तेठिया सुसमाहिए॥
सू० १। ३। ४ : १७

जिन पुरुषोने स्त्री-ससर्ग और काम-शृगारको छोड दिया है, वे समस्त विघ्नोको जीतकर उत्तम समाधिमे निवास करते है।

५५—एए ओघं तरिस्सन्ति, समुद्दं ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चन्ती सयकम्मुणा॥
सू० १,३। ४ : १८

ऐसे पुरुष इस ससार-सागरको, जिसमें जीव अपने-अपने कर्मोसे दुःख पाते है, उसी तरह तिर जाते है जिस तरह वणिक् समुद्र को।

५६—देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेन्ति ते॥
उत्त० १६ : १६

देव, दानव, गंधर्व, राक्षस और किन्नर ये सब दुष्कर करनेवाले (दुष्कर ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले) ब्रह्मचारीको नमस्कार करते हैं।

५७—एस धम्मे धुवे निच्चे, सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेणं, सिज्झिस्सन्ति तहा परे॥

उत्त० १६ : १७

यह धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और जिन भगवान्‌का कहा हुआ है। पूर्वमें इस धर्मके पालनसे अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे।

२७ : अपरिग्रह

१—कसिणं पि जो इमं लोयं, पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणाऽवि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥
उत्त० ८ : १६

यदि धनधान्यसे परिपूर्ण यह सारा लोक भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय तो भी उससे संतोष होनेका नही । लोभी आत्माकी तृष्णा इसी तरह दुष्पूर होती है ।

२—वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणंतमोहे, नेयाउयं दट्ठुमदट्ठुमेव ॥
उत्त० ४ : ५

प्रमत्त मनुष्य धन द्वारा न तो इस लोकमें अपनी रक्षा कर सकता है और न परलोकमें । हाथमे दीपक होनेपर भी जैसे उसके बुझ जाने पर सामनेका मार्ग दिखाई नही देता, उसी तरहसे धनके असीम मोहसे मूढ मनुष्य न्यायमार्गको देखता हुआ भी नही देख सकता ।

३—जे पावकम्मेहिं धणं मणूसा, समाययन्ती अमयं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे, वेराणुबद्धा नरयं उवेंति ॥
उत्त० ४ : २

जो मनुष्य धनको अमृत मान अनेक पाप कर्मो द्वारा उसे कमाते हैं, वे अन्तमें कर्मोंके दृढ पाशमें बधे हुए अनेक जीवोंसे वैर विरोध बाध और सारी धन सपत्ति यहीं छोड़ नरकवास प्राप्त करते हैं।

४—सुवण्णरुपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगाससमा अणंतिया॥
उत्त० ६। ४८॥

कदाच सोने और चांदीके कैलासके समान असख्य पर्वत हो जाय तो भी लोभी मनुष्यके लिए वे कुछ भी नही होते। इच्छा आकाशके समान अनन्त है।

५—परिव्वयन्ते अणियत्तकामे, अहो य राओ परितप्पमाणे।
अन्नप्पमत्ते धणमेसमाणे, पप्पोति मच्चुं पुरिसे जरं च॥
उत्त० १४ : १४

दूसरोकी जरा भी परवाह न कर धनकी खोज करनेवाला, रात-दिन उसके लिए परितप्त रह चक्कर लगानेवाला और कामलालसासे अतिवृत्त मनुष्य धनकी कामना करते करते ही मृत्यु और जराको प्राप्त हो जाता है।

६—वियाणिया दुक्खविवद्धणं धणं, ममतबन्धं च महब्भयावहं।
सुहावहं धम्मधुरं अणुत्तरं, धारेज्ज निव्वाण गुणावहं महं॥
उ० १६ : ६८

धनको दुःख बढानेवाला, ममत्व-बन्धनका कारण और महा-भयावह जानकर उस सुखावह, अनुपम और महान् धर्मधुराका धारण करो जो निर्वाण गुणोको वहन करनेवाली है।

७—माहणा खत्तिया वेस्सा, चण्डाला अदु वोक्कसा।
एसिया वेसिया सुद्दा, जे य आरंभनिस्सिया॥

परिग्गहनिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई।
आरंभसंभिया कामा, न ते दुक्खविमोयगा॥
सू० १; ६ : ३

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, चाण्डाल, वोक्कस, एषिक, वैशिक, शुद्र—जो भी आरम्भ—यन्त्रपीडन, निर्लाञ्छन आदि जीवोपमर्द्दकारी कार्यों में आसक्त हैं—उन परिग्रही जीवोंका—हिरण्य सुवर्ण, धन धान्य, क्षेत्रवास्तु, द्विपद-चतुष्पद तथा घरसामानमें ममत्व करनेवाले जीवोंका—दूसरे जीवोंके साथ वैर ही बढ़ता है। आरम्भमें भरे हुए—परिग्रहमें आसक्त—वे विषयी जीव दु:खोंका मोचन नहीं कर सकते।

८—पुढवी अगणी वाऊ, तणरुक्ख सबीयगा।
अण्डया पोयजराऊ, रससंसेयउब्भिया॥
एएहिं छहिं काएहिं, तं विज्जं परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं, नारम्भी न परिग्गही॥
सू० १, ६ : ८, ६

पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल तथा तृण-वृक्ष-धान्य आदि वनस्पति—ये और अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये त्रस—

इन छः ही प्रकारके जीवोंको भलीभांति जानकर विज्ञ पुरुष मन, वचन और कायासे इनके प्रति आरंभी और परिग्रही न हो—वह इनके प्रति आरम्भ और परिग्रह भावनाका त्याग करे।

६—आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे, ममाइ से साहसकारिमंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टेसु मूढे अजरामरे व्व॥
सू० १; १० : १८

आयु पल-पल क्षीण हो रहा है, यह न समझ कर मूर्ख मनुष्य

विना विचारे ममता करता रहता है। मूर्ख मनुष्य धनमें आसक्त होकर अजर अमर पुरुषकी तरह रात-दिन उसके लिए परिताप करता है। यह उसका कितना बडा दु साहस है।

१०—थावरं जंगमं चेव, धणं धन्नं उवक्खरं।
पच्चमाणस्स कम्मेहिं, नालं दुक्खाओ मोअणे॥
उत्त० ६ : ६

धन, धान्य और घर-सामान—स्थावर और जगम कोई भी सम्पत्ति कर्मोसे दु.ख पाते हुए प्राणीको दु खसे मुक्त करनेमें समर्थ नहीं है।

११—खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च, पुत्तदारं च बन्धवा।
चइत्ता णं इमं देहं, गन्तव्वमवसस्स मे॥
उत्त० १६ : १७

मनुष्यको सोचना चाहिए—क्षेत्र—भूमि, घर, सोना-चादी, पुत्र, स्त्री और बान्धव तथा इस देहको भी छोड कर मुझे एक दिन अवश्य जाना पड़ेगा।

१२—भोगामिसदोसविसन्ने, हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे, बज्झई मच्छिया व खेलम्मि॥
उत्त० ८ : ५

भोग रूपी आमिसमें गृद्ध, हित और निश्रेयसमें विपर्यय बुद्धिवाला अज्ञानी, मन्द और मूर्ख जीव उसी तरह कर्मपासमें बध जाता है जिस तरह मक्खी श्लेष्ममें।

१३—नो रक्खसीसु गिज्झेज्जा, गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता, खेलन्ति जहा व दासेहिं॥
उत्त० ८ : १८

जिनके वक्षस्थलमें मासके कुच है और अनेक जिनके चित्त हैं ऐसी राक्षसी स्त्रियोंमें मुमुक्षु मूर्छित न हो। ऐसी राक्षसी स्त्रियां पहले पुरुषको प्रलोभनमें डाल बादमें उसके साथ दासके समान क्रीड़ा करती—व्यवहार करती हैं।

१४—चित्तमन्तमचित्तं वा, परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ, एवं दुक्खा न मुच्चई॥
सू० १, १।१:२

जब तक मनुष्य (कामिनी काचन वगैरह) सचित्त या अचित्त पदार्थोंमें परिग्रह—आसक्ति रखता है या जो ऐसा करते है उनका अनुमोदन करता है तब तक वह दुखसे मुक्त नही हो सकता।

१५—जस्सिं कुले समुप्पन्ने, जेहिं वा संवसे नरे।
ममाइ लुप्पई वाले अन्ने अन्नेहि मुच्छिए॥
सू० १, १।४:

मूर्ख मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है अथवा जिनके साथ निवास करता है—उनमें ममत्व करता हुआ अपनेसे भिन्न वस्तुओं में इस मूर्छाभाव—मोहभावसे अन्तमें बहुत पीडित होता है।

१६—वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं न ताणइ।
संखाए जीवियं चेव, कम्मुणा उ तिउट्टइ॥
सू० १, १:५

धन और सहोदर—ये सब रक्षा करनेमें समर्थ नही होते। यह जानकर तथा जीवन अल्प है—यह जानकर (विरक्त होनेवाला) कर्मोंसे छूट जाता है।

: २ :

निर्ग्रन्थ पद

१ : वैराग्य और प्रव्रज्या

१—सुयाणि मे पंच महव्वयाणि,
नरएसु दुक्खं च तिरिक्खजोणिसु ।
निव्विण्णकामो मि महण्णवाओ,
अणुजाणह पव्वइस्सामि अम्मो ॥

उत्त० १६ : ११

वैरागी बोला

"हे माता ! मैंने पाच महाव्रत सुने हैं । नरक और तिर्यक् योनिके दुःखोको सुना है । मैं इस संसार-रूपी समुद्रसे निवृत्त होनेकी कामनावाला हो गया हू । हे माता ! मै प्रव्रज्या ग्रहण करूंगा । मुझे आज्ञा दें ।

२—अम्मताय ! मए भोगा, भुत्ता विसफलोवमा ।
पच्छा कडुयविवागा, अणुबन्धदुहावहा ॥

उत्त० १६ : १२

"हे माता पिता ! मैं कामभोग भोग चुका । ये कामभोग विषफलके समान हैं । बादमें इनका फल बड़ा कटु होता है । ये निरन्तर दुःखावह हैं ।

३—असासए सरीरंमि, रइं नोवलभामहं।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणवुब्बुयसन्निभे ॥

उत्त० १६ : १४

"यह शरीर फेनके बुद्बुद्की तरह क्षणभगुर है। इसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। इस अशाश्वत शरीरमे मुझे जरा भी आनन्द नही मिलता।

४—एवं लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाणं तारइस्सामि, तुब्भेहिं अणुमन्निओ ॥

उत्त० १६ : २४

"जरा और मरण रूपी अग्निसे जलते हुए इस लोकसे मै अपनी आत्माका उद्धार करूगा। हे माता-पिता! आप मुझे आज्ञा दें।"

५—तं बिन्तम्मापियरो, सामण्णं पुत्त दुच्चरं।
गुणाणं तु सहस्साइं, धारेयव्वाइं भिक्खुणा ॥

उत्त० १६ : २५

माता पिता बोले :

"हे पुत्र! भिक्षुको सहस्रों गुण धारण करने पड़ते है। श्रामण्य बड़ा दुश्चर है।

६—जावज्जीवमविस्सामो, गुणाणं तु महब्भरो।
गुरुओ लोहभारुव्व, जो पुत्ता! होइ दुव्वहो ॥

उत्त० १६ : ३६

"हे पुत्र! इस श्रामण्य वृत्तिमें जीवन पर्यन्त विश्राम नही है। भारी लोहभारकी तरह यह गुणोका बड़ा बोझा है जिसे वहन करना बड़ा दुष्कर है।

७—समया सव्वभूएसु, सत्तुमित्तेसु वा जगे।
पाणाइवायविरई, जावज्जीवाए दुक्करं॥

उ० १६ : २६॥

"शत्रु मित्र—संसारके सभी प्राणियोंके प्रति समभाव और यावज्जीवनके लिए प्राणातिपातसे विरति—यह दुष्कर है।

८—निच्चकालप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाउत्तेण दुक्करं॥

उ० १६ : २७

"सदैव अप्रमत्तभावसे मृषावाद—झूठका विवर्जन करना और सदा उपयोग—सावधानी—पूर्वक हितकारी सत्य बोलना—यह दुष्कर है।

९—दन्तसोहणमाइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं॥

उ० १६ : २८

"दंत शोधनकी शली जैसे पदार्थका भी बिना दिए ग्रहण न करना तथा निरवद्य और निर्दोष पदार्थ ही ग्रहण करना—यह दुष्कर है।

१०—विरई अबंभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वयं बंभं, धारेयव्वं सुदुक्करं॥

उ० १६ : २९

"कामभोगके रसको जो जान चुका उसके लिए अब्रह्मचर्यसे विरति और यावज्जीवनके लिए उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्यका धारण करना अत्यन्त दुष्कर है।

११—धणधन्नपेसवग्गेसु, परिग्गहविवज्जणं।
सव्वारम्भपरिच्चागो, निम्ममत्तं सुदुक्करं॥

उ० १६ : ३०

"धन, धान्य, प्रेष्य वर्ग आदि परिग्रहका यावज्जीवनके लिए विवर्जन तथा सर्व आरम्भका त्याग—ऐसा निर्ममत्व भाव दुष्कर है।

१२—चउव्विहेऽवि आहारे, राईभोयणवज्जणा।
सन्निहीसंचओ चेव, वज्जेयव्वो सुदुक्करं॥
उ० १६ : ३१

"चारो ही प्रकारके आहारका रात्रि भोजन छोडना तथा दूसरे दिनके लिए सचयकर रखनेका परिहार करना—दुष्कर है।

१३—कावोया जा इमा वित्ती, केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बंभव्वयं घोरं, धारेउं य महप्पणो॥
उ० १६ : ३४

"मुनि जीवन कापोत वृतिके समान है। केशलोचन अत्यन्त दारुण है और कठिन ब्रह्मचर्य व्रतका धारण करना भी कष्टकर है। महात्मा को ये ही गुण धारण करने पड़ते है।

१४—वालुयाकवले चेव, निरस्साए उ संजमे।
असिधारागमणं चेव, दुक्करं चरिउं तवो॥
उ० १६ : ३८

"सयम बालूके कवलकी तरह निरस है। तथा तपका आचरण असिधार पर चलनेके समान दुष्कर है।

१५—जहादुक्खं भरेउं जे, होइ वायस्स कोत्थलो।
तहा दुक्खं करेउं जे, कीवेणं समणत्तणं॥
उ० १६ . ४१

"जैसे वायुसे कोथला—थैला—भरना कठिन है उसी प्रकार क्लीब (सत्वहीन) पुरुषके लिए सयमका पालन करना कठिन है।

१६—जहा भुयाहिं तरिउं, दुक्करं रयणायरो।
तहा अणुवसन्तेणं, दुक्करं दमसागरो॥

उ० १६ : ४३

"जिस तरह भुजाओंसे रत्नाकर—समुद्रका तिरना दुष्कर है उसी तरह अनुपशांत आत्मा द्वारा दम रूपी समुद्रका तैरना दुष्कर है।

१७—अहीवेगन्तदिट्ठीए, चरित्ते पुत्त दुच्चरे।
जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं॥

उत्त० १६ : ३६

"हे पुत्र! सर्पकी तरह एकान्त दृष्टिसे चारित्रका पालन बड़ा कठिन है। जैसे लोहके यवोंका चाबना दुष्कर है, उसी प्रकार संयम का पालन करना दुष्कर है।

१८—जहा अग्गिसिहा दित्ता, पाउं होइ सुदुक्करं।
तहा दुक्करं करेउं जे, तारुण्णे समणत्तणं॥

उत्त० १६ : ४०

"जिस तरह प्रज्वलित अग्निशिखाका पीना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्थामें श्रमणत्वका पालन करना बड़ा दुष्कर है।"

१६—सुहोइओ तुमं पुत्ता, सुकुमालो सुमज्जिओ।
न हुसी पभू तुमं पुत्ता, सामण्णमणुपालिया॥

उत्त० १६ : ३५

"हे पुत्र! तू सुखमें रहा है, सुकुमार है और ऐशोराममें पला है। अत. हे पुत्र तू श्रामण्य पालनमें समर्थ नहीं है।'

२०—सो वितऽम्मापियरो, एवमेयं जहा फुडं।
इह लोए निप्पिवासस्स, नत्थि किंचिवि दुक्करं॥

उत्त० १६ : ४५

वैरागी बोला :

"हे माता पिता ! आपने प्रव्रज्याके विषयमें कहा वह सत्य है, पर इस लोकमें जो पिपासा—तृष्णा—रहित है, उसके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं।

२१—अग्गं वणिएहि आहियं धारेन्ति राईणिया इहं।
एवं परमा महव्वया, अक्खाया उ सराइभोयणा।
सू० १, २। ३ : ३

"जिस तरह वनियो द्वारा दूर देशसे लाए हुए रत्नादि बहुमूल्य और उत्तम द्रव्योको राजा महाराज आदि धारण करते हैं उसी तरह ज्ञानियो द्वारा कहे हुए पाच महाव्रत और छट्ठे रात्रिभोजनविरमण व्रतको आत्मार्थी पुरुष ही धारण करते हैं।

२२—मिगचारियं चरिस्सामि, सव्वदुक्खविमोक्खणिं।
तुब्भेहिं अम्ब ! ऽणुण्णाओ, गच्छ पुत्त ! जहा सुहं॥
उत्त० १६ : ८६

"हे माता-पिता ! आप दोनोकी अनुज्ञा पा मैं मृगचर्याका आचरण करूगा। प्रव्रज्या सर्व दुखोंसे मुक्त करनेवाली है।"

माता पिता बोले : "हे पुत्र ! जाओ। यथासुख विचारो।"

२३—एवं सो अम्मापियरं, अणुमाणित्ता ण बहुविहं।
ममत्तं छिन्दई ताहे, महानागो व्व कंचुयं॥
उत्त० १६ : ८७

इस प्रकार मातापिताको सम्मत कर वह वैरागी अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोडता है जिस प्रकार महानाग कांचलीको छोड़ता है।

२४—इड्ढी वित्तं च मित्ते य, पुत्तदारं च नायओ।
रेणुअं व पडे लग्गं, निद्धुणित्ता ण निग्गओ॥

उत्त० १६ : ८८

जैसे कपडेमें लगी हुई रेणु—रजको झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार ऋद्धि, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनोंके मोहको छिटकाकर वह वैरागी घरसे निकल पड़ा।

२५—पंचमहव्वयजुत्तो पंचसमिओ तिगुत्तिगुत्तो य।
सब्भिन्तरबाहिरिए, तवोकम्मंमि उज्जुओ।

उत्त० १६ : ८६

पाच महाव्रतोसे युक्त, पाच समितियोसे समित और तीन गुप्तियो से गुप्त वह मुनि बाह्य और आभ्यन्तर तप कर्ममें उद्यत हो गया।

२ : छ महाव्रत

१—पढमे भन्ते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं, सव्वं भंते पाणाइवायं पच्चक्खामि। से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणे अइवाइज्जा नेव अन्नेहिं पाणे अइवायाविज्जा पाणे अइवायंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। पढमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं।[1] द० ४ : १

हे भदन्त ! प्रथम महाव्रतमें सर्व प्राणातिपातसे विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मै सर्व प्राणातिपातका प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म या स्थूल, त्रस या स्थावर—जो भी प्राणी है, मै उनकी हिंसा नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न हिंसा करनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—प्राणातिपात करनेका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैंने अतीतमें जो प्राणातिपात किया, उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपनी आत्माको उस पापसे छुडाता हूँ। हे भदन्त ! सर्व प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रतमें मै अपनेको अवस्थित करता हूँ।

१—मिलाइए—आचाराग सूत्र श्रु० २, २४ १०,२९-६४

२—अहावरे दुच्चे भन्ते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! मुसावायं पच्चक्खामि से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वइज्जा नेवऽन्नेहिं मुसं वायाविज्जा मुसं वयंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। दुच्चे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमणं। द० ४ : २

हे भदन्त ! इसके बाद दूसरे महाव्रतमें मृषावाद—झूठसे विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व मृषावादका प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध से या लोभ से या भय या हँसीमें मैं स्वयं झूठ नहीं बोलूंगा, न बुलाऊँगा और न झूठ बोलनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप से—मृषावादका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैं अतीतमें झूठ बोला हूँ उससे अलग होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। हे भदन्त ! मैं सर्व मृषावादसे विरति रूप इस दूसरे महाव्रतमें अवस्थित होता हूँ।

३—अहावरे तच्चे भन्ते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! अदिन्नादाणं पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा रण्णे वा अप्पं वा वहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्जा अदिन्नं गिण्हंते वि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं

न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं। द० ४ : ३

इसके बाद तीसरे महाव्रतमें अदत्त—चोरीसे विरमण करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्व अदत्त ग्रहणका प्रत्याख्यान करता हूँ। ग्राममें या नगरमें या अरण्यमें—कहीं भी अल्प या बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—किसी भी अदत्त वस्तुको मैं ग्रहण नहीं करूँगा, न कराऊँगा और न अदत्त ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे—अदत्त ग्रहणका यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! अतीतमें मैंने चोरी की है, उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मैं सर्व अदत्तसे विरति रूप इस तीसरे महाव्रतमें अवस्थित होता हूँ।

४—अहावरे चउत्थे भन्ते! महव्वए मेहुणाओ वेरमणं सव्वं भन्ते! मेहुणं पच्चक्खामि से दिव्वं वा माणुसं वा तिरिक्ख जोणियं वा नेव सयं मेहुणं सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुण सेवाविज्जा मेहुणं सेवंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण मणेण वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भन्ते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं।

द० ४ : ४

हे भदन्त ! इसके बाद चौथे महाव्रतमें मैथुनसे विरमण करना होता है। हे भदन्त ! मैं सर्व मैथुनका प्रत्याख्यान करता हूँ। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च सम्बन्धी—जो भी मैथुन है मैं उसका स्वय सेवन नही करूँगा, दूसरेसे नही कराऊँगा और न मैथुन सेवने करनेवालाका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूपसे —मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे मैथुन सेवनका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त ! मैंने अतीतमें मैथुन सेवन किया उससे अलग होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मैं सर्व मैथुनसे विरति रूप इस चौथे महाव्रतमे अपनेको उपस्थित करता हूँ।

५—अहावरे पञ्चमे भन्ते ! महव्वए परिग्गहाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते ! परिग्गहं पच्चक्खामि से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा नेव सयं परिग्गहं परिगिण्हिज्जा नेवऽन्नेहिं परिग्गहं परिगिण्हाविज्जा परिग्गहं परिगिण्हंतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएणं न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते ! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि। पञ्चमे भन्ते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं। द० ४ : ५

हे भदन्त ! इसके बाद पाचवें महाव्रतमे परिग्रहसे विरमण करना पडता है। हे भदन्त ! मै सर्व प्रकारके परिग्रहका प्रत्याख्यान करता हूँ। अल्प अथवा बहुत, सूक्ष्म अथवा स्थूल, सचित्त अथवा अचित्त—जो भी परिग्रह है मै उसका ग्रहण नही करूँगा, दूसरेसे नही कराऊँगा

और न परिग्रह ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध त्रिविध रूपसे—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूपसे परिग्रह ग्रहणका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! मैंने अतीतमें परिग्रह सेवन किया उससे अलग होता हूँ। उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका व्युत्सर्ग करता हूँ। मैं सर्व परिग्रहसे विरति रूप इस पाचवें महाव्रतमे अपने को उपस्थित करता हूँ।

६—अहावरे छट्ठे भन्ते! वए राइभोयणाओ वेरमणं, सव्वं भन्ते! राइभोयणं पच्चक्खामि से असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा नेव सयं राइं भुंजिज्जा नेवन्नेहिं राइं भुंजाविज्जा राइं भुंजन्तेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतंपि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भन्ते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भन्ते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राइ-भोयणाओ वेरमणं।

इच्चेयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहिय-ट्ठयाए उवसंपज्जित्ता णं विहरामि। द० ४ : ६

हे भदन्त! इसके बाद छट्ठे व्रतमे रात्रि भोजनसे विरमण करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्वरात्रि-भोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ। अन्न, पान, खाद्य, स्वाद्य—जो भी वस्तुएँ है मैं उनका स्वय रात्रिमें भोजन नहीं करूँगा, न दूसरोंसे कराऊँगा और न रात्रिमें भोजन करने वालोंका अनुमोदन करूँगा। त्रिविध—त्रिविध रूपसे-मन, वचन और काया तथा करने कराने और अनुमोदन रूपसे रात्रिभोजनका मुझे यावज्जीवनके लिए प्रत्याख्यान—त्याग है। हे भदन्त! मैंने अतीतमे

रात्रिभोजन किया उससे अलग होता हूँ, उसकी निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और पाप सेवन करनेवाली आत्माका त्याग करता हूँ। मैं सर्व रात्रि भोजनसे विरति रूप इस छट्ठे व्रतमें अपनेको उपस्थित करता हूँ।

पूर्वोक्त पाच महाव्रत और छट्ठे इस रात्रि भोजन विरमण व्रतको आत्महितके लिए ग्रहण कर मैं सयममें विचरण करता हूँ।

३ : आठ प्रवचन माताएँ

१—अट्ठ पवयणमायाओ, समिई गुत्ती तहेव य ।
पंचेव य समिईओ, तओ गुत्तीउ आहिआ ॥

उत्त० २४ : १

समिति और गुप्ति रूप आठ प्रवचन माताएँ कही गई हैं। समिति पाँच हैं और गुप्तिया तीन।

२—इरियाभासेसणादाणे, उच्चारे समिई इय ।
मणगुत्ती वयगुत्ती, कायगुत्ती य अट्ठमा ॥

उत्त० २४ : २

ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानसमिति और उच्चारसमिति तथा मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति—ये आठ प्रवचन माताएँ हैं।

३—एयाओ अट्ठ समिईओ, समासेण वियाहिया ।
दुवालसंगं जिणक्खायं, मायं जत्थ उ पवयणं ॥

उत्त० २४ : ३

नीचे इन आठ—५ समितियो और ३ गुप्तियोका सक्षेपसे वर्णन किया गया है। जिन भाषित द्वादशाग रूप प्रवचन इन्हीके अन्दर समाया हुआ है।

(१) ईर्या समिति

४—तत्थ आलम्बणं नाणं, दंसणं चरणं तहा।
काले य दिवसे वुत्ते, मग्गे उप्पह वज्जिए॥

उत्त० २४ : ५

ज्ञान, दर्शन और चरण—ये ईर्याके हेतु हैं। ईर्याका काल दिन कहा गया है। ईर्याका मार्ग—उत्पथवर्जन—सुपथ है।

५—दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्तं च खेत्तओ।
कालओ जाव रीइज्जा, उवउत्ते य भावओ॥

उत्त० २४ : ७

द्रव्यसे—आखोंसे देखकर चले। क्षेत्रसे—युग—चार हाथ प्रमाण मार्गको देखकर चले। कालसे—जब तक चलता रहे यत्न रखे। भावसे—सदा उपयोग पूर्वक चले।

६—इन्दियत्थे विवज्जित्ता, सज्झायं चेव पञ्चहा।
तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे, उवउत्ते रियं रिए॥

उत्त० २४ : ८

इन्द्रियोके विषयो और पाच प्रकारके स्वाध्यायको छोड, चलनेमें ही तन्मय हो और उसीको सम्मुख रख—प्रधान कर मार्गमें उपयोग-पूर्वक चले।

(२) भाषा समिति

८—कोहे माणे य मायाए, लोभे य उवउत्तया।
हासे भए मोहरिए, विकहासु तहेव य॥

उत्त० २४ : ९

क्रोध, मान, माया, लोभ तथा हास्य, भय, मुखरता और विकथा वाणीमें ये दोष न आयें इसका पूरा ध्यान रखना चाहिए।

९—एयाइं अट्ठ ठाणाइं, परिवज्जित्तु संजए।
असावज्जं मियं काले, भासं भासिज्ज पन्नवं ॥

उत्त० २४ : १०

प्रज्ञावान् संयमी इन आठ स्थानोंका वर्जन करता हुआ यथासमय परिमित और असावद्य भाषा बोले।

१०—तहेव सावज्जणुमोअणी गिरा, ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह लोह भय हास माणवो, न हासमाणो वि गिरं वइज्जा।

द० ७ : ५४

जो भाषा सावद्य—पापकार्यकी अनुमोदना करनेवाली हो, जो निश्चयात्मक हो, जो परकी घात करनेवाली हो, ऐसी भाषा मुनि क्रोधसे, लोभसे, भयसे या हास्य परिहास्यसे न बोले।

११—सुवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी, गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मिअं अदुट्ठं अणुवीइ भासए, सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

द० ७ : ५५

जो मुनि सुवाक्यशुद्धिकी आलोचना कर दुष्ट गिराको सदाके लिए छोड़ देता है और जो विचार कर मित और अदुष्ट भाषा बोलता है वह सत्पुरुषोंमें प्रशंसा प्राप्त करता है।

१२—भासाइ दोसे य गुणे य जाणिया, तीसे अ दुट्ठे परिवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए, वइज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

द० ७ : ५६

षट्कायके जीवोंके प्रति संयत तथा श्रामण्यमें सदा यत्नशील बुद्ध पुरुष भाषाके गुण और दोषोंको भली भांति जानकर दुष्ट भाषाको सदाके लिए छोड़ दे और हितकारी तथा सुमधुर भाषा बोले।

(३) एषणा समिति

१३—जाइं चत्तारिऽभुज्जाइं, इसिणाऽऽहारमाइणि।
ताइं तु विवज्जंतो, संजमं अणुपालए॥

द० ६ : ४७

जो आहारादि चार पदार्थ मुनियोके लिए अकल्पनीय—अभोग्य हैं उन सबका निश्चयपूर्वक त्याग करता हुआ साधु सयमका यथाविधि पालन करे।

१४—पिंडं सिज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव च।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं॥

द० ६ : ४८

पिण्ड-आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र ये चार पदार्थ अकल्पनीय हो तो साधु उन्हे ग्रहण न करे और कल्पनीय हो तो ग्रहण करे।

१५—जे नियागं ममायंति कीयमुद्देसियाहडं।
वहं ते समणुजाणंति इइ वुत्तं महेसिणा॥

द० ६ : ४९

जो साधु नित्य आमन्त्रित आहार, साधुके लिए मोल लिया हुआ आहार, उसके लिए बनाया हुआ—औद्देशिक आहार तथा सम्मुख लाया हुआ आहार ग्रहण करते है वे प्राणी-वधकी अनुमोदन करते है, ऐसा महर्षिने कहा है।

१६—तम्हा असणपाणाइं कीयमुद्देसियाहडं।
वज्जयंति ठिअप्पाणो, निग्गंथा धम्मजीविणो॥

द० ६ : ५०

इसलिए जो स्थिर रमा धर्मजीवी निर्ग्रन्थ है वे क्रीत-कृत, औद्देशिक

और आहृत अशन पानादि पदार्थोंका हमेशा वर्जन करते है—उन्हे कभी भी ग्रहण नही करते ।

(४) आदान समिति

१७—धुवं च पडिलेहिज्जा, जोगसा पायकंबलं ।
सिज्जमुच्चारभूमिं च, संथारं अदुवाऽऽसणं ॥

द० ८ : १७

साधको नित्य प्रति यथाकाल वस्त्र, पात्र, शय्या, वासस्थान, उच्चार भूमि, सस्तारक और आसन आदिकी सावधानी पूर्वक प्रतिलेखना करनी चाहिए ।

१८—पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं ।
पडिलेहणापमत्तो, छण्हं पि विराहिओ होइ ॥

उत्त० २६ : ३०

प्रतिलेखनामे प्रमाद करनेवाला पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायु-काय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छओका ही विराधक होता है ।

१९—पुढवी आउक्काए तेऊ वाऊ वणस्सइ तसाणं ।
पडिलेहणाआउत्तो छण्हं संरक्खओ होइ ॥

उत्त० २६ : ३१

प्रतिलेखनामें जो प्रमादी नही होता वह साधु पृथ्वीकाय आदि छहोका ही सरक्षक होता है ।

२०—चक्खुसा पडिलेहित्ता, पमज्जेज्ज जयं जई ।
आइए निक्खिवेज्जा वा, दुहओवि समिए सया ॥

उत्त० २४ : १४

यतनावाला साधु आखोसे देखकर दोनो प्रकारकी उपधिका

प्रमार्जन करे तथा उपधिके उठाने और धरनेमें सदा समिति—चौकसी वाला हो।

२१—संथारं फलगं पीढं, निसिज्जं पायकम्वलं।
अप्पमज्जियमारुहइ, पावसमणि त्ति वुच्चई॥
उत्त० १७ : ७

सस्तारक, फलक, पीठ, पादपुछन और स्वाध्यायभूमि—इन पर जो विना प्रमार्जन किए बैठता है, वह पापी श्रमण कहा जाता है।

२२—पडिलेहेइ पमत्ते अवउज्झइ पायकम्वलं।
पडिलेहणाअणाउत्ते, पावसमणि त्ति वुच्चई॥
उत्त० १७ : ६

जो प्रमादपूर्वक प्रतिलेखना करता है, जो पात्र और कम्वल जहां तहा रख देता है—इस तरह प्रतिलेखनामें जिसका विलकुल उपयोग नही वह पापी श्रमण कहलाता है।

(५) उत्सर्ग समिति

२३—उच्चारं पासवणं, खेलं सिंघाणजल्लियं।
आहारं उवहि देहं, अन्नं वावि तहाविहं[1]॥
अणावायमसंलोए, परस्सऽणुवघाइए।
समे अज्झुसिरे यावि, अचिरकालकयम्मि य॥
विच्छिण्णं दूरमोगाढे, नासन्ने विलवज्जिए।
तसपाणबीयरहिए, उच्चाराईणि वोसिरे॥
उत्त० २४ : १५, १७, १८

१—मिलावे द० अ० ८ : १८

मल, मूत्र, खंखार, नासिका का मल, शरीरका मैल, आहार, उपधि, देह—शव तथा और इसी प्रकारके फेंकने योग्य अन्य पदार्थ जहां न कोई आता हो, न कोई देखता हो, दूसरे जीवोंकी घात न होती हो, जो सममूमि हो, जो तृण पत्रादिसे अनाच्छादित हो तथा कुछ कालसे अचित्त हो, जो स्थान विस्तृत हो, काफी नीचे तक अचित्त हो, ग्रामादिके अति समीप न हो, मूषकादिके बिल तथा त्रस प्राणी और बीजोंसे रहित हो—ऐसे ही स्थानको प्रमार्जित कर वहा विसर्जित करने चाहिएं।

(६) मन गुप्ति

२४—संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि य तहेव य।
मणं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

उत्त० २४ : २१

यतनावाला यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भमें प्रवृत्त होते हुए मनको निवृत्त करे—हटावे।

(७) वचन गुप्ति

२५—संरम्भसमारम्भे, आरम्भम्मि य तहेव य।
वयं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई॥

उत्त० २४ : २३

यतनावाला यति संरम्भ, समारम्भ और आरम्भमें प्रवृत्त होते हुए वचनको निवृत्त करे—हटावे।

(८) काय गुप्ति

२६—ठाणे निसीयणे चेव, तहेव य तुयट्टणे।
उल्लंघणपल्लंघणे , इन्द्रियाण य जुंजणे॥

संरम्भसमारम्भे , आरम्भम्मि तहेव य ।
कायं पवत्तमाणं तु, नियत्तेज्ज जयं जई ॥

उत्त० २४ : २४, २५

यतनावाला यति स्थानके विषयमें, बैठनेके विषयमें, शयनके विषयमें, उल्लघन प्रलघनके विषयमें तथा इन्द्रियोंके प्रयोगमें कायाको सयममें रखे तथा सरम्भ, समारम्भ, और आरम्भमें प्रवृत्त होती हुई कायाको निवृत्त करे—हटावे ।

२७—एयाओ पञ्च समिईओ, चरणस्स य पवत्तणे ।
गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो ॥

उत्त० २४ : २६

ये पाचो समितिया चरित्रकी प्रवृत्तिके विषयमें कही गई हे और तीनो गुप्तिया सर्व प्रकारके अशुभ अर्थोसे—मनोयोगादिसे निवृत्तिके विषयमें कही गई हैं ।

२८—एयाओ पवयणमाया, जे सम्मं आयरे मुणी ।
से खिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

उत्त० २४ : २७

जो मुनि इन प्रवचन माताओका सम्यक् भावसे आचरण करता है, वह पण्डित सर्व ससारचक्रसे शीघ्र छुट जाता है ।

४ : अखण्ड नियम

सखुड्डगवियत्ताणं, वाहियाणं च जे गुणा।
अखंडफुडिया कायव्वा, तं सुणेह जहा तहा ॥

द० ६ : ६

जो गुण बालक, युवक एवं वृद्ध, स्वस्थ एवं अस्वस्थ सबको, अखंड रूपसे पालन करने चाहिएँ, उनका जैसा स्वरूप है, वह सुनो।

(१) छ कायके जीवोकी हिंसाका वर्जन

१—पुढविकायं न हिंसंति, मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण, संजया सुसमाहिया ॥

द० ६ : २७, ३०, ४१, ४४

सुसमाधिवंत साधु मन, वचन और काया रूप तीन योगोसे और कृत, कारित और अनुमोदना रूप तीन करणसे पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकायकी हिंसा नही करते, दूसरोसे नही करवाते और न करनेवालोकी अनुमोदना करते है।

पुढविकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तयस्सिए।
तसे य विविहे पाणे, चक्खुसे य अचक्खुसे ॥

द० ६ : २८, ३१, ४२

पृथ्वीकायादि जीवोकी हिंसा करता हुआ प्राणी उन प्रत्येकके

आश्रयमें रहे हुए चक्षुओ द्वारा दिखाई देनेवाले या नही दिखाई देनेवाले अनेक प्रकारके त्रस और स्थावर प्राणियोकी हिंसा करता है।

तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
पुढविकाय समारंभं, जावज्जीवाए वज्जए ॥

द० ६ : २६, ३२, ३६, ४०, ४३, ४६

इसलिए दुर्गति रूप दोषको वढानेवाली इन हिंसाओको जानकर मुमुक्षु यावज्जीवनके लिए पृथ्वीकायादि जीवोके समारम्भको टाले।

२—पुढविं भित्तिं सिलं लेलुं, नेव भिन्दे न संलिहे।
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए[1] ॥

द० ८ : ४

सुसमाधिवत सयमी, सचित्त पृथ्वी, भीत, शिला, या मिट्टीके ढेलेको तीन करण तीन योगसे न भेदे और न घिसे।

सुद्ध पुढवी न निसीए, ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीइज्जा, जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥

द० ८ : ५

शस्त्रसे अपरिणत—सचित्त पृथ्वी पर और सचित्त रजसे भरे हुए आसनादि पर मुनि न वैठे। अचित्त भूमि हो तो मुनि स्वामीकी आज्ञा लेकर रजोहरणसे पूज कर वैठे।

३—सीओदगं न सेविज्जा, सिलावुट्ठं हिमाणि य।
सिणोदगं तत्तफासुयं, पडिगाहिज्ज संजए[2] ॥

द० ८ : ६

१—इस गाथाके भावोके विस्तारके लिए देखिए दस० अ० ४ : ७

२—इस गाथाके भावोके विस्तारके लिए देखिए दस० अ० ४ : ८

साधु, नदी, कुएँ, तालाबादिके सचित्त जल, ओले, बरसातके जल और बर्फ—इन सबका सेवन न करे किन्तु तप्त प्रासुक उष्ण जलको ग्रहण करे।

उदउल्लं अप्पणो कायं, नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं, नो णं संघट्टए मुणी[1] ॥ द० ८ : ७

अपना शरीर कदाचित् जलसे भीग जाय तो मुनि अपने शरीरको न पोछे और न मले किन्तु अपनेको भीगा देख अपने शरीरका स्पर्श भी न करे।

४—जायतेयं न इच्छंति, पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओ वि दुरासयं ॥
द० ६ : ३३

साधु अग्निको सुलगानेकी कभी भी इच्छा नहीं करता। यह बड़ा ही पापकारी शस्त्र है। यह लोहके अस्त्रशस्त्रोंकी अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण है और सर्व ओरसे दहन करनेवाला है।

भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ।
तं पईवपयावट्ठा, संजया किंचि नारभे ॥
द० ६ : ३५

यह अग्नि प्राणियोंके लिए घात स्वरूप है—इसमें जरा भी संदेह नहीं। इसलिए संयमी मुनि प्रकाश व शीत निवारण आदिके लिए किंचित् मात्र भी अग्निका आरम्भ न करे।

इंगालं अगणिं अच्चिं, अलायं वा सजोइयं।
न उंजिज्जा न घट्टिज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥
द० ८ : ८

१—इस गाथाके भावोंके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ . १

मुनि, अंगारको, अग्निको, ज्वालाको या ज्योति सहित अधजले काठको न जलावे, न सघट्टा करे और न बुझावे।

५—अणिलस्स समारंभं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्ज बहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं॥

द० ६ : ३७

वृद्ध पुरुष वायुकायके समारम्भको अग्निके जैसा ही अत्यन्त पापकारी मानते है अत. छः कायके रक्षक मुनि वायुकायका समारम्भ न करे।

तालियंटेण पत्तेण, साहाविहुयणेण वा।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं[1]॥

द० ६ : ३८

छः कायके त्रायी मुनि ताड वृक्षके पखेसे, पत्तोसे, अथवा शाखासे वह अन्य वस्तुको हिलाकर अपने शरीरको हवा पहुँचानेकी इच्छा नही करते और न दूसरेसे हवा करवाना चाहते है। मुनि अपने शरीर पर हवा न करे और न अन्य पदार्थो पर (गर्म दूधादिको ठडा करनेके लिए) हवा करे।

६—तणरुक्खं न छिंदिज्जा, फलं मूलं च कस्सइ।
आमगं विविहं वीयं, मणसा वि न पत्थए[2]॥

द० ८ : १०

साधु, तृण-घास-वृक्षादि तथा किसी वृक्षादिके फल और मूलको न काटे तथा नाना प्रकारके सचित्त बीजोके सेवनकी मनसे भी इच्छा न करे।

१—इस गाथाके भावके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ . १०
२—द० ८ ९

गहणेसु न चिट्ठिज्जा, बीएसु हरिसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं, उत्तिगपणगेसु वा[२] ॥

दृ० ८ : ११

वृक्षोके कुजमे, एव गहन वनमें, बीजो पर अथवा दूब आदि हरितकाय पर, तथा उदक पर, सर्पच्छत्रा पर तथा पनक एव लीलन-फूलन पर साधु कभी भी खड़ा न रहे।

७—अट्ठ सुहुमाइं पेहाए, जाइं जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु, आस चिट्ठ सएहि वा[१] ॥

दृ० ८ : १३

सयमी मुनि आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोंको जाननेसे सर्व जीवोके प्रति दया—अहिंसाका अधिकारी होता है। इन जीवोको भलीभाति देख कर मुनि बैठे, खड़ा हो और सोवे।

सिणेहं पुप्फसुहुमं च, पाणुत्तिगं तहेव य।
पणगं बीयहरियं च, अंडसुहुमं च अट्ठमं ॥

दृ० ८ : १५

स्नेह—ओस, बर्फ, धुम्मर आदि, सूक्ष्म पुष्प, सूक्ष्म प्राणी, कीडी-नगरा; पनग—लीनफूलन; बीज, हरितकाय और सूक्ष्म अण्डे—ये आठ प्रकारके सूक्ष्म जीव हैं।

एवमेयाणि जाणित्ता, सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्तो जए निच्चं, सव्विंदिय समाहिए ॥

दृ० ८ : १६

साधु इस प्रकार पूर्वोक्त आठ प्रकारके सूक्ष्म जीवोको जानकर

२—इन गाथाओके भावके विस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ : ११
१—इस गाथाके भावविस्तारके लिए देखिए—दस० अ० ४ : १२

सर्वं इन्द्रियोका दमन करता हुआ एवं प्रमादरहित होकर हमेशा सर्व भावोसे—तीन करण तीन योगसे—इनकी यतनामें सावधान रहे।

८—तसे पाणे न हिंसिज्जा, वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु, पासेज्ज विविहं जगं॥

द० ८ : १२

मुनि, मन, वचन और कायासे त्रस प्राणियोकी हिंसा न करे। वह सारे जगत्को—सर्व प्राणियोको—आत्मवत् देखता हुआ सर्व भूतो की हिंसासे विरत हो।

९—इच्चेयं छज्जीवणियं, सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुलहं लहित्तु सामण्णं, कम्मुणा न विराहिज्जासि॥

द० ४ : २९

दुर्लभ श्रमणभावको प्राप्त करके समदृष्टि और सदा यत्नसे प्रवृत्ति करनेवाले मुनि इन षट् जीव-निकायके जीवोकी मन, वचन और काया से कभी भी विराधना न करे।

(२) गृहस्थके वर्तनोका वर्जन

१—कंसेसु कंसपाएसु, कुंडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाइं, आयारा परिभस्सइ॥

द० ६ : ५१

जो मुनि गृहस्थ की कासी आदिकी कटोरीमें, कासी आदिकी थालीमे तथा मिट्टीके कुडेमें, अशनपान आदिका भोजन करता है, वह अपने आचारसे सर्वथा भ्रष्ट हो जाता है।

२—सीओदगसमारंभे, मत्तधोअणछड्डणे।
जाइं छनंति भूयाइं, दिट्ठो तत्थ असंजमो॥

द० ६ : ५२

गृहस्थ वर्तनोको धोते है जिसमें सचित्त जलका आरम्भ होता हैं। वर्तनोके धोनेके जलको यत्रतत्र गिरानेसे बहुतसे जीवोकी हिंसा होती है। इससे गृहस्थके वर्तनोमें भोजन करनेमें ज्ञानियोने स्पष्टत: असंयम देखा है।

३—पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पइ।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे॥

द० ६ : ५३

गृहस्थके वर्तनमें भोजन करनेसे पश्चात्कर्म और पुर.कर्म दोष लगनेकी संभावना रहती है अत साधुको यह नही कल्पता। इसलिए निर्ग्रंथ मुनि गृहस्थके भाजनोमें भोजन नही करते।

(३) पलंगादिका वर्जन :

१—आसंदी पलिअंकेसु, मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं, आसइत्तु सइत्तु वा॥
नासंदी पलिअंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।
निग्गंथाऽपडिलेहाए, बुद्धवुत्तमहिट्ठगा॥

द० ६ : ५४, ५५

कुर्सी और पलंग अथवा खाट और आरामकुर्सी आदिपर बैठना अथवा सोना आर्यो—साधुओके लिए अनाचार है अत. सर्वज्ञोके वचनो को माननेवाले निर्ग्रंथ, कुर्सी, पलंग, रूईकी गद्दीवाले आसन और पीढ़े पर न बैठे और न सोवे क्योकि इनका प्रतिलेखन होना कठिन है।

२—गंभीर विजया एए, पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदी पलिअंको य, एयमट्ठं विवज्जिया॥

द० ६ : ५६

कुर्सी, पलग आदिमें बडे छिद्र होते है अत प्राणियोंकी प्रति-

लेखना होना कठिन है। अतः मुनियोको ये सब विवर्जित है।

(४) गृहस्थके घरमें बैठनेका वर्जन .

१—विवत्ती बंभचेरस्स, पाणाणं च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ, पडिकोहो अगारिणं ॥

द० ६ : ५८

गृहस्थके घर बैठनेसे साधुके ब्रह्मचर्यके नाश होनेको तथा प्राणियो के वध होनेसे सयमके दूषित होनेकी सम्भावना रहती है। कोई भिखारी भिक्षाके लिए आवे तो उसकी भिक्षामें अन्तराय होनेकी सभावना होती है तथा गृहस्थ भी क्रुद्ध हो सकता है।

२—अगुत्ती बंभचेरस्स, इत्थीओ वावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं, दूरओ परिवज्जए॥

द० ६ : ५६

गृहस्थके घर बैठनेसे साधुके ब्रह्मचर्यकी रक्षा नही हो सकती। स्त्रियोके विशेष ससर्गसे ब्रह्मचर्य व्रतमे शका उत्पन्न हो सकती है। अत कुशीलकी वृद्धि करनेवाले इस स्थानको साधु दूरसे ही विवर्जित करे।

(५) स्नानका वर्जन

१—वाहिओ वा अरोगी वा, सिणाणं जो उ पत्थए।
वुक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ संयमो॥

द० ६ : ६१

चाहे रोगी हो अथवा निरोगी, जो साधु स्नान करनेकी इच्छा करता है वह निश्चय ही आचारसे भ्रष्ट हो जाता है और उसका सयम मलीन हो जाता है।

२—संतिमे सुहुमा पाणा, घसासु भिलगासु य ।
जे य भिक्खू सिणायंतो, वियडेणुप्पलावए ॥

द० ६ : ६२

क्षारवाली पोली भूमि और फटी हुई दरारोवाली भूमिमें सूक्ष्म प्राणी होते है। साधु यदि विकृत—प्रासुक जलसे भी स्नान करे तो भी उन सूक्ष्म जीवोके उत्प्लावनसे—जलकी धारमें बह जानेसे हिंसा हुए विना नहीं रहेगी।

३—तम्हा ते न सिणायंति, सीएण उसिणेण वा ।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा ॥

द० ६ : ६३

अत. शुद्ध सयमका पालन करनेवाले साधु ठडे जलसे अथवा गरम जलसे कभी भी स्नान नही करते और जीवन पर्यन्त अस्नान नामक अति कठिन व्रतका पालन करते हैं।

(६) विभूषाका वर्जन

१—सिणाणं अदुवा कक्कं, लोद्धं पउमगाणि य ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि ॥

द० ६ : ६४

सयमी पुरुष, चन्दन लोध्र, कुकुम, केसर आदि सुगन्धित पदार्थों का अपने शरीरके उबटनके लिए कदापि सेवन नही करते और न स्नान करते है।

२—विभूसा वत्तियं भिक्खू, कम्मं बंधइ चिक्कणं ।
संसारसायरे घोरे, जेणं पडइ दुरुत्तरे ॥

द० ६ : ६६

विभूषाप्रिय साधुको चीकने कर्मोका बधन होता है, जिससे वह

इस दुस्तर घोर संसार-सागरमें गिरता है।

३—विभूसावत्तियं चेयं, बुद्धा मन्नंति तारिसं।
सावज्जवहुलं चेयं, नेयं ताईहिं सेवियं॥

द० ६ : ६७

ज्ञानी पुरुष शरीरकी विभूषा चाहनेवाले मनको चीकने कर्मबंधका कारण और बहुल पापोंकी उत्पत्तिका हेतु मानते हैं इसलिए छः कायके जीवोंके त्राता मुनियोंको शरीर विभूषाका सेवन नहीं करना चाहिए।

(६) मद्यपानका वर्जन

१—सुरं वा मेरगं वावि, अन्नं वा मज्जगं रसं।
ससक्खं न पिवे भिक्खू, जसं सारक्खमप्पणो॥

द० ५।२ : ३६

अपने संयमरूपी निर्मल यशकी रक्षा करनेवाला भिक्षु, आत्म-साक्षीपूर्वक सुरा, मदिरा तथा मद उत्पन्न करनेवाले अन्य किसी भी रसको न पीवे।

२—पियए एगओ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइं, नियडिं च सुणेह मे॥

द० ५।२ : ३७

मुझे कोई भी नहीं देखता है—ऐसा मानकर जो भगवान्‌की आज्ञाका लोप करनेवाला चोर साधु एकान्त स्थानमें—लुक छिपकर मदिरा पीता है, उसके दोषोंको देखो और मैं उसके मायाचारका वर्णन करता हूँ सो सुनो।

३—वड्ढई सुंडिया तस्स, माया मोसं च भिक्खुणो।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया॥

द० ५।२ : ३८

मदिरा पान करनेवाले साधुके आसक्ति, माया, झूठ, अपयश और अतृप्ति आदि दोष बढते ही रहते हैं। उसकी असाधुता सतत् बढती रहती है।

४—निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्त कम्मेहिं दुम्मई।
तारिसो मरणंते वि, न आराहेइ संवरं॥
द० ५।२ : ३९

जैसे चोर अपने कुकर्मोंसे नित्य उद्विग्न रहता है, उसी तरह मद्य पीनेवाला दुर्बुद्धि साधु सदा व्याकुल रहता है। ऐसा साधु मरणांतके समय भी संवर—चारित्रकी आराधना नहीं कर सकता।

५—आयरिए नाराहेइ, समणे आवि तारिसो।
गिहत्था वि ण गरिहंति, जेण जाणंति तारिसं॥
द० ५।२ : ४०

विचार मूढ मदिरा पीनेवाला साधु न तो आचार्योंकी आराधना कर सकता है और न साधुओंकी। जब गृहस्थ लोग मदिरापानके दुर्गुणको जान लेते हैं तो वे भी उसकी निंदा करते हैं।

६—तवं कुव्वइ मेहावी, पणीय वज्जए रसं।
मज्जप्पमायविरओ, तवस्सी अइउक्कसो॥
द० ५।२ : ४२

मेधावी साधु स्निग्ध रसोंको छोड़कर तप करता है। वह मद्यपान और प्रमादसे विरत निरभिमानी तपस्वी होता है।

५ : अनगार

१—मणोहरं चित्तघरं, मल्लधूवेण वासियं।
सकवाडं पंडुरुल्लोयं, मणसाऽवि न पत्थए॥

उत्त० ३५ : ४

अनगार, मनोहर, माल्य और धूप द्वारा वासित, कपाट सहित, उज्ज्वल चदवेवाले तथा चित्रवाले घरकी मनसे भी इच्छा न करे।

२—इंदियाणि उ भिक्खुस्स, तारिसम्मि उवस्सए।
दुक्कराइं निवारेउं, कामरागविवड्ढणे॥

उत्त० ३५ : ५

क्योंकि वैसे कामरागकी वृद्धि करनेवाले उपाश्रयमे वसनेसे साधु के लिए विपयकी ओर जाती हुई इन्द्रियोका निवारण करना दुष्कर हो जाता है।

३—सुसाणे सुन्नगारे वा, रुक्खमूले वा एगगो।
पइरिक्के परकडे वा, वासं तत्थाभिरोयए॥

उत्त० ३५ : ६

अनगार, श्मशानमें, शून्य घरमें, वृक्षके नीचे अथवा (गृहस्थने निजके लिए बनाया हो, ऐसे) परकृत एकान्त स्थानमे अकेला निवास करना पसन्द करे॥

४—फासुयम्मि अणाबाहे, इत्थीहिं अणुभिद्दुए।
तत्थ संकप्पए वासं, भिक्खू परमसंजए॥

उत्त० ३५ : ७

परम सयमी अनगार, प्रासुक, किसीको पीड़ा न हो ऐसे स्त्रियो द्वारा अनुपद्रवित उपरोक्त श्मशानादि स्थानोंमें वास करे।

५—न सयं गिहाइं कुव्विज्जा, नेव अन्नेहिं कारए।
गिहकम्मसमारंभे, भूयाणं दिस्सए वहो॥

उत्त० ३५ : ८

अनगार स्वय गृहादि न बनावे, दूसरोसे गृहादि न बनवावे और गृहादि बनाते हुएका अनुमोदन न करे। गृहकार्यके समारम्भमें अनेक प्राणियोका बध प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

६—तसाणं थावराणं च, सुहुमाण बायराण य।
गिहकम्मसमारंभं, संजओ परिवज्जए॥

उत्त० ३५ :६

गृहादि बनानेमें त्रस, स्थावर, सूक्ष्म और वादर जीवोका वध होता है इससे सयमी अनगार गृहकार्य समारम्भका परिवर्जन करे।

६ : विनय-समाधि

१—सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पन्नं सुतवस्सियं।
वीरा जे अत्तपन्नेसी धिइमन्ता जिइन्दिया ॥
सू० १, ६ : ३३

मुमुक्ष पुरुष, प्रज्ञावान, तपस्वी, पुरुषार्थी, आत्मज्ञानी, धृतिमान और जितेन्द्रिय गुरुकी शुश्रूषापूर्वक उपासना—सेवा करे।

२—जहाहियग्गी जलणं नमंसे, नाणाहुईमंतपयाभिसित्तं।
एवायरियं उवचिट्ठएज्जा, अणंतनाणोवगओऽवि संतो ॥
द० ६ । १ : ११,

अग्निहोत्री ब्राह्मण जिस तरह नाना प्रकारकी आहुतियो और मन्त्रो से अभिषिक्त अग्निको नमस्कार करता है उसी तरह अनन्त ज्ञानी होने पर भी शिष्य गुरुकी विनय पूर्वक सेवा करे।

३—जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइयं पउंजे।
सक्कारए सिरसा पंजलीओ, कायग्गिरा भो मणसा य निच्चं ॥
द० ६ । १ : १२

जिसके पास धर्म-पद सीखे हो उसके प्रति विनय भाव रखना चाहिए तथा हमेशा सिर नमा, हाथ जोड़, मन-वचन कायासे उसका सत्कार करना चाहिए।

४—मणोगयं वक्कगयं, जाणित्तायरियस्स उ।
तं परिगिज्झ वायाए, कम्मुणा उववायए[1]॥

उत्त० १ : ४३

आचार्यके मन, वचन (और काया) गत भावोंको समझ कर, वचन द्वारा उन्हें स्वीकार कर शरीर द्वारा उन्हें पूरा करना चाहिए।

५—वित्ते अचोइए निच्चं, खिप्पं हवइ सुचोइए।
जहोवइट्ठं सुकयं, किच्चाइं कुव्वई सया॥

उत्त० १ : ४४

विनयशील शिष्य बिना प्रेरणा किया हुआ नित्य प्रेरणा किए हुए की तरह शीघ्र कार्यकारी होता है और गुरुके उपदेशके अनुसार ही सदा कार्योंको अच्छी तरह करता है।

६—मा गलियस्सु व कसं, वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं व दट्ठुमाइण्णे, पावगं परिवज्जए॥

उत्त० १ : १२

जैसे दुष्ट घोडा बार बार चाबुककी अपेक्षा रखता है वैसे विनीत शिष्य बार बार अनुशासनकी अपेक्षा न रखे। जैसे विनीत घोडा चाबुकको देखकर ही सुमार्ग पर आ जाता है, उसी प्रकार विनयवान शिष्य गुरुजनोंकी दृष्टि आदिको देखकर ही दुष्ट मार्गको छोड दे।

७—आलवंते लवंते वा, न निसीएज्ज कयाइवि।
चइऊणमासणं धीरो, जओ जत्तं पडिस्सुणे[2]॥

उत्त० १ : २१

गुरु एक बार बुलावे अथवा बार बार शिष्य कदाचित् भी बैठा

१—मिलावें द० ८ ३३ २—द० ९।२ . २०

न रहे किन्तु धीर शिष्य आसन छोड़कर यत्नके साथ गुरुके वचन को सुने।

८—आयरिएहिं वाहितो, तुसिणीओ न कयाइवि।
पसायपेही नियागट्ठी, उवचिट्ठे गुरुं सया॥

उत्त० १ : २०;

आचार्योंके द्वारा बुलाया हुआ शिष्य कदाचित् भी मौनका अवलम्बन न करे किन्तु गुरु कृपा और मोक्षकी अभिलाषा वाला शिष्य सदा उनके समीप ही रहे।

९—आसणगओ न पुच्छेज्जा, नेव सेज्जागओ कया।
आगम्मुक्कुडुओ सन्तो, पुच्छिज्जा पंजलीउडो॥

उत्त० १ : २२

आसन पर बैठा हुआ कदाचित् भी न पूछे तथा शय्या पर बैठा हुआ भी कभी न पूछे। समीप आ, उत्कटुक आसनमें हो बद्धांजलि पूर्वक जो पूछना हो सो पूछे।

१०—न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न जुंजे ऊरुणा ऊरुं, सयणे नो पडिस्सुणे[1]॥

उत्त० १ : १८

आचार्यके बरावर न बैठे, आगे न बैठे, उनकी ओर पीठ करके न बैठे, उनके गोड़के साथ गोड़ा जोड़ कर न बैठे और शय्यामें पड़ा पड़ा ही उनके वचनको न सुने।

११—नेव पल्हत्थियं कुज्जा, पक्खपिण्डं व संजए।
पाए पसारए वावि, न चिट्ठे गुरुणन्तिए॥

उत्त० १ : १९

१—मिलावें द० ८ : ४६

विनीत शिष्य गुरुके समीप पल्हाथी मारकर न बैठे, अपनी दोनो भुजाओंको जांघो पर रखकर न बैठे, उनके सामने पाव पसारकर न बैठे तथा और भी अविनय सूचक आसनादिसे गुरुके निकट न बैठे।

१२—आसणे उवचिट्ठिज्जा, अणुच्चे अक्कुए थिरे।
अप्पुट्ठाइ निरुट्ठाइ, निसीएज्जप्पकुक्कुए॥

उत्त० १ : ३०

शिष्य चांचल्यरहित होकर ऐसे आसन पर बैठे जो गुरुसे ऊँचा न हो, स्थिर हो, शब्द न करता हो और उक्त प्रकारके आसन पर बैठा हुआ भी विना प्रयोजन न उठे तथा प्रयोजन होने पर भी थोड़ा उठे।

१३—हत्थं पायं च कायं च, पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए, सगासे गुरुणो मुणी॥

द० ८ : ४५

जितेन्द्रिय मुनि गुरुके समक्ष हाथ, पाव और शरीरको वशमे रख, एकाग्र भावसे बैठे।

१४—नीयं सिज्जं गइं ठाणं, नीयं च आसणाणि य।
नीयं च पाए वंदिज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं॥

द० ९ : २ : १७

विनयी शिष्य अपने शय्या, स्थान और आसन गुरुसे नीचा रखे। चलते समय गुरुसे पीछे धीमी चालसे चले। नीचा झुककर पैरोमे वदना करे और नीचा होकर अञ्जलि करे।

१५—ना पुट्ठो वागरे किंचि, पुट्ठो वा नालियं वए।
कोहं असच्चं कुव्वेज्जा धारेज्जा पियमप्पियं॥

उत्त० १ : १४

विना बोलाये थोड़ा सा भी न बोले, और बोलाने पर झूठ कभी

न बोले, क्रोधको निष्फल बना देवे तथा प्रिय अप्रिय वचनोंको सम-भावसे ग्रहण करे।

१६—न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा॥

उत्त० १ : २५

अपने स्वार्थके लिए अथवा दूसरोके लिए अथवा दोनोमेसे किसीके भी लिए पूछा जानेपर सावद्य वचन न बोले। न निरर्थक और न मर्मभेदी वचन ही कहे।

१७—मा य चण्डालियं कासी, बहुयं मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जिता, तओ झाइज्ज एगगो॥

उत्त० १ : १०

शिष्य क्रोधावेशमे न बोले, झूठ न बोले, न बहुत बोले। कालके नियमसे अध्ययनकर बादमें एकान्तमे स्वाध्याय—चिन्तन करे।

१८—विणयं पि जो उवाएण, चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमिज्जन्तिं, दण्डेण पडिसेहए॥

द० ६ । २ : ४

विविधि उपायोसे मधुरता पूर्वक हित शिक्षा देनेपर भी जो मूर्ख मनुष्य कुपित हो जाता है वह घर आती हुई दिव्य लक्ष्मीको मानो दण्डोकी मारसे भगता है।

१९—अणुसासणमोवायं, दुक्कडस्स य चोयणं।
हियं तं मण्णई पण्णो, वेसं होइ असाहुणो॥

उत्त० १ : २८

गुरुजनोका पापको दूर करनेवाला, उपाययुक्त—आत्माके लिए हितरूप—अनुशासन बुद्धिमान् शिष्यको हित कारक लगता है परन्तु

असाधु पुरुषको वही अनुशासन द्वेषका हेतु बन जाता है।

२०—हियं विगयभया वुद्धा, फरुसं पि अणुसासणं।
वेसं तं होइ मूढाण, खन्तिसोहिकरं पयं॥

उत्त० १ : २६

निर्भय बुद्धिमान् शिष्य कठोर अनुशासनको भी अपने लिए हितकर मानते हैं परन्तु मूर्ख जनोंके लिए शान्ति और आत्मशुद्धिको प्राप्त करानेवाले वे ही पद—हितवाक्य—द्वेषके कारण हो जाते हैं।

२१—जं मे बुद्धाणुसासन्ति, सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए, पयओ तं पडिस्सुणे॥

उत्त० १ : २७

ये जो बुद्ध पुरुष मुझे कोमल अथवा कठोर वाक्योंसे अनुशासित करते हैं—यह मेरे लाभके लिए ही है—इस प्रकारसे विचार करता हुआ मुमुक्षु पुरुष प्रयत्न पूर्वक उनकी शिक्षाको ग्रहण करे।

२२—आहच्च चण्डालियं कट्टु, न निण्हविज्ज कयाइवि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा, अकडं नो कडेत्ति य॥

उत्त० १ : ११

कदाचित् कोपके वशीभूत होकर अकृत्य किया गया हो तो उसे कभी भी न छिपावे किन्तु किया हो तो कह दे कि मैंने किया है और यदि न किया हो तो कह दे कि मैंने नहीं किया

२३—पडिणीयं च बुद्धाणं, वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से, नेव कुज्जा कयाइवि॥

उत्त० १ : १७

वचनसे या कायसे प्रगटमें या गुप्तमें ज्ञानी पुरुषोंके प्रतिकूल आचरण कदाचित् भी न करे।

२४—न कोवए आयरियं, अप्पाणं पि न कोवए।
बुद्धोवघाई न सिया, न सिया तोत्तगवेसए ॥

उत्त० १ : ४०

आचार्य पर क्रोध न करे, न अपनी आत्मा पर भी क्रोध लावे। ज्ञानी पुरुषोंकी घात करनेवाला न हो और न केवल छिद्र देखनेवाला ही हो।

२५—आयरियं कुवियं नच्चा, पत्तिएण पसायए।
विज्झवेज्ज पञ्जलिउडो, वएज्ज न पुण त्ति य ॥

उत्त० १ : ४१

आचार्यको कुपित हुआ जानकर प्रतीतिकारक वचनोंसे उन्हें प्रसन्न कर उनकी क्रोधाग्निको शान्त करे और दोनों हाथ जोड़ कर कहे कि मैं फिर आगेको ऐसा कभी न करूंगा।

२६—विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स य।
जस्सेयं दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छइ ॥

द० ६ । २ : २१

अविनीतको विपत्ति प्राप्त होती है, और सुविनीत को सम्पत्ति—ये दो बातें जिसने जान ली है, वही शिक्षा प्राप्त कर सकता है।

२७—जे आयरियउवज्झायाणं, सुस्सूसावयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति, जलसित्ता इव पायवा ॥

द० ६ । २ : १२

जो शिष्य आचार्य और उपाध्यायोंकी सेवा करता और उनकी आज्ञा अनुसार चलता है उसकी शिक्षा उसी प्रकार बढ़ती है, जिस जिस प्रकार जलसे सींचा हुआ वृक्ष।

२८—नच्चा नमइ मेहावी, लोए कित्ती से जायइ।
हवइ किच्चाणं सरणं, भूयाणं जगई जहा॥
उत्त० १ : ४५

विनयके रूपको जानकर जो पुरुष नम्र हो जाता है वह इस लोकमें कीर्ति प्राप्त करता है। जिस तरह पृथ्वी वनस्पति आदि भूतोकी शरण स्थान होती है उसी प्रकार वह सर्व सत्कार्यों—गुणोंका शरणभूत—आश्रय स्थान—बन जाता है।

२९—थंभा व कोहा व मयप्पमाया, गुरुस्सगासे विणयं न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो, फलं व कीयस्स वहाय होइ॥
द० ९।१ : १

गर्व, क्रोध, माया और प्रमादके कारण जो गुरुके पास रहकर विनय नही सीखता, उसकी यह कमी उसीका पतन करती है, जिस तरह कि बासका फल उसीके नाशके लिए होता है।

३०—मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स, खंधाउ पच्छा समुवेंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ य से पुप्फ फलं रसो य॥
द० ९।२ : १

वृक्षके मूलसे सबसे पहले स्कध पैदा होता है। स्कन्धके बाद शाखाएँ और शाखाओंसे दूसरी छोटी छोटी शाखाएँ निकलती है। उनसे पत्ते निकलते है। इसके बाद क्रमश फूल, फल और रस उत्पन्न होते है।

३१—एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परमो से मोक्खो।
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं, निस्सेसं चाभिगच्छइ॥
द० ९।२ : २

इसी तरह धर्मका मूल विनय है और मोक्ष उसका अन्तिम रस है। विनयके द्वारा ही मनुष्य बडी जल्दी शास्त्र ज्ञान तथा कीर्त्ति सपादन करता है। अन्तमें निश्रेयस् (मोक्ष) भी इसीके द्वारा प्राप्त होता है।

७ : भिक्षा और भोजनके नियम

१—तहेव भत्तपाणेसु, पयणपयावणेसु य।
पाणभूयदयट्ठाए, न पए न पयावए॥
उत्त० ३५ : १०

भात-पानीके राधने रंधानेमें जीववध प्रत्यक्ष दिखाई देता है। अत प्राणियो और भूतोकी दयाके लिए अनगार न स्वय राधे और न रंधावे।

२—जलधन्ननिस्सिआ पाणा, पुढविकट्ठनिस्सिआ।
हम्मंति भत्तपाणेसु, तम्हा भिक्खू न पयावए॥
उत्त० ३५ : ११

भात-पानी रांधनेके समय जल और धान्यके आश्रयमें रहे हुए तथा पृथ्वी और ईंधनकी निश्रायमें रहे हुए जीवोका हनन होता है। अतः भिक्षु भात-पानी न रांधे, (न रंधावे और न राधनेकी अनुमोदना करे।)

३—भिक्खिअव्वं न केअव्व, भिक्खुणा भिक्खवत्तिणा।
कयविक्कओ महादोसो, भिक्खावित्ती सुहावहा॥
उत्त० ३५ : १५

भिक्षा वृत्तिवाले भिक्षुको भिक्षा करनी चाहिए। उसे आहारादि

खरीदना नहीं चाहिये। क्योंकि क्रय-विक्रयमें महान् दोष है और भिक्षा वृत्ति सुखावह है।

४—सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं।
अलाभुत्ति न सोइज्जा, तवत्ति अहियासए॥

द० ५। २ : ६

भिक्षु भिक्षाका काल होने पर गोचरीके लिए जाय और यथोचित पुरुषार्थ करे। यदि भिक्षा न मिले तो शोक न करे किन्तु सहज ही तप होगा—ऐसा विचार कर क्षुधा आदि परिषहको सहन करे।

५—समुआणं उञ्छमेसिज्जा, जहासुत्तमणिंदिअं।
लाभालाभम्मि संतुट्ठे, पिंडवायं चरे मुणी॥

उत्त० ३५ : १६

मुनि सूत्रके नियमानुसार निर्दोष, भिन्न भिन्न घरसे थोडी थोडी और सामुदानिक भिक्षाकी गवेषणा करे और लाभालाभमें सन्तुष्ट रहता हुआ पिंडचर्या करे।

६—कालेण निक्खमे भिक्खू, कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जिता, काले कालं समायरे॥

उत्त० १ : ३१, द० ५। १ : ४

साधु समय पर भिक्षाविके लिए जावे और समय पर वापिस आ जाय। अकालको टालकर नियत कालपर कार्य करे।

७—संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए॥

द० ५। १ : १

भिक्षाका काल होने पर साधु उद्वेग रहित और आहारादिमें मूर्च्छित न होता हुआ इस आगे बताई जानेवाली विधिसे आहार पानी

की गवेषणा करे।

८—एसणासमिओ लज्जू गामे अणियओ चरे।
अप्पमत्तो पमत्तेहिं, पिण्डवायं गवेसए॥

उत्त० ६ : १७

एषणा समितिसे युक्त संयमशील साधु अनियत रूपसे ग्राममें फिरे और प्रमाद रहित रह प्रमत्तोंसे—गृहस्थोंसे—पिण्डपात—आहारादि की गवेषणा करे।

६—से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी।
चरे मंदमणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा॥

द० ५।१:२

गावमें अथवा नगरमें गोचरीके लिए गया हुआ मुनि उद्वेगरहित, शान्त चित्त और मंदगतिसे चले।

१०—पुरओ जुगमायाए, मेहमाणो महिं चरे।
वज्जंतो बीय हरियाइं, पाणे य दगमट्टियं॥

द० ५।१:३

मुनि सामने धूसर—चार हाथ—प्रमाण पृथ्वीको देखता हुआ तथा बीज, हरी वनस्पति, प्राणी, सचित्त जल तथा मिट्टीको टालता हुआ चले।

११—न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए वा पडंतिए।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा॥

द० ५।१:८

वर्षा वर्ष रही हो, धूअर गिर रहा हो, आंधी चल रही हो या पतंगिया आदि—अनेक प्रकारके जीव उड़ रहे हो उस समय साधु बाहर न जावे।

१२—अणायणे चरंतस्स, संसग्गीए अभिक्खणं।
हुज्ज वयाणं पीला, सामणम्मि य संसओ॥
द० ५।१:१०

वेश्याओके मोहल्लेमें गोचरीके लिए जानेवाले साधुके उनसे बार-बार ससर्ग होता है जिससे महाव्रतोको पीडा होती है और लोग उसके साधुपनमें सदेह करने लगते है।

१३—तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेस सामंतं, मुणी एगंतमस्सिए॥
द० ५।१:११

इसलिए दुर्गतिको बढानेवाले इन उपरोक्त दोषोको जानकर एकात मोक्षकी कामनावाला मुनि वेश्याओके मोहल्लेका वर्जन करे—उसे टाले।

१४—अणुन्नए नावणए, अप्पहिट्ठे अणाउले।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे।
द० ५।१:१३

मुनि न ऊपरकी ओर और न नीचेकी ओर ताकता हुआ चले। वह न हर्षित न व्याकुल इन्द्रियोको यथाक्रमसे दमन करता हुआ चले।

१५—दवदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे।
हंसतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया॥
द० ५।१:१४

गोचरीके लिए साधु दडबड दडबड—दौडता हुआ—न जावे और हसता हुआ तथा बोलता हुआ जावे किन्तु हमेशा ऊच नीच कुलमें ईर्यासमिति पूर्वक गोचरी जावे।

१६—समुयाणं चरे भिक्खू, कुलमुच्चावयं सया।
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए॥

द० ५।२ : २५

भिक्षु सदा ऊँच और नीच—धनी और गरीब—कुलोंमें सामुदानिक रूपसे भिक्षाके लिए जावे। नीच—गरीब—कुलको लांघकर धनवानके घर पर न जावे।

१७—पडिकुट्ठं कुलं न पविसे, मामगं परिवज्जए।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं॥

द० ५।१ : १४

साधु शास्त्रनिषिद्ध कुलमें गोचरीके लिए न जावे, स्वामीने ना कर दी हो उस घरमें न जावे तथा प्रतीतिरहित कुलमे प्रवेश न करे। वह प्रतीतिवाले घरमें जावे।

१८—अदीणो वित्तिमेसिज्जा, न विसीइज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणंभि, मायण्णे एसणा रए॥

द० ५।२ : २८

आहार पानीकी मात्राको जाननेवाला और आहारकी शुद्धिमे तत्पर पंडित साधु भोजनमे गृद्धिभाव न रखता हुआ अदीनभावसे आहार आदिकी गवेषणा करे। यदि आहारादि न मिले तो खेद न करे।

१९—असंसत्तं पलोइज्जा, नाइदूरावलोयए।
उप्फुल्लं न विनिज्झाए, निअट्टिज्ज अयंपिरो॥

द० ५।१ : २३

गोचरीके लिए गया हुआ साधु किसीकी तरफ आसक्तिसे न देखे, दूर तक लम्बी दृष्टि डालकर न देखे, आखे फाड फाडकर न देखे।

यदि भिक्षा न मिले तो बड़बड़ाहट न करता हुआ वापिस लौट आवे।

२०—नाइदूरमणासन्ने, नन्नेसिं चक्खु फासओ।
एगो चिट्ठेज्ज भत्तट्ठा, लंघित्ता तं नइक्कमे॥

उ० १ : ३३

यदि गृहस्थके घरमें पहलेसे ही कोई भिक्षु भिक्षाके लिए खड़ा हो तो साधु वहाँसे हटकर न अति दूर न अति नजदीक एकान्तमें खड़ा रहे जहाँ दूसरोंका दृष्टि स्पर्श न हो। वह भिक्षाके लिए उपस्थित मनुष्यको उल्लंघन कर उससे पहले घरमें प्रवेश न करे।

२१—अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कमे॥

द० ५।१ : २४

गोचरीके लिए गया हुआ मुनि गृहस्थकी मर्यादित भूमिसे आगे न जाय किन्तु कुलकी भूमिको जानकर परिमित भूमिमें ही रहे।

२२—दगमट्टिय आयाणे, बीयाणि हरियाणि य।
परिवज्जंतो चिट्ठिज्जा, सव्विंदियसमाहिए॥

द० ५।१ : २६

सर्व इन्द्रियोंको वशमें रखता हुआ समाचित्त मुनि सचित्त जल और सचित्त मिट्टी युक्त जगहको, बीजोंको और हरितकायको टालकर यत्नापूर्वक खड़ा रहे।

२३—पविसित्तु परागारं, पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे, न य रूवेसु मणं करे॥

द० ८ : १६

पानीके लिए अथवा भोजनके लिए गृहस्थके घरमें प्रवेश करके साधु यत्नापूर्वक खड़ा रहे, थोड़ा बोले, स्त्रियोंके रूपमें मनको न लगावे।

२४—तत्थसे चिट्ठमाणस्स, आहरेपाणभोयणं।
अकप्पियं न गिण्हिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं॥
द० ५ । १ : २७

वहां मर्यादित भूमिमें खडे हुए साधुको गृहस्थ आहार पानी देवे और वह कल्पनीय हो तो साधु उसे ग्रहण करे और अकल्पनीय हो तो ग्रहण न करे।

२५—नाइउच्चे व नीए वा, नासन्ने नाइदूरओ।
फासुयं परकडं पिण्डं, पडिगाहेज्ज संजए॥
उत्त० १ : ३४

गृहस्थके घरमें जाकर सयमी न अति ऊंचेसे, न अति नीचेसे, न अति समीपसे और न अति दूरसे प्रासुक—अचित्त और परकृत—दूसरोके निमित्त बने हुए पिण्ड—आहारको ग्रहण करे।

२६—जहा दुमस्स पुप्फेसु, भमरो आवियइ रसं।
ण य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥
एमे ए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाणभत्तेसणे रया॥
द० १ : २, ३

जिस प्रकार भ्रमर वृक्षके फूलोसे रस पीता हुआ भी उन्हे पीडित नही करता और अपनी आत्माको सतुष्ट कर लेता है, उसी प्रकार लोकमें जो मुक्त—परिग्रह रहित—श्रमण—साधु है वे दाता द्वारा दिए हुए दान, आहार और एषणामें उतने ही रत होते है जितना कि भ्रमर पुष्पो में।

२७—अतितिणे अचवले, अप्पभासी मियासणे।
हविज्ज उअरे दंते, थोवं लद्धं न खिसए॥
द० ८ : २६

साधु तिनहिनाहट न करनेवाला, चपलता रहित, अल्पभाषी, परि-मित आहार करनेवाला और उदरका दमन करनेवाला हो। तथा थोडा आहार मिलने पर क्रोधित न हो।

२८—बहुं परघरे अत्थि, विविहं खाइमं साइमं।
न तत्थ पंडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा॥
द० ५।२:२६

गृहस्थके घरमें खाद्य स्वाद्य अनेक प्रकारके बहुतसे पदार्थ होते है। यदि गृहस्थ साधुको न दे तो बुद्धिमान साधु उस पर कोप न करे पर विचार करे कि वह गृहस्थ है उसकी इच्छा है वह दे या नही।

२९—दुण्हं तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमंतए।
दिज्जमाणं न इच्छिज्जा, छंदं से पडिलेहए॥
द० ५।१:३७

गृहस्थके घर दो व्यक्ति भोजन कर रहे हों और उनमेंसे यदि एक व्यक्ति निमन्त्रण करे तो साधु लेनेको इच्छा न करे। दूसरेके अभिप्रायको देखें।

३०—गुव्विणीए उवण्णत्थं, विविहं पाणभोयणं।
भुञ्जमाणं विवज्जिज्जा, भुत्तसेसं पडिच्छए॥

गर्भवती स्त्रीके लिए बनाए हुए विविध आहार पानीको यदि वह खा रही हो तो साधु उन्हे न ले किन्तु यदि उसके खा चुकनेके उपरात कुछ बचा हो तो साधु उसे ग्रहण करे।

३१—सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिआ वा निसीइज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए॥

तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

द० ५।१ : ३६-४१

यदि कदाचित् आसन्न प्रसवा गर्भवती स्त्री खड़ी हो और साधुको आहारादि देनेके लिये बैठे अथवा पहले बैठी हो और फिर खड़ी हो तो वह आहार पानी साधुके लिए अकल्पनीय होता है। अत. देनेवाली बाईसे कहे इस प्रकार लेना मुझे नही कल्पता।

३२—थणगं पिज्जमाणी, दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाण अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं॥

द० ५।१ : ४२, ४३

बालकको अथवा बालिकाको स्तन पान कराती हुई बाई रोते हुए बच्चेको अलग कर आहार पानी देवे तो वह आहार पानी साधुके लिए अकलपनीय होता है। अतः उस देनेवाली बाईसे साधु कहे इस तरहका आहार मुझे नही कल्पता है।

३३—असणं पाणगं वावि, खाइमं साइमं तहा।
जं जाणिज्जा सुणिज्जा वा, दाणट्ठा पगडं इमं॥
तं भवे भत्तपाणं तु, संजयाणं अकप्पियं।
दिंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥

द०।५।१ : ४७, ५४

जिस आहार, जल, खाद्य, स्वाद्यके विषयमें साधु इस प्रकार जान ले अथवा सुन ले कि यह दानके लिए, पुण्यके लिए, याचकोके लिए तथा श्रमणो—भिक्षुओके लिए बनाया गया है तो वह भक्तपान

साधुके लिए अकल्पनीय होता है। अतः साधु दातासे कहे इस प्रकारका आहारादि मुझे नही कल्पता।

३४—कंदं मूलं पलंबं वा, आमं छिन्नं व सन्निरं।
तुंबागं सिंगवेरं च, आमगं परिवज्जए॥

द० ५।१ : ७०

कच्चा कद—जमीकन्द, मूल, तालफल अथवा काटी हुई भी सचित्त वथुए आदि पत्तोकी भाजी, घीया और अदरख आदि सब प्रकार की सचित्त वनस्पति—जिसे अग्निका शस्त्र न लगा हो उसे साधु न ले।

३५—न य भोयणम्मि गिद्धो, चरे उंछं अयंपिरो।
अफासुयं न भुंजिज्जा, कीयमुद्देसियाहडं॥

द० ८ : २३

भोजनमे गृद्ध न होकर साधु गरीब धनवान् सब दाताओके घरमें भिक्षाके लिए जाय। संतुष्ट रहकर दाताकी निंदा न करे। अप्रासुक, साधुके लिए क्रीत—खरीदा हुआ, औदेशिक—साधुके लिए बनाया हुआ तथा आहृत—साधुके लिए सामने लाया हुआ आहार ग्रहण न करे। यदि कदाचित् भूलसे ग्रहण कर लिया हो तो उसे न भोगे।

३६—बहुं सुणेइ कन्नेहिं, बहुं अच्छीहिं पिच्छई।
न य दिट्ठं सुयं सव्वं, भिक्खू अक्खाउमरिहइ॥

द० ८ : २०

साधु कानोसे बहुत बाते सुनता है, आखोसे बहुत बाते देखता है। परन्तु देखी हुई, सुनी हुई सारी बातें किसीसे कहना साधुको उचित नही है।

३७—निट्ठाणं रसनिज्जूढं, भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा, लाभालाभं न निद्दिसे ॥
द० ८ : २२

किसीके पूछने पर अथवा विना पूछे, साधु सरस आहार मिला हो तो आहार अच्छा मिला है इस प्रकार न कहे, नीरस आहार मिला हो तो आहार बुरा मिला है ऐसा न कहे। वह लाभालाभकी चर्चा न करे।

३८—विणएण पविसित्ता, सगासे गुरुणो मुणी।
इरियावहियमायाय, आगओ य पडिक्कमे ॥
द० ५।१ : ८८

भिक्षासे वापिस आने पर मुनि विनयपूर्वक अपने स्थानमें प्रवेश करे और गुरुके पास आकर ईर्यावही का पाठ पढकर प्रतिक्रमण करे।

३९—आभोइत्ताण निसेसं, अइयारं जहक्कमं।
गमणागमणे चेव, भत्तपाणे य संजए ॥
उज्जुप्पन्नो अणुव्विग्गो, अव्वक्खित्तेण चेयसा।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवं ॥
द० ५।१ : ८९, ९०।

आने-जानेमें और आहारादि ग्रहण करनेमें लगे हुए सब अतिचारो को तथा जो आहार-पानी जिसप्रकारसे ग्रहण किया हो उसे यथाक्रमसे उपयोगपूर्वक याद कर वह सरल बुद्धिवाला मुनि उद्वेग रहित एकाग्र चित्तसे गुरुके पास आलोचना करे।

४०—अहो जिणेहि असावज्जा, वित्ती साहूण देसिया।
मोक्खसाहणहेउस्स, साहुदेहस्स धारणा ॥
द० ५।१ : ९२

कायोत्सर्गमें स्थित मुनि इस प्रकार विचार करे कि अहो ! जिनेश्वर देवोंने मोक्ष-प्राप्तिके साधनभूत साधुके शरीरको धारण करनेके लिए कैसी निर्दोष भिक्षावृत्ति बताई है।

४१—णमुक्कारेण पारित्ता, करित्ता जिणसंथवं।
सज्झायं पट्ठवित्ताणं, वीसमेज्ज खणं मुणी ॥
द० ५।१ : ९३

मुनि 'णमो अरिहंताणं' पाठका उच्चारण कर, कायोत्सर्गको पार, जिन स्तुति करके स्वाध्याय करता हुआ कुछ समयके लिए विश्राम करे।

४२—वीसमंतो इमे चिंते, हियमट्ठं लाभमट्ठिओ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू हुज्जामि तारिओ ॥
द० ५।१।९४

निर्जरारूपी लाभका इच्छुक साधु विश्राम करता हुआ अपने कल्याणके लिए इस प्रकार चिंतन करे कि यदि कोई साधु मुझ पर अनुग्रह करे—मेरे आहारमें से कुछ आहार ग्रहण करे तो मैं इस संसार-समुद्रसे पार हो जाऊं।

४३—साहवो तो चियत्तेणं, निमंतिज्ज जहक्कमं।
जइ तत्थ केइ इच्छिज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥
द० ५।१ : ९५

इस प्रकार विचार कर मुनि सब साधुओंको प्रीतिपूर्वक यथ क्रमसे निमन्त्रण करे। यदि उनमेंसे कोई साधु आहार करना चाहे तो उनके साथ आहार करे।

४४—अह कोइ न इच्छिज्जा, तओ भुंजिज्ज एक्कओ।
आलोए भायणे साहू, जयं अप्परिसाडियं ॥
द० ५।१ : ९६

इस प्रकार निमन्त्रण करने पर यदि कोई साधु आहार लेना न चाहे तो फिर वह साधु अकेला ही चौडे मुखवाले प्रकाशयुक्त पात्रमें नीचे नही गिराता हुआ यतनापूर्वक आहार करे।

४५—तित्तगं व कडुअं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा।
एयलद्धमन्नट्ठपउत्तं , महुघयं व भुंजिज्ज संजए॥

द० ५।१ : ६७

गृहस्थके द्वारा अपने लिए बनाया हुआ तथा शास्त्रोक्त विधिसे मिला हुआ वह आहारादि तीखा, कड़वा, कसैला, खट्टा, मीठा या नमकीन चाहे जैसा भी हो साधु उस आहारको घी शक्करकी तरह प्रसन्नता पूर्वक खावे।

४६—अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादंते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुंजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥

उत्त० ३५ : १७

लोलुपता रहित, रसमें गृद्धि रहित, जिह्वा-इन्द्रियको दमन करने वाला और आहारके सग्रहकी मूर्च्छासे रहित महा मुनि रसके लिए—स्वादके लिए—आहार न करे परन्तु सयमके निर्वाहके लिए ही आहार करे।

४७—अरसं विरसं वा वि, सूइयं वा असूइयं।
उल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु कुम्मास भोयणं॥
उप्पण्णं नाइ हीलिज्जा, अप्पं वा बहु फासुयं।
मुहालद्धं मुहाजीवी, भुंजिज्जा दोसविज्जयं॥

द० ५।१ : ९८, ९९

शास्त्रोक्त विधिसे प्राप्त हुआ आहार चाहे रस रहित हो या विरस, बघार—छौंक दिया हुआ हो अथवा बघार रहित, गीला हो अथवा

सूखा, मथुका आहार हो या उड़दके बाकलोका, सरस आहार अल्प हो अथवा नीरस आहार बहुत हो, चाहे जैसा भी आहार हो साधु उसकी निन्दा न करे। वह निःस्पृहभावसे केवल संयम-यात्राके निर्वाहके लिए दाता द्वारा निःस्वार्थ भावसे दिए हुए प्रासुक आहारका दोष टाल कर भोजन करे।

४८—सुकडि त्ति सुपक्कि त्ति, सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुणिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ॥

उत्त० १ : ३६

मुनि भोजन करते समय ऐसे सावद्य वचन न कहे कि यह अच्छा किया हुआ है, अच्छा पकाया हुआ है, अच्छा काटा हुआ है, इसका कडवापन अच्छी तरह दूर किया हुआ—मारा हुआ—है, यह अच्छे मसालोसे बना हुआ है या मनोहर है।

४९—पडिग्गहं संलिहित्ताणं, लेवमायाए संजए।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डए ॥

द० ५ । २ : १

साधु पात्रमें लगे हुए लेपमात्रको भी—चाहे वह दुर्गंधयुक्त हो अथवा सुगंधयुक्त—अंगुलीसे पोंछकर सब खा जाय और कुछ न छोड़े।

५०—दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छन्ति सोग्गइं ॥

द० ५ । १ : १००

मुधादायी निश्चय ही दुर्लभ है और इसी तरह मुधाजीवी भी दुर्लभ है। मुधादायी और मुधाजीवी दोनो ही सुगतिको जाते हैं।

८ : गली गर्दभ

१—वहणे वहमाणस्स, कन्तारं अइवत्तइ।
जोए य वहमाणस्स, संसारे अइवत्तइ॥

वाहनमें जोड़े हुए विनीत वृषभ आदि को चलाता हुआ पुरुष अरण्यको सुखपूर्वक पार करता है, उसी तरह योग—संयम—यानमें जोड़े हुए सुशिष्योंको चलाता हुआ आचार्य इस संसारको सुखपूर्वक पार करता है।

२—खलुंके जो उ जोएइ, विहम्माणो किलिस्सइ।
असमाहिं च वेएइ, तोत्तओ से य भज्जइ॥

जो वाहनमें दुष्ट वृषभोंको जोतता है, वह उनको मारते-मारते क्लेश को प्राप्त होता है। वह असमाधिका अनुभव करता है। उसका तोत्रक—चाबुक तक टूट जाता है।

३—एगं डसइ पुच्छम्मि, एगं विन्धइऽभिक्खणं।
एगो भंजइ समिलं, एगो उप्पहपट्ठिओ॥

वह एक की पूछमें दंश देता है और दूसरे को बार-बार आरेसे बींधता है। (तो भी) एक जुएको तोड़ डालता है तो दूसरा उन्मार्ग की ओर दौड़ने लगता है।

४—एगो पडइ पासेणं, निवेसइ निवज्जइ।
उक्कुद्दइ उप्फिडइ, सढे वालगवी वए ॥

एक, एक बगल से जीमन पर गिर पडता है, बैठ जाता है, सो जाता है तो दूसरा शठ कूदता है, उछलता है और तरुण गायके पीछे दौड़ता है।

५—माई मुद्धेण पडइ, कुद्धे गच्छइ पडिपहं।
मयलक्खेण चिट्ठाइ, वेगेण य पहावइ ॥

एक वृषभ माया कर मस्तक से गिर पड़ता है, तो दूसरा क्रोध-युक्त होकर उल्टा चलता है, एक मृतक की तरह पड़ जाता है तो दूसरा जोरसे दौड़ने लगता है।

६—छिन्नाले छिन्नई सल्लिं, दुद्दन्ते भञ्जई जुगं।
से वि य सुस्सुयाइत्ता, उज्जहित्ता पलायइ ॥

छिन्नाल वृषभ राशको छेदन कर देता है, दुर्दान्त जूए को तोड डालता है और सू सू कर वाहन को उजड़में ले भागता है।

७—खलुंका जारिसा जोज्जा, दुस्सीसा वि हु तारिसा।
जोइया धम्मजाणम्मि, भज्जन्ति धिइदुब्बला ॥
उत्त० २७ : २-८

यानमें दुष्ट वृषभो को जोतने पर जो हाल होता है वही हाल धर्मयानमें दु शिष्यो को जोड़नेसे होता है[1]। दुर्बल धृतिवाले शिष्य दुष्ट वृषभ की तरह धर्मच्युत होने की चेष्टा करते है।

८—अह सारही विचिन्तेइ, खलुंकेहिं समागओ।
किं मज्झ दुट्ठसीसेहिं, अप्पा मे अवसीयइ ॥

१—इस उपमाके विस्तारके लिए देखिये—उत० अ०२७ . ९-१४

जारिसा मम सीसा उ, तारिसा गलिगद्दहा।
गलिगद्दहे चइत्ताणं, दढं पगिण्हई तवं॥

उत्त० २७ : १५-१६

उन दुष्ट वृषभों द्वारा श्रम को प्राप्त हुआ सारथी जैसे सोचता है कि इन दुष्ट वृषभोंसे मुझे क्या प्रयोजन जिनके संसर्गसे मेरी आत्मा अवसाद—खेदको प्राप्त होती है उसी तरह धर्माचार्य सोचते है—जैसे गलि गर्दभ होते है वैसे ही ये मेरे दुर्बल दुष्ट शिष्य है। इनको छोड़ कर मैं तपको ग्रहण करता हू।

६—रमए पंडिए सासं, हयं भद्दं व वाहए।
बालं सम्मइ सासंतो, गलियस्सं व वाहए॥

उत्त० १ : ३७

पण्डितो को शासन करता हुआ गुरु उसी प्रकार आनन्दित होता है जिस प्रकार भद्र घोड़ेका शासन करनेवाला वाहक—चाबुक सवार। मूर्ख शिष्योंको शिक्षा करता हुआ गुरु उसी प्रकार कष्ट पाता है जिस प्रकार अडियल घोड़ेका वाहक—चाबुक सवार।

९ : समभाव

१—ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोतविसयमागया।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

शब्द श्रोतेन्द्रियका विषय है। कानमें पड़े हुए शब्दो को न सुनना शक्य नही। भिक्षु कानमें पड़े हुए शब्दोमें राग द्वेष का परित्याग करे।

२—ण सक्का रूवमद्दट्ठुं, चक्खु विसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

रूप चक्षुका विषय है। आखोके सामने आये हुए रूपको न देखना शक्य नही। भिक्षू आखोके सामने आए हुए रूपमें राग द्वेषका परित्याग करे।

३—ण सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

गध नाक का विषय है। नाकके समीप आई गधको न सूंघना शक्य नही। भिक्षु नाकके समीप आई हुई गधमे राग द्वेपका परित्याग करे।

४—ण सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

रस जिह्वा का विषय है। जिह्वा पर आए हुए रसका आस्वाद न लेना शक्य नहीं। भिक्षु जिह्वा पर आए हुए रसमें राग द्वेषका परित्याग करे।

५—ण सक्का फासमवेएउं, फासं विसयमागयं।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए॥

आ० २३ : १-५

स्पर्श शरीरका विषय है। स्पर्श विषयके उपस्थित होने पर उसका अनुभव न करना शक्य नहीं। स्पर्श विषयके उपस्थित होने पर भिक्षु उसमें राग द्वेषका परित्याग करे।

१० : मुनि और परिषह

१—सूरं मण्णइ अप्पाणं, जावं जेयं न पस्सई।
जुज्झंतं दढधम्माणं, सिसुपालो व महारहं॥

सू० १, ३-१ : १

कायर मनुष्य भी जब तक विजयी पुरुषको नही देखता तब तक अपनेको शूर मानता हैं परन्तु वास्तविक सग्रामके समय वह उसी तरह क्षोभको प्राप्त होता हैं जिस तरह युद्धमे प्रवृत्त दृढधर्मी महारथी कृष्णको देख कर शिशुपाल हुआ था।

२—पयाया सूरा रणसीसे, संगामम्मि उवट्ठिए।
माया पुत्तं न जाणाइ, जेएण परिविच्छए॥

सू० १, ३-१ : २

अपने को शूर माननेवाला पुरुष सग्रामके अग्र भागमें चला तो जाता हैं परन्तु जब युद्ध छिड जाता है और ऐसी घबड़ावट मचती हैं कि माता भी अपनी गोदसे गिरते हुए पुत्रकी सुध न रख सके तब शत्रुओके प्रहारसे क्षतविक्षत वह अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है।

३—एवं सेहे वि अप्पुट्ठे, भिक्खायरियाअकोविए।
सूरं मन्नइ अप्पाणं, जाव लूहं न सेवए॥

सू० १, ३-१ : ३

जैसे कायर पुरुष जब तक शत्रु—वीरोंसे घायल नहीं किया जाता

तभी तक शूर होता है, इसी तरह भिक्षाचर्यामे अनिपुण तथा परिषहोके द्वारा अस्पर्शित अभिनव प्रव्रजित साधु भी तभी तक अपनेको वीर मानता है जब तक रूक्ष संयमका सेवन नही करता।

४—जया हेमंतमासम्मि, सीयं फुसइ सव्वगं।
तत्थ मन्दा विसीयंति, रज्जहीणा व खत्तिया ॥

सू० १, ३-१ : ४

जब हेमत ऋतुके महीनोमें शीत सब अङ्गोंको स्पर्श करता है उस समय मन्द जीव उसी तरह विषादका अनुभव करते है, जिस तरह राज्य भ्रष्ट क्षत्रिय।

५—पुट्ठे गिम्हाहितावेणं, विमणे सुपिवासिए।
तत्थ मंदा विसीयंति, मच्छा अप्पोदए जहा ॥

सू० १, ३-१ : ५

ग्रीष्म ऋतुके अतितापसे पीड़ित होने पर जब अत्यन्त तृषाका अनुभव होता है उस समय अल्प पराक्रमी पुरुष उदास होकर उसी तरह विषाद को प्राप्त होते है जैसे थोडे जलमें मच्छलिया।

६—सया दत्तेसणा दुक्खा, जायणा दुप्पणोल्लिया।
कम्मत्ता दुब्भगा चेव, इच्चाहंसु पुढोजणा ॥

सू० १, ३।१ : ६

भिक्षु जीवनमें दी हुई वस्तु को ही लेना—यह दुःख सदा रहता है। याञ्चाका परिषह दुःसह्य होता है। साधारण मनुष्य कहते है कि ये भिक्षु कर्मका फल भोग रहे है और भाग्यहीन है।

७—एए सद्दे अचायन्ता, गामेसु नगरेसु वा।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, संगामम्मि व भीरुया ॥

सू० १, ३।१ : ७

ग्रामोमें या नगरोमे कहे जाते हुए इन मार्मशपूर्ण शब्दोको सहन नही कर सकते हुए मदमति जीव उसी प्रकार विषाद करते है जिस तरह भीरु मनुष्य सग्राममे ।

८—अप्पेगे खुधियं भिक्खुं सुणी डंसइ लूसए।
तत्थ मन्दा विसीयंति, तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥

सू० १, ३-१ : ८

भिक्षाके लिए निकले हुए क्षुधित साधुको जब कोई क्रूर प्राणी कुत्ता आदि काटता है तो उस समय मदमती पुरुष उसी तरह विषाद को प्राप्त होता है जिस तरह अग्निसे स्पर्श किए हुए प्राणी।

९—पुट्ठो य दंसमसगेहिं, तणफासमचाइया।
न मे दिट्ठे परे लोए, जइ परं मरणं सिया ॥

सू० १, ३-१ : १२

दश और मच्छडोसे काटा जाकर तथा तृणकी शय्याके रुक्ष स्पर्शको सहन नही कर सकता हुआ मदमति पुरुष यह भी सोचने लगता कि मैंने परलोक तो प्रत्यक्ष नही देखा है परन्तु इस कष्टसे मरण तो प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

१०—संतत्ता केसलोएण, बम्भचेरपराइया।
तत्थ मन्दा विसीयन्ति, मच्छा विट्ठा व केयणे ॥

सू० १, ३-१ : १३

केशलोचसे पीडित और ब्रह्मचर्य पालनमें हारे हुए मदमति पुरुप उसी तरह विषादका अनुभव करते है जिस तरह जालमे फँसी हुई मच्छली ।

११—आयदण्डसमायारे, मिच्छासंठियभावना।
हरिसप्पओसमावन्ना, केई लूसन्ति नारिया ॥

सू० १, ३।१ : १४

कई अनार्य पुरुष अपनी आत्माको दण्डका भागी बनाते हुए मिथ्यात्व की भावना में सुस्थित हो रागद्वेष पूर्वक साधुको पीड़ा पहुँचाते है।

१२—अप्पेगे पलियन्तेसिं, चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बन्धन्ति भिक्खुयं बाला, कसायवयणेहि य॥

सू० १, ३।१ : १५

कई अज्ञानी पुरुष, पर्यटन करते हुए सुव्रती साधुको यह 'चर है' 'चोर है' ऐसा कहते हुए रस्सी आदिसे बांधते है और कटु वचन से पीड़ित करते है।

१३—अप्पेगे पडिभासंति, पडिपंथियमागया।
पडियारगया एए, जे एए एव जीविणो॥

सू० १, ३-१ : ९

कोई सतोके द्वेषी मनुष्य साधुको देख कर कहते हैं कि भिक्षा माग कर इस तरह जीवन निर्वाह करने वाले ये लोग अपने पूर्वकृत पापका फल भोग रहे है।

१४—तत्थ दंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
नाईणं सरई बाले, इत्थी वा कुद्धगामिणि॥

सू० १, ३-१ : १६

अनार्य देशमें अनार्य पुरुष द्वारा लाठी मुक्का अथवा फलकके द्वारा पीटा जाता हुआ मन्दमति पुरुष उसी प्रकार अपने बन्धुबान्धवोको स्मरण करता है जिस तरह क्रोधवश घरसे निकलकर भागी हुई स्त्री।

१५—एए भो कसिणा फासा, फरुसा दुरहियासया।
हत्थी वा सरसंवित्ता, कीवावस गया गिहं॥

सू० १, ३-१ : १७

शिष्यो ! पूर्वोक्त सभी परिषह कष्टदायी और दुसह है। बाणोके प्रहार से घायल हुए हाथी की तरह कायर पुरुष इनसे घबरा कर फिर गृहवासमें चला जाता है।

१६—जहा संगामकालम्मि, पिट्ठओ भीरु वेहइ।
वलयं गहणं नूमं, को जाणइ पराजयं॥

सू० १, ३-३ : १

जैसे युद्धके समय कायर पुरुष, यह शका करता हुआ कि किसकी विजय होगी, पीछेकी ओर ताकता है और गड्ढा, गहन और छिपा हुआ स्थान देखता है।

१७—एवं उ समणा एगे, अबलं नच्चाण अप्पगं।
अणागयं भयं दिस्स, अवकप्पंतिमं सुयं॥

सू० १, ३-३ : ३

इसी प्रकार कई श्रमण अपनेको सयम पालन करनेमें अबल समझ कर तथा अनागत भयकी आशकासे व्याकरण तथा ज्योतिष आदि की शरण लेते हैं।

१८—जे उ संगामकालम्मि, नाया सूरपुरंगमा।
नो ते पिट्ठमुवेहिंति, किं परं मरणं सिया॥

सू० १, ३-३ : ६

परन्तु जो पुरुष लड़नेमे प्रसिद्ध और शूरोमें अग्रगण्य होते हैं वे पीछेकी बात पर ध्यान नही देते हैं। वे समझते है कि मरण से भिन्न और क्या होगा ?

१९—कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं, पेमं नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कसं फासं, काएण अहियासए॥

द० ८ : २६

मुमुक्षु कानोंको प्रिय लगनेवाले शब्दोंसे प्रेम न करे तथा दारुण और कर्कश स्पर्शोंको कायासे समभावपूर्वक सहन करे।

२०—खुहं पिवासं दुस्सेज्जं, सीउण्हं अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ, देहदुक्खं महाफलं॥

दृ० ८ : २७

क्षुधा, प्यास, दुःशय्या, सर्दी, गर्मी, अरति, भय—इन सब कष्टोंको मुमुक्षु अदीनभावसे सहन करे। समभावसे सहन किए गये दैहिक कष्ट महाफलके हेतु होते हैं।

२१—न वि ता अहमेव लुप्पए, लुप्पन्ती लोगंसि पाणिणो।
एवं सहिएहि पासए, अनिहे से पुट्ठे हियासए॥

सू० १, २।१:१३

"मैं ही इन सब कष्टोंसे पीडित नहीं हूँ परन्तु दुनियामें अन्य भी पीडित हैं"—यह सोचकर ज्ञानी कष्ट पडने पर अम्लान मनमें सहन करे।

११ : स्नेह-पाश

१—अहिमे सुहुमा संगा, भिक्खूण जे दुरुत्तरा।
जत्थे एगे विसीयंति, ण चयंति जवित्तए॥

सू० १, ३-२ : १

बन्धु-बांधवोके स्नेह रूप उपसर्ग बड़े सूक्ष्म होते हैं। ये अनुकूल परिषह साधु पुरुषो द्वारा भी दुर्लंघ्य होते हैं। ऐसे सूक्ष्म—अनुकूल—परिषहोंके उपस्थित होने पर कई खेदखिन्न हो जाते हैं और सयमी जीवनके निर्वाहमें समर्थ नही रहते।

२—वत्थगंधमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं, आउसो! पूजयामु तं॥

सू० १, ३-२ : १७

हे आयुष्मान्! वस्त्र, गध, अलकार, स्त्रिया और शय्या इन भोगो को आप भोगें। हम आप की पूजा करते हैं।

३—जो तुमे नियमो चिण्णो, भिक्खुभावम्मि सुव्वया।
अगारमावसंतस्स, सव्वो संविज्जए तहा॥

सू० १, ३-२ : १८

हे सुन्दर व्रतवाले साधु! आपने जिन महाव्रत आदि रूप नियमोंका पालन किया है, वे सब गृहवास करने पर भी उसी तरह बने रहेंगे।

४—चिरं दूइज्जमाणस्स, दोसो दाणिं कुओ तव।
इच्चेव णं निमंतेन्ति, नीवारेण व सूयरं॥

सू० १, ३-२ : १६

हे मुनिवर! बहुत कालसे सयमपूर्वक विहार करते हुए आपको इस समय दोष कैसे लग सकता है? इस प्रकार भोग भोगनेका आमत्रण देकर लोग साधु को उसी तरह फँसा लेते है जैसे चावलके दानोसे सूअर को।

५—अचयंता व लूहेणं, उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मन्दा विसीयंति, उज्जाणंसि जरग्गवा॥

सू० १, ३-२ : २१

रुक्ष सयम पालन करनेमे असमर्थ और वाह्याभ्यन्तर तपस्या से भय पाते हुए मन्द पराक्रमी जीव सयम-मार्गमें उसी प्रकार क्लेश पाते है, जिस प्रकार ऊँचे मार्गमें बूढा बैल।

६—तत्थ मन्दा विसीयन्ति, वाहच्छिन्ना व गद्दभा।
पिट्ठओ परिसप्पन्ति, पिट्ठसप्पी य संभमे॥

सू० १,३-४ : ५

अनुकूल परिपह के उपस्थित होने पर मन्द पराक्रमी मनुष्य भारसे पीडित गदहेकी तरह खेदखिन्न होते है। जैसे अग्निके उपद्रव होने पर पृष्ठसर्पी भागनेवालोके पीछे रह जाता है, उसी तरह मूर्ख भी सयमियो की श्रेणीसे पीछे रह जाते है।

७—इच्चेव णं सुसेहन्ति, कालुणीयसमुट्ठिया।
विवद्धो नाइसंगेहिं, तओ गारं पहावइ॥

सू० १, ३-२ : ६

करुणासे भरे हुए बन्धुबान्धव एव राजादि साधुको उक्त रीति

से शिक्षा देते हैं। पश्चात् उन ज्ञातियोंके संग से बँधा हुआ पामर साधु प्रव्रज्या छोड़ घरकी ओर दौड़ता है।

८—जहा रुक्खं वणे जायं, मालुया पडिबंधइ।
एवं णं पडिबंधंति, नाइओ असमाहिणा॥
सू० १, ३-२ : १०

जैसे वनमें उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता घेर लेती है, उसी तरह असमाधि उत्पन्न कर ज्ञातिवर्ग साधु को बांध लेते हैं।

९—विबद्धो नाइसंगेहिं, हत्थी वा वि नवग्गहे।
पिट्ठओ परिसप्पंति, सुयगो व्व अदूरए॥
सू० १, ३-२ : ११

ज्ञातियोंके स्नेह-पाशमें बंधे हुए साधु की स्वजन उसी तरह चौकसी रखते हैं, जिस तरह नए पकड़े हुए हाथी की। जैसे नई ब्याई हुई गाय, अपने बच्छड़े से दूर नहीं हटती, उसी तरह परिवार वाले उसके पीछे २ चलते हैं।

१०—एए संगा मणूसाणं, पायाला व अतारिमा।
कीवा जत्थ य किस्संति, नाइसंगेहि मुच्छिया॥
सू० १, ३-२ : १२

यह माता-पिता आदिका स्नेह-सम्बन्ध, मनुष्योंके लिए उसी तरह दुस्तर है, जिस तरह अथाह समुद्र। इस स्नेहमें मूर्छित—आसक्त—शक्तिहीन पुरुष संसारमें क्लेश भोगते हैं।

११—तं च भिक्खू परिन्नाय, सव्वे संगा महासवा।
जीवियं नावकंखिज्जा, सोच्चा धम्ममणुत्तरं॥
सू० १, ३-२ : १३

साधु ज्ञाति-संसर्ग को संसारका कारण जानकर छोड़ देवे।

सर्व संग—सम्बन्ध-कर्मों के महान् प्रवेश द्वार हैं। सर्वोत्तम धर्मको सुन कर साधु असयम जीवनकी इच्छा न करे।

१२—अणुस्सुओ उरालेसु, जयमाणो परिव्वए।
चरियाए अप्पमत्तो, पुट्ठो तत्थ हियासए॥

सू० १, ६ : ३०

उदार भोगोके प्रति अनासक्त रहता हुआ मुमुक्षु, यत्नपूर्वक सयममें रमण करे। धर्मचर्चामे अप्रमादी हो और कष्ट आ पडने पर अदीन भावसे—हर्षपूर्वक सहन करे।

१३—अह णं वयमावन्नं, फासा उच्चावया फुसे।
न तेसु विणिहण्णेज्जा, वाएण व महागिरी

सू० १, ११ : ३७

जिस तरह महागिरी वायुके झोकेसे डोलायमान नही होता, उसी तरह व्रतप्रतिपन्न पुरुष सम-विषम, ऊँच-नीच, अनुकूल-प्रतिकूल परिषहोके स्पर्श करने पर धर्म-च्युत नही होता है।

१२ : स भिक्षुः स पूज्यः

१—निक्खम्ममाणाइ य बुद्धवयणे, निच्चं चित्तसमाहिओ हविज्जा।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे, वंतं नो पडिआयइ जे स भिक्खू ॥
द० १० : १

जो जिनपुरुषोके उपदेशसे निष्क्रमण कर—प्रव्रज्या ले—बुद्ध वचनो मे सदा चित्तसमाधिवाला होता है, जो स्त्रियोके वशीभूत नही होता और जो वमन किये हुए भोगोको पुन ग्रहण नही करता—वह सच्चा भिक्षु है।

२—चत्तारि वमे सया कसाए, धुवजोगी हविज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जायरूवरयए, गिहिजोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥
द० १० : ६

जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोका सदा परित्याग करता है, जो बुद्ध—तीर्थंकरोके वचनोमे ध्रुवयोगी—स्थिर श्रद्धावाला—होता है, जो चादी-सोना आदि किसी प्रकारका परिग्रह नही रखता और जो सदा गृहस्थोके साथ योग—स्नेह-सम्बन्धका परिवर्जन करता है—वह सच्चा भिक्षु है।

३—सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे, अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, मणवयकायसुसंवुडे जे स भिक्खू ॥
द० १० : ७

जो सम्यग् दृष्टि है, जो सदा अमूढ है—कर्त्तव्य विमूढ नही है, जो ज्ञान, तप और सयममें सदा विश्वासी है, जो मन, वचन और शरीरको अच्छी तरह सवृत कर रखनेवाला है, जो तप द्वारा पुराने पाप-कर्मोको धुन डालता है—नष्ट कर देता है वह सच्चा भिक्षु है।

४—न य वुग्गहियं कहं कहिज्जा, न य कुप्पे निहुइंदिए पसंते।
संजमे धुवं जोगेणजुत्ते, उवसंते अविहेडए जे स भिक्खू॥
द० १० : १०

जो कलह उत्पन्न करनेवाली कथा नही कहता, जो किसी पर क्रोध नही करता, जो इन्द्रियोको सदा वशमें रखता है, जो मनसे उपशान्त है, जो सयममें सदा ध्रुवयोगी—स्थिर मन है, जो कष्टके समय आकुल-व्याकुल नही होता और जिसकी कर्त्तव्यके प्रति उपेक्षा नही होती, वह सच्चा भिक्षु है।

५—असइं वोसट्ठचत्तदेहे, अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हविज्जा, अनियाणे अकोउहल्ले जे स भिक्खू
द० १० : १३

जो मुनि सदा त्यक्तदेह होता है, जो आक्रोश किये जाने, पीटे जाने या घायल किये जाने पर भी पृथ्वीके समान क्षमाशील होता है, जो निदान—फलकी कामना नही करता तथा जो नाच-गान आदि में उत्सुकता नही रखता वही सच्चा भिक्षु है।

६—अभिभूय काएण परीसहाइं, समुद्धरे जाइपहाउअप्पयं।
विइत्तु जाईमरणं महब्भयं, तवे रए सामणिए जे स भिक्खू॥
द० ११ : १४

जो शरीरसे परिषहोको जीतकर, जाति-पथ—विविध योनिरूप ससारसे अपनी आत्माका समुद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरणको

महाभयंकर जानकर सयम और तपमे रत रहता है वह सच्चा भिक्षु है ।

७ हत्थसंजए पायसंजए, वायसंजए संजए इंदिए ।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा, सुत्तत्थं च विआणइ जे स भिक्खू ॥
द० ११ : १५

जो हाथोसे सयत है, पैरोसे सयत है, वाणीसे संयत है, इन्द्रियोसे सयत है, जो आध्यात्ममें रत है, जो आत्मासे सुसमाधिस्थ है और सूत्रार्थको यथार्थ रूपसे जानता है वह सच्चा भिक्षु है ।

८—न जाइमत्ते न य रूवमत्ते, न लाभमत्ते न सुएणमत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता, धम्मज्झाण रए जे स भिक्खू ॥
द० ११ : १६

जो जातिका मद नही करता, रूपका मद नही करता, लाभका मद नही करता, श्रुत—ज्ञानका मद नहीं करता—इस प्रकार सब मदोको विवर्जन कर जो धर्मध्यानमे सदा रत रहता है वह सच्चा भिक्षु है ।

६—गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू, गिण्हाहि साहू गुणमुञ्चऽसाहू ।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं, जो रागदोसेहिं समो स पुज्जो ॥
द० ६ । ३ : ११

गुणोसे साधु होता है और अगुणोसे असाधु । सद्‌गुणोको ग्रहण करो और दुर्गुणोको छोड़ो । जो अपनी ही आत्मा द्वारा अपनी आत्माको जानकर राग और द्वेषमें समभाव रखता है वह पूज्य है ।

१०—सक्का सहेउं आसाइ कंटया, अओमया उच्छहया नरेणं ।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए, वईमए कण्णसरे स पुज्जो ॥
द० ६ । ३ : ६

उच्च कामनाकी आशासे मनुष्य लोहके तीक्ष्ण वाणोंको सहन रनेमें समर्थ हो सकता है किन्तु कानोमे वाणोंकी तरह चुभनेवाले ठोर वचन रूपी वाणोंको जो सहन कर लेता है वह पूज्य है ।

११—समावयंता वयणाभिघाया, कन्नं गया दुम्मणियं जणंति।
धम्मु त्ति किच्चा परमग्गसूरे, जिइंदिए जो सहई स पुज्जो ॥
द० ६ । ३ : ८

समूहरूपसे आते हुए कठोर वचन रूपी प्रहार कानमें पडते ही दौर्मनस्यभाव उत्पन्न कर देते हैं किन्तु 'क्षमा करना परम धर्म है' ऐसा मानकर जो इन्हे समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वह क्षमासूर और जितेन्द्रिय पुरुष पूज्य है ।

१२—संथारसिज्जासणभत्तपाणे, अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
जो एवमप्पाणभितोसएज्जा, संतोसपाहन्नरए स पुज्जो
द० ६ । ३ : ५

जो सस्तारक, शय्या, आसन और भोजन-पान आदिके अधिक मिलने पर भी अल्प इच्छावाला होता है और सतोषकी प्रधानता रखता है—इस प्रकार जो साधु अपनी आत्माको सदा तुष्ट रखता है—वह पूज्य है ।

१३ : मार्ग

छन्दंनिरोहेण उवेइ मोक्खं, आसे जहा सिक्खियवम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरेऽप्पमत्तो, तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं॥

उत्त० ४ : ८

स्वच्छन्दताके निरोधसे जीव उसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करता है जिस प्रकार शिक्षित कवचधारी घोड़ा युद्धमें विजय। अत. मुनि अप्रमत्त होकर रहे। ऐसा करनेसे पूर्व वर्षोके सचित कर्मोसे छुटकारा पाकर वह शीघ्र मोक्षको प्राप्त करता है।

मन्दा य फासा वहुलोहणिज्जा, तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं, मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं॥

उत्त० ४ : १२

बुद्धिको मन्द करनेवाले और बहुत लुभानेवाले स्पर्शोमें साधु अपने मनको न लगावे। क्रोधसे अपनी रक्षा करे, मानको टाले, कपटका सेवन न करे और लोभको छोड दे।

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं, अणेगरूवा समणं चरन्तं।
फासा फुसन्ति असमंजसं च, न तेसि भिक्खू मणसा पउस्से॥

उत्त० ४ : ११

वार वार मोह गुणको जीतकर चलनेवाले श्रमणको जीवनमें अनेक प्रकारके दु.खद यो स्पर्श स्पर्श करते है। भिक्षु उनके स्पर्श करने पर मनसे भी द्वेष न करे।

विजहित्तु पुव्वसंजोयं, न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा।
असिणेह सिणेहकरेहिं, दोसपओसेहिं मुच्चए भिक्खू॥
उत्त० ८ : २

पूर्व सयोगको छोड चुकने पर फिर किसी भी वस्तुमें स्नेह न करे। स्नेह—मोह करनेवालोके बीच जो नि:स्नेही—निर्मोही होता है, वह भिक्षु दोष प्रदोषोसे छुट जाता है।

दुपरिच्चया इमे कामा, नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह सन्ति सुव्वया साहू, जे तरन्ति अतरं वणिया वा॥
उत्त० ८ : ६

ये काम दुस्त्यज हैं। अधीर पुरुषो द्वारा सहज मे त्याज नही। सुव्रती साधु इन दुस्तर कामभोगोको उसी तरह तैर जाते है, जिस तरह वणिक् समुद्रको।

समणा मु एगे वयमाणा, पाणवहं मिया अयाणन्ता।
मन्दा नरयं गच्छन्ति, बाला पावियाहिं दिट्ठीहिं॥
उत्त० ८ : ७

'हम साधु हैं'—ऐसा कहनेवाले पर प्राणिवधमें पाप नही जानने वाले मृगके समान मन्दबुद्धि पुरुष अपनी पापपूर्ण दृष्टिसे नरक जाते है।

न हु पाणवहं अणुजाणे, मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवं आयरिएहिं अक्खायं, जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नत्तो॥
उत्त० ८ : ८

जिन आचार्योंने इस साधु-धर्मका कथन किया है, उन्होने कहा है कि प्राणिवधका अनुमोदन करनेवाला अवश्य ही कभी भी सर्व दु:खोसे नही छुट सकता।

इह जीवियं अणियमेत्ता, पब्भट्ठा समाहिजोएहिं ।
ते कामभोगरसगिद्धा, उववज्जन्ति आसुरे काए ॥

उत्त० ८ : १४

जो इस जीवनको वशमे न कर, समाधियोगसे परिभ्रष्ट होते हैं, वे कामभोग और रसमे गृद्ध जीव असुरकायमें उत्पन्न होते है ।

तत्तो वि य उव्वट्टित्ता, संसारं बहुं अणुपरियडन्ति ।
बहुकम्मलेवलित्ताणं, बोही होई सुदुल्लहा तेसिं ॥

उत्त० ८ : १५

वहासे भी निकल वे ससारमे बहु पर्यटन करते है । बहुत कर्मोके लेपसे लिप्त उन्हे पुन बोधिका पाना अत्यन्त दुर्लभ होता है ।

नारीसु नोवगिज्झेज्जा, इत्थी विप्पजहे अणगारे ।
धम्मं च पेसलं णच्चा, तत्थ ठविज्ज भिक्खु अप्पाणं ॥

उत्त० ८ : १६

अनगार स्त्रियोके ससर्गको छोडे और उनमें मूर्छित न हो । भिक्षु धर्मको सुन्दर जानकर उसमें अपनी आत्माको स्थापन करे ।

चत्तपुत्तकलत्तस्स, निव्वावारस्स भिक्खुणो ।
पियं न विज्जई किंचि, अप्पियं पि न विज्जई ॥

उ० ९ : १५

जो भिक्षु पुत्र-कलत्रको छोड़ चुका और जो व्यापारसे रहित है, उसके लिए कोई चीज प्रिय नहीं होती और न कोई अप्रिय होती है ।

बहुं खु मुणिणो भद्दं, अणगारस्स भिक्खुणो ।
सव्वओ विप्पमुक्कस्स, एगन्तमणुपस्सओ ॥

उ० ९ : १६

जो एकान्त रूपसे आत्म-गवेषी है, जो सर्व प्रकारसे बन्धनोसे मुक्त अणगार और भिक्षु है, उस मुनिको सदा ही भद्र—कल्याण—क्षेम है ।

अहिंस सच्चं च अतेणगं च, तत्तो य बंभं अपरिग्गहं च।
पडिवज्जिया पंच महव्वयाइं, चरिज्ज धम्मं जिणदेसियं विऊ ॥

उ० २१ : १२

विद्वान, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्म और परिग्रह इन पाच महाव्रतोको ग्रहण कर जिनोपदिष्ट धर्मका आचरण करे ।

सव्वेहि भूएहि दयाणुकंपी, खंतिक्खमे संजयबंभयारी।
सावज्जजोगं परिवज्जयंतो, चरेज्ज भिक्खू सुसमाहिइंदिए ॥

उ० २१ : १३

भिक्षु सर्व भूतोके प्रति दयानुकपी हो । वह क्षमाशील हो, सयमी हो, ब्रह्मचारी हो । सर्व सावद्य योगका वर्जन करता हुआ भिक्षु इन्द्रियोको अच्छी तरह दमन करता हुआ रहे ।

१४ : निस्पृहता

१—निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ॥

उत्त० १९ : ९०

अनगार निर्मम—ममता रहित, अहंकार रहित, बाह्य और अभ्यन्तर संग रहित तथा त्यक्तगौरव होता है। वह सर्वभूतों—त्रस और स्थावर प्राणियोंके प्रति समभाववाला होता है।

२—लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निन्दापसंसासु, समो माणावमाणओ॥

उत्त० १९ : ९१

अनगार लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान सबमें समभाववाला होता है।

३—गारवेसु कसाएसु, दंडसल्लभएसु य।
निअत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबंधणो॥

उत्त० १९ : ९२

अनगार गारव (ऋद्धि, रस, सुख का गर्व), कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ), दण्ड (मन, वचन, काया की दुष्प्रवृत्ति), शल्य (माया, निदान, मिथ्यात्व), भय और हर्ष-शोकसे निवृत्त होता है। वह फलकी कामना नहीं करता और बंधन रहित होता है।

४—अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ।
वासीचन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा॥
उत्त० १६ : ६३

वह इहलोकके (सुखो) की इच्छा नही करता, न परलोकके (सुखो) की इच्छा करता है। वसोलासे छेदा जाता हो या चदनसे लेपा जाता, आहार मिलता हो या न मिलता हो, वह समभाववाला होता है।

५—अप्पसत्थेहिं दारेहिं, सव्वओ पिहिआसवो।
अज्झप्पज्झाणजोगेहिं, पसत्थदमसासणो॥
उत्त० १६ : ६४

अनगार अप्रशस्त द्वार—कर्म आनेके हेतु—हिंसादिको चारो ओर से रोकर अनास्रव होता है तथा आध्यात्मिक ध्यानयोगसे प्रशस्त दम और शासनवाला होता है।

६—सुक्कज्झाणं झियाएज्जा, अनियाणे अकिंचणे।
वोसट्ठकाए विहरेज्जा, जाव कालस्स पज्जओ॥
उत्त० ३५ : १६

अनगार शक्ल ध्यान ध्याता रहे। जीवन-पर्यन्त फलकी कामना न करता हुआ अकिंचन और त्यक्तदेह होकर रहे।

७—एवं नाणेण चरणेण, दंसणेण तवेण य।
भावणाहि अ सुद्धाहिं, सम्मं भावित्तु अप्पयं॥
उत्त० १६ : ६५

निज्जूहिऊण आहारं, कालधम्मे उवट्ठिए।
जहिऊण माणुसं बोंदिं, पभू दुक्खे विमुच्चई॥
उत्त० ३५ : २०

अनगार इस तरह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और शुद्ध भावनासे आत्माको भावित करता हुआ कालधर्म—मृत्युके उपस्थिति होने पर आहारका परित्याग कर, इस मनुष्य शरीरको तज, विशेष सामर्थ्यवाला होता हुआ सर्व दुःखोसे मुक्त होता है।

८—निम्ममे निरहंकारे, वीयरागे अणासवे।
सपत्ते केवलं नाणं, सासयं परिणिव्वुए॥

उत्त० ३५ : २१

ममता रहित, अहकार रहित, आस्रव रहित वीतराग अनगार केवलज्ञानको प्राप्त कर हमेशाके लिए परिनिवृत्त होता—मुक्त होता है।

१५ : अनुस्रोत

१—अणुसोयसुहो लोओ, पडिसोओ आसवो सुविहिआणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥

दृ० चू० २ : ३

लोगोको अनुस्रोतमे—विषयोके साथ बहनेमे—ही सुख प्रतीत होता है । साधु पुरुषोका सयम प्रतिस्रोत है—विषयोसे अलग होना है । अनुस्रोत ससार-समुद्रमें बहना है । प्रतिस्रोत ससार-समुद्रसे पार होना है ।

२—अणुसोयपट्ठिय बहुजणम्मि, पडिसोय लद्ध लक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउ कामेणं ॥

दृ० चू० २ : २

बहुतसे मनुष्य अनुस्रोतगामी होते है, पर जिनका लक्ष्य किनारे पहुचना है, वे प्रतिस्रोतगामी होते है । जो ससार-समुद्रसे मुक्ति पानेकी इच्छा करते है,उन्हे अनुस्रोत—विषयपराड्मुखतामें आत्माको स्थिर करना चाहिए ।

३—जो पुव्वरत्तावररत्तकाले, संपेहए अप्पगमप्पएणं ।
कि मे कडं कि च मे किच्चसेसं, किं सक्कणिज्जं न समायरामि ॥
कि मे परो पासइ कि च अप्पा, किं वाऽहं खलियं न विवज्जयामि ।
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो, अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ॥

दृ० चू० २ : १२, १३

साधु रात्रिके प्रथम और पिछले पहरमें अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्माको देखे कि मैंने क्या-क्या करने योग्य कार्य किये हैं, क्या-क्या कार्य करने शेष हैं, वे कौन-कौनसे कार्य हैं, जिन्हे करनेकी शक्ति तो है किन्तु कर नही रहा हूं।

मुझे दूसरे कैसा पाते हैं, अपनी आत्मा मुझे कैसा पाती है, मैं अपनी किन-किन भूलोको नही छोड रहा हू।

इस प्रकार अपने आपको अच्छी तरह देखनेवाला भविष्यमें दोष नही लगाता।

४—जत्थेव पासे कइ दुप्पउत्तं, काएण वाया अदु माणसेणं।
तत्थेव धीरो पडिसाहरिज्जा, आइन्नओ खिप्पमिव क्खलीणं॥

द० चू० २ : १४

जब कभी अपने आपको मन, वचन, कायासे कही भी दुष्प्रवृत्त होते देखे तो धीर पुरुष, जैसे घोडेको लगामसे खीच लिया जाता है, उसी तरह उसी क्षण अपने आपको उस दुष्प्रवृत्तिसे हटा ले।

५—जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स, धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी, सो जीयई संजमजीविएणं॥

द० चू० २ : १५

जिस धृतिवान, जितेन्द्रिय सत्पुरुषके मन, वचन, कायाके योग इस प्रकार नित्य वशमें रहते हैं उसे ही लोकमें प्रति बुद्धजीवी—सदा जागृत—कहा जाता है। सत्पुरुष हमेशा संयमी जीवन जीता है।

६—अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो, सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खियो जाइपहं उवेइ, सुरक्खियो सव्वदुहाण मुच्चइ॥

द० चू० २ : १६

सर्व इंद्रियोंको अच्छी तरह वशमें कर आत्माकी (पापोंसे) अवश्य ही सतत् रक्षा करनी चाहिए। जो आत्मा सुरक्षित नहीं होती, वह जाति-पथमें—भिन्न-भिन्न योनियोंमें—जन्म-मरण ग्रहण करती है, जो आत्मा सुरक्षित होती है वह सर्व दुःखोंसे मुक्त हो जाती है।

१६ : अप्रमाद

१—असंखयं जीविय मा पमायए, जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एवं विजाणाहि जणे पमत्ते, कं नु विहिंसा अजया गहिंति ॥
उत्त० ४ : १

यह जीवन साधा नही जा सकता, अतः जरा भी प्रमाद मत करो। जराक्रान्तके लिए कोई शरण नही, ऐसा जानो। जो प्रमत्त, हिंसक और अजितेन्द्रिय हैं वे मरण-कालमें किसकी शरण ग्रहण करेंगे ?

२—सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी, न वीससे पण्डिए आसुपन्ने।
घोरा मुहुत्ता अवलं सरीरं, भारंडपक्खी व चरेऽपमत्ते ॥
उत्त० ४ : ६

पण्डित सोयेहुओमें जागृत रहे। वह एक क्षणका भी विश्वास न करे। मुहूर्त—काल निर्दय है और शरीर निर्बल। आशुप्रज्ञ पुरुष भारंडपक्षी[1] की तरह हमेशा अप्रमत्त रहे।

३—चरे पयाइं परिसंकमाणो, जं किंचि पासं इह मण्णमाणो।
लाभंतरे जीवियं वूहइत्ता, पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ॥
उत्त० ४ : ७

े भी पाप हैं, उन्हे पाश रूप मानता हुआ मनुष्य पद-पद पर डरता हुआ चले। जीवनसे धर्मरूपी लाभ दिखाई दे तब तक उसकी

१—इन पक्षियोके दो ग्रीवा और तीन टांगें होती हैं।

रक्षा करे फिर उसे त्याग कर कर्मरूपी मलका नाश करनेवाला हो।

४—स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा, एसोवमा सासयवाइयाणं।
विसीयई सिढ़िले आउयम्मि, कालोवणीए सरीरस्स भेए॥
उत्त० ४ : ६

'अब नही किया तो क्या ? आगे कर लेंगे'—यह तर्क शाश्वत-वादियों की है। जो पहले अप्रमादी नही होता वह पहलेकी तरह पीछे भी अप्रमादी नही होता। कालके आ पहुँचने पर जब शरीरका भेद होने लगता है तो शिथिल 'आयु—गात्रवाला वह केवल विषाद करता है।

५—खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं, तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे।
समिच्च लोयं समया महेसी, अप्पाणुरक्खी चरमप्पमत्तो॥
उत्त० ४ : १०

नर-जन्म बीत जानेके बाद प्राणी शीघ्र विवेक नही प्राप्त कर सकता। अतः कामभोगको छोड़, धर्मके लिए जागृत हो। महर्षि लोकके जीवोको समभावसे देखे और आत्माकी रक्षा करता हुआ अप्रमत्तभावसे चले।

६—जे संखया तुच्छ परप्पवाई, ते पिज्जदोसाणुगया परज्झा।
एए अहम्मे त्ति दुगंछमाणो, कंखे गुणे जाव सरीरभेओ॥
उत्त० ४ : १३

जो सस्कारहीन है, तुच्छ है, दूसरोंकी निन्दा करनेवाले है—ऐसे लाचार मनुष्य राग द्वेषसे युक्त है। इन अधर्मों—दुर्गणोंसे घृणा करता हुआ मुमुक्षु शरीर-भेद पर्यन्त सद्गुणोंकी आकांक्षा—आराधना करता रहे।

१७ : मुनि और चित्तसमाधि

१—जया य चयई धम्मं, अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले, आयइं नावबुज्झइ॥

द० चू० १ : १

जब अनार्य साधु, भोगलिप्सासे धर्मको छोडता है, उस समय कामभोगमें मूर्छित मूर्ख अपने भविष्य को नहीं समझता।

२—जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पइ॥

द० च० १ : ४

जब संयमी रहता है तब साधु पूज्य होता है, किन्तु संयमसे भ्रष्ट होने पर वह अपूज्य हो जाता है। राज्यच्युत राजाकी तरह वह पीछे अनुताप करता है।

३—देवलोगसमाणो य, परियाओ महेसिणं।
रयाणं अरयाणं च, महानरयसारिसो॥

द० चू० १ : १०

संयममें रत महर्षियोके लिए चरित्रपर्याय देवलोकके समान (सुखकारक) होती है। जिन्हे संयममें रति नही, उनके लिए वही चरित्रपर्याय महानरकके सदृश कष्टदायक होती है।

४—धम्माउ भट्ठं सिरिओ अवेयं, जन्नग्गिविज्झाअमिवप्पतेयं।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला, दाढुड्ढियं घोरविसं व नागं॥
द० चू० १ : १२

जिस तरह अल्पतेज बुझी हुई यज्ञाग्नि और उखड़े हुए दाढ़वाले विषधर सर्पकी हर कोई अवहेलना करते हैं, उसी तरह जो धर्मसे भ्रष्ट और चरित्र रूपी लक्ष्मीसे रहित होता है उस साधु की दुष्ट और कुशील भी निन्दा करते हैं।

५—इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती, दुन्नामधिज्जं च पिहुज्जणंमि।
चुयस्स धम्माउ अहम्मसेविणो, संभिन्नवित्तस्स य हिट्ठओ गई॥
द० चू० १ : १३

जो धर्मसे च्युत होता है और अधर्मका सेवन करता है उसका इस लोकमें साधारण लोगोमें भी दुर्नाम होता है। वह अधर्मी कहा जाकर अयश और अकीर्त्तिका पात्र बनता है। व्रत भंग करनेवालेकी परलोकमें अधम गति होती है।

६—भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा, तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं।
गइं च गच्छे अणभिज्झियंदुहं, बोही य से नो सुलहा पुणो पुणो॥
द० चू० १ : १४

संयमभ्रष्ट मनुष्य दत्तचित्तसे भोगोंको भोगकर तथा अनेक प्रकारके असंयमका सेवन कर दुःखद अनिष्ट गतिमें जाता है। बार-बार जन्म-मरण करने पर भी उसे बोधि सुलभ नहीं होती।

७—इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो, दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवमं झिज्झइ सागरोवमं, किमंग पुण मज्झ इमं मणोदुहं॥
द० चू० १ : १५

नरकमें गये हुए दुःखसे पीडित और निरन्तर क्लेशवृत्ति वाले जीवकी जब नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपमकी आयु भी समाप्त हो जाती है तो फिर मेरा यह मनो दु ख तो कितने कालका है ?

८—न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सइ,असासया भोगपिवास जंतुणो ।
न चे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ।।

द० चू० १ : १६

यह मेरा दु.ख चिरकाल तक नही रहेगा। जीवो की भोगपिपासा अशाश्वती है। यदि विषयतृष्णा इस शरीरसे न जायगी तो मेरे जीवनके अन्तमें तो अवश्य जायगी।

६—जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ,चइज्जदेहं न हु धम्मसासण।
तं तारिसं नो पइलंति इंदिया, उविंतवाया व सुदंसण गिरिं।।

द० चू० १ : १७

जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ़ होती है, वह देह को त्यज देता है पर धर्म-शासन को नही छोड़ता। इन्द्रियाँ—विषय सुख—ऐसे दृढ धर्मी मनुष्य को उसी तरह विचलित नही कर सकती जिस तरह महावायु सुदर्शन गिरि को।

१८ : निर्ग्रन्थ

१—पंचासव परिण्णाया, तिगुत्ता छसु संजया।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गंथा उज्जुदंसिणो॥

द० ३ : ११

निर्ग्रन्थ, पंचाश्रवको जाननेवाले, तीन गुप्तियोसे गुप्त, छ ही प्रकारके जीवोके प्रति सयमी, पांचो ही इन्द्रियोको निग्रह करनेवाले तथा धीर और ऋजुदर्शी होते है।

२—आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया॥

द० ३ : १२

सुसमाधिस्थ संयमी निर्ग्रन्थ, ग्रीष्मकालमें सूर्यकी आतापना लेते है, शीतकालमें अल्पाच्छन्न होते है, और वर्षामें प्रतिसंलीन—इन्द्रियो को वशमें कर अन्दर रहते है।

३—परीसहरिऊदंता, धूअमोहा जिइंदिया।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा, पक्कमंति महेसिणो॥

द० ३ : १३

महर्षि निर्ग्रन्थ, परिषहरूपी शत्रुओको जीतनेवाले, धुतमोह और जितेन्द्रिय होते है तथा सर्व दुःखोके नाशके लिए पराक्रम करते है।

४—दुक्कराइं करित्ताणं दुस्सहाइं सहित्तु य।
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झन्ति नीरया॥

द० ३ : १४

दुष्कर करनी कर और दुःसह कष्टोंको सहन कर कई देवलोकको जाते हैं और कई सम्पूर्णतः नीरज—कर्मरजसे रहित होते हैं।

५—खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडे॥

द० ३ : १५

छः कायके त्राता निर्ग्रन्थ, संयम और तप द्वारा पूर्व संचित कर्मोंका क्षय कर, सिद्धिमार्गको प्राप्त हो, परिनिवृत्त—मुक्त होते हैं।

६—तवोगुणपहाणस्स, उज्जुमइ खंतिसंजमरयस्स।
परीसहे जिणंतस्स, सुलहा सुगई तारिसगस्स॥

द० ४ : २७

जिसके जीवनमें तपरूपी गुणकी प्रधानता है, जो ऋजुमति है, जो क्षांति और संयममें लवलीन है, जो परिषहोंको जीतनेवाला है—ऐसे साधुके लिए सुगति सुलभ है।

७—सुहसायगस्स समणस्स, सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणा पहोयस्स, दुल्लहा सुगई तारिसगस्स॥

द० ४ : २६

जो श्रमण सुखका स्वादी होता है, साताके लिए आकुल होता है, जो अत्यन्त निद्राशील होता है और जो हाथ पैर आदि धोनेमें लगा रहता है—ऐसे साधुके लिए सुगति दुर्लभ है।

१९ : कौन संसार-भ्रमण नहीं करता ?

१—रागद्दोसे अ दो पावे, पावकम्मपवत्तणे।
जे भिक्खू रुंभइ निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ३

राग और द्वेष—ये दो पाप हैं, जो ज्ञानावरणीय आदि पाप कर्मोंके प्रवर्तक हैं। जो भिक्षु इन्हे रुंधता—रोकता है, वह ससारमे भ्रमण नही करता।

२—दंडाणं गारवाणं च, सल्लाणं च तियं तियं।
जे भिक्खू चयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ४

तीन दंड[1], तीन गौरव[2] तथा तीन शल्य[3]—इन तीन-तीनका जो भिक्षु नित्य त्याग करता है, वह ससारमें चक्कर नही काटता।

३—विगहाकसायसण्णाणं, झाणाणं च दुयं तहा।
जे भिक्खू वज्जई निच्चं, से न अच्छई मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : ६

१—मन दड, वचन दंड और काया दण्ड।

२—ऋद्धिका गर्व, रसका गर्व और साता—सुखका गर्व।

३—माया, निदान (फल-कामना), और मिथ्यात्व।

चार विकथा[४], चार कषाय[५], चार संज्ञा[६] और चार ध्यानमेंसे दो ध्यान[७]—जो भिक्षु इन्हे नित्य टालता है, वह ससारमे चक्कर नहीं काटता।

४—मएसु बंभगुत्तीसु, भिक्खुधम्मम्मि दसविहे।
जे भिक्खू जयई निच्चं, से न अच्छइ मंडले ॥

उत्त० अ० ३१ : १०

आठ प्रकारके मद[८] त्याग, ब्रह्मचर्यकी नो गुप्ती[९] और दश प्रकारके भिक्षु-धर्म[१०] के प्रति जो भिक्षु यत्न करता है—वह ससारमे चक्कर नही काटता।

४—राज कथा, देश कथा, भोजन कथा और स्त्री कथा।

५—क्रोध, मान, माया और लोभ।

६—आहार सज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन सज्ञा और परिग्रह सज्ञा।

७—आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान।

८—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, ऐश्वर्यमद, श्रुतमद, और लाभमद।

९—देखिये पीछे पृ०२३९-५०

१०—क्षांति, मार्दव, आर्जव, मुक्ति (निर्लोभता), तप, सयम, सत्य, शौच, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य।

२० : विनयी बनाम अविनयी

१—खड्डुया मे चवेडा मे, अक्कोसा य वहा य मे।
कल्लाणमणुसासन्तो, पावदिट्ठि त्ति मण्णइ ॥

उत्त० १ : ३८

पाप दृष्टि शिष्य गुरु द्वारा हितके लिए किए गए अनुशासनको इस प्रकार मानता है जैसे कोई ठोकरे मारता है, चपेटा मारता है, कोसता है और उसका वध करता है।

२—पुत्तो मे भाय णाइ त्ति, साहू कल्लाण मण्णइ।
पावदिट्ठि उ अप्पाणं, सासं दास त्ति मण्णइ ॥

उत्त० १ : ३९

विनीत शिष्य गुरुके अनुशासनको पुत्र, भ्राता और ज्ञाति जनोंको दिए गए शिक्षणके समान हितकारी मानता है और पापदृष्टि मूर्ख शिष्य उसी हितकारी अनुशासनको अपने लिए दासत्वकी शिक्षाके समान मानता है।

३—अणासवा थूलवया कुसीला, मिउं पि चण्डं पकरंति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया, पसायए ते हु दुरासयं पि ॥

उत्त० १ : १३

गुरुके वचनको न माननेवाले और विना विचारे बोलनेवाले कुशील शिष्य मृदु स्वभाववाले गुरुको भी क्रोधी कर देते है। गुरुके चित्तके

अनुसार चलनेवाले और थोड़े बोलनेवाले चतुर शिष्य अतिक्रोधी गुरु
ो भी अपने गुणोसे प्रसन्न कर लेते है ।

४—आणाणिद्देसकरे, गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने, से विणीए त्ति वुच्चई ॥
उत्त० १ : २

गुरुके आज्ञा और निर्देशका पालन करनेवाला, उसके समीप रहनेवाला तथा गुरुके इङ्गित और आकारको भली-भांति समझनेवाला शिष्य विनयी कहलाता है ।

५—आणाऽणिद्देसकरे, गुरूणमणुववायकारए।
पडिणीए असंबुद्धे, अविणीए त्ति वुच्चई ॥
उत्त० १ : ३

जो गुरुके आज्ञा और निर्देशका पालन करनेवाला नही होता, उसके समीप नही रहता तथा जो प्रतिकूल चलनेवाला और बोध रहित होता है, वह अविनयी कहलाता है ।

२१ : साधु-धर्म

१—मुसावायं बहिद्धं च, उग्गहं च अजाइया।
सत्थादाणाइ लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ९ : १०

झूठ बोलना, मैथन सेवन करना, परिग्रह रखना तथा विना दिया हुआ लेना—ये सब लोकमे शस्त्रके समान और कर्मबन्धनके कारण है। विद्वान् इन्हे जानकर इनका प्रत्याख्यान करे।

२—पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि या।
धूणादाणाइं लोगंसि, तं विज्जं परिजाणिया॥

सू० १, ९ : ११

माया और लोभ तथा क्रोध और मान, ससारमें कर्मबन्धनके कारण है। विज्ञ इनका त्याग करे।

३—अकुसीले सया भिक्खू, णेव संसग्गियं भए।
सुहरूवा तत्थुवस्सगा, पडिवुज्झेज्ज ते विऊ॥

सू० १, ९ : २८

भिक्षु स्वय सदा अकुशील होकर रहे। वह कुशील—दुराचारियो का ससर्ग न करे। कुशीलोकी सगतिमें सुखरूप—अनुकूल उपसर्ग—विघ्न रहता है—यह विद्वान् पुरुष जाने।

४—गिहे दीवमपासन्ता, पुरिसादाणिया नरा।
ते वीरा बन्धणुम्मुक्का, नावकंखन्ति जीवियं॥

सू० १, ६ : ३४

गृहमें ज्ञानरूपी दीपक न देख जो पुरुष प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं, वे बड़ेसे बड़े हो जाते है। ऐसे पुरुष बन्धनसे मुक्त होते है। वे वीर पुरुष असंयममय जीवनकी इच्छा नहीं करते।

५—नानारुइं च छन्दं च, परिवज्जेज्ज संजए।
अणट्ठा जे य सव्वत्था, इइ विज्जामणुसंचरे॥

उत्त० १८ : ३०

संयमी, नाना प्रकारकी रुचि, स्वच्छताएँ और सारी अनर्थकारी क्रियाओंको छोड़ कर विद्या—ज्ञानका अनुसरण करे।

६—विगिंच कम्मुणो हेउं, जसं संचिणु खंतिए।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं॥

उत्त० ३ : १३

परम दुर्लभ अङ्गोको रोकनेवाले कर्मोके हेतुओको दूर कर, क्षमा से संयमरूपी यशका संचय कर। ऐसा करनेसे जीव इस पार्थिव शरीरको छोड़ ऊर्ध्व दिशा—स्वर्ग या मोक्ष—को पाता है।

७—अइ माणं च मायं च, तं परिन्नाय पण्डिए।
सव्वमेयं निराकिच्चा, निव्वाणं संधए मुणी॥

सू० १, ११ : ३४

पण्डित मुनि अति मान और मायाको जानकर तथा इनको त्याग कर निर्वाण—मोक्षकी खोज करे।

८—संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं निराकरे।
उवहाणवीरिए भिक्खू, कोहं माणं न पत्थए॥

सू० १, ११ : ३५

भिक्षु क्षान्ति आदि साधु-धर्मकी वृद्धि करे। पाप धर्मका त्याग करे। तप करनेमें यथाशक्य पराक्रमी भिक्षु क्रोध और मानका वर्जन करे।

९—लद्धेकामे न पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए।
आयरियाइं सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया॥
सू १, ९ : ३२

कामभोग प्राप्त हों, तो भी उनकी कामना न करे। ज्ञानियोंने त्यागियोंके लिए ऐसा ही विवेक बतलाया है। वृद्ध पुरुषके समीप रह कर मुनि सदा सदाचार सीखे।

१०—अगिद्धे सद्दफासेसु, आरम्भेसु अणिस्सिए,
सव्वं तं समयातीतं, जमेयं लवियं बहु॥
सू० १, ९ : ३५

सत्य मार्गकी गवेषणा करनेवाले पुरुष, शब्द, स्पर्श प्रमुख विषयोंमें अनासक्त रहते हैं तथा छः कायकी हिंसावाले कार्योंमें प्रवृत्ति नहीं करते। जो सब बातें निषेध की गई हैं वे समय—जैन दर्शनसे विरुद्ध होनेके कारण निषेध की गई हैं।

२२ : समाधि

१—आदीणवित्तीव करेइ पावं, मंता उ एगंतसमाहिमाहु।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे, पाणाइवाया विरए ठियप्पा॥

सू० १, १० : ६

दीन वृत्तिवाला मनुष्य पाप कर्म करता है। मतिवान् पुरुषोने आहारादिके सम्बन्धमें भी एकान्त अदीन भाव रूप समाधिको ही ठीक बतलाया है। बुद्ध पुरुष समाधिमें रत रह कर विवेक पूर्वक प्राणातिपात से बचे और सत्यमें स्थिरात्मा बने।

२—न कम्मुणा कम्म खवेन्ति बाला, अकम्मुणाकम्म खवेंति धीरा।
मेहाविणो लोभभयावईया, संतोसिणो नो पकरेंति पावं॥

सू० १, १२ : १५

मिथ्यामति जीव सावद्य—पापानुष्ठानसे सचित कर्मोका क्षय नही कर सकता। धीर पुरुष सावद्यानुष्ठानसे विरत होकर पूर्व कर्मोका क्षय करता है। प्रज्ञावान पुरुष परिग्रह—लोभ भाव—से सम्पूर्ण विरहित हो, सन्तोषभाव धारण कर पाप कर्म नही करता।

३—डहरे य पाणे बुड्ढे य पाणे, ते अत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहई लोगमिणं महंतं, बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएजा॥

सू० १, १२ : १८

इस जगत्में छोटे शरीरवाले भी प्राणी है और बड़े शरीरवाले

भी। इन सबको—सारे जगत्‌को—आत्मवत् देखना चाहिए। इस लोक के सर्व प्राणियोको महान् देखता हुआ तत्त्वदर्शी पुरुष प्रमत्तोमे अप्रमत्त होकर चले।

४—ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति, भूयाहिसंकाइ दुगुंछमाणा।
सया जया विप्पणमंति धीरा, विण्णत्तिवीरा य भवंति एगे॥

सू० १, १२ : १७

पापोसे घृणा करनेवाले पुरुष, भूतोंके घातकी शंकासे कोई पाप नही करते और न करवाते है। कई ज्ञानमात्रसे वीर बनते है क्रियासे नही, परन्तु धीर पुरुष सदा सयममें पराक्रम करते है।

५—सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे, गंधेसु रसेसु अदुस्समाणे।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखी, आयाणगुत्ते वलया विमुक्के।

सू० १, १२ : २२

मनोहर शब्द और रूपमें आसक्त न होता हुआ, बुरे गन्ध और रसमें द्वेष न करता हुआ तथा जीने और मरणकी इच्छा न करता हुआ साधु सयमसे गुप्त और मायासे रहित होकर रहे।

६—न य संखयमाहु जीवियं, तह वि य वालजणो पगब्भई।
वाले पावेहि मिज्जई इइ, संखाय मुणी न मज्जई॥

१, २। २ : २१

यह जीवन सांधा नही जा सकता—ऐसा कहा गया है, तो भी मूर्ख प्राणी प्रगल्भतावश पाप करते रहते है। मूर्ख पापोसे ढक जाता है—यह जानकर मुनि मद न करे।

७—सउणी जह पंसुगुण्डिया, विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दवियोवहाणं कम्मं, खवइ तवस्सि माहणे॥

१, २-१-१५

जिस तरह धूलसे भरी हुई शकुनिका अपने शरीरमें लगी हुई धलको पंख हिला कर झाड़ देती है, उसी तरह तपस्वी माहन अनशन आदि तपसे अपने कर्मको झाड़ देते हैं।

२३ : निर्वाण मार्ग

१—अरइरइसहे पहीणसंथवे, विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई, छिन्नसोए अममे अकिंचणे॥
उत्त० २१ : २१

जो रति और अरतिको सहन करनेवाले हैं, जो गृहस्थके परिचय को नाश कर चुके, जो पापोसे विरत हे, आत्महित ही जिनका प्रधान लक्ष्य है, जो छिन्न स्त्रोत है तथा जो ममत्व रहित और अकिंचन है—वे ही परमार्थके पथ पर अवस्थित है।

२—सीओसिणा दंसमसाय फासा, आयंका विविहा फुसन्ति देहं।
अकुक्कुओ तत्थऽहियासएज्जा, रयाइं खेवेज्ज पुराकडाइं॥
उत्त० २१ : १८

सर्दी, गर्मी, दशमशक, कठोर तीक्ष्ण स्पर्श, तथा विविध आतंक आदि अनेक परिषह मनुष्य शरीरको स्पर्श करते है। साधु इन सबको विना किसी विकृतिके सहन करे। ऐसा करनेसे वह पूर्व संचित रजका क्षय करता है।

३—उवेहमाणो उ परिव्वएज्जा, पियमप्पियं सव्व तितिक्खएज्जा।
न सव्व सव्वत्थऽभिरोयइज्जा, न यावि पूयं गरहं च संजए॥
उत्त० २१ : १५

साधु विरोधियोकी उपेक्षा करता हुआ संयममें विचरण करे। प्रिय और अप्रिय सब सहन करे। जहा जो हो सबमें अभिरुचि न करे। न पूजा एवं गर्हाकी स्पृहा करे।

४—अणेग छन्दा मिह माणवेहिं, जे भावओ संपकरेइ भिक्खू।
भयभेरवा तत्थ उइन्ति भीमो, दिव्वा माणुस्सा अदुवा तिरिच्छा ॥
उत्त० २१ : १६

इस लोकमें मनुष्यके अनेक अभिप्राय होते है। यहा देवताओंके, मनुष्योके और तिर्यञ्चोंके अनेक भयकर भय उदयमे आते—उत्पन्न होते है। भिक्षु उन सबको समभावसे ले और सहन करे।

५—परीसहा दुव्विसहा अणेगे, सीयन्ति जत्था बहु कायरा नरा।
से तत्थ पत्ते न वहिज्ज पंडिए, संगामसीसे इव नागराया ॥
उत्त० २१ : १७

ऐसे अनेक दुःसह परिषह है, जिनके सम्मुख कायर पुरुष व्यथित हो जाते है। पर पण्डित उनके उपस्थित होने पर उसी तरह व्यथित नहीं होते, जिस तरह सग्रामके अग्र मुख पर रहा हुआ नागराज।

६—पहाय रागं च तहेव दोसं, मोहं च भिक्खू सययं वियक्खणो।
मेरु व्व वाएण अकम्पमाणो, परीसहे आयगुत्ते सहिज्जा ॥
उत्त० २१ : १६

विचक्षण भिक्षु, राग, द्वेष तथा मोहको सतत् छोड़े तथा जिस तरह मेरु वायुसे कम्पित नही होता है उसी तरह वह आत्मगुप्त परिषहोको अकम्पित भावसे सहन करे।

७—अणुन्नए नावणए महेसी, न यावि पूयं गरिहं च संजए।
से उज्जुभावं पडिवज्ज संजए, निव्वाणमग्गं विरए उवेइ ॥
उत्त० २१ : २०

जो न अभिमानी है और न दीनवृत्तिवाला है, जिसका पूजामें उन्नत भाव नही और न निन्दामे अवनत भाव है, वह ऋजुभावको प्राप्त सयमी महर्षि पापोसे विरत होकर निर्वाणमार्गको प्राप्त करता है।

२४ : जीवन सूत्र

(१) नव प्रव्रजितके लिए

गन्थं विहाय इह सिक्खमाणो, उट्ठाय सुबम्भचेरं वसेज्जा।
ओवायकारी विणयं सुसिक्खे, जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा॥

सू० १, १४ : १

आत्मार्थी इस संसारके स्वरूपको जान, आत्म-कल्याणके लिए उद्यत हो ग्रन्थ—धनधान्यादिका त्याग करे। (नव प्रव्रजित साधु) धर्म-शिक्षाका बोध पाता हुआ, ब्रह्मचर्यका अच्छी तरह पालन करे। वह गुरुकी आज्ञाका पालन करता हुआ विनय सीखे। निपुण साधु, कभी भी प्रमाद न करे।

सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि, अणासवे तेसु परिव्वएज्जा।
निद्दं च भिक्खू न पमाय कुज्जा, कहंकहं वा वितिगिच्छतिण्णे॥

सू० १, १४ : ६

मधुर या भयंकर शब्दोको सुन कर शिष्य उनमें राग-द्वेष रहित होकर विचरे। साधु निद्रा और प्रमाद न करे और हर उपायसे विचिकित्सा—मनकी डावाडोल स्थितिसे उत्तीर्ण हो।

डहरेण वुड्ढेणणुसासिए उ, राइणिएणावि समव्वएणं।
सम्मं तयं थिरओ नाभिगच्छे, निज्जन्तए वावि अपारए से॥

सू० १, १४ : ७

जो बालक या वृद्ध, बड़े या समवयस्क साधु द्वारा अनुशासित किये जाने पर—भूल सुधारके लिए कहे जाने पर—अपने को सम्यक् रूप से स्थिर नही करता है वह संसार प्रवाहमें वह जाता है और उसे पार नही पा सकता।

विउट्ठिएणं समयाणुसिट्ठे, डहरेण वुड्ढेण उ चोइए य।
अच्चुट्ठियाए घडदासिए वा, अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे॥
न तेसु कुज्झे न य पव्वहेज्जा, न यावि किंची फरुसं वएज्जा।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा, सेयं खु मेयं न पमाय कुज्जा॥
सू० १, १४ : ८, ९

परतीर्थिक आदि द्वारा, किसी दूसरे छोटे, बड़े या समवयस्क द्वारा, अत्यन्त हलका काम करने वाली दासी या घटदासी द्वारा अथवा गृहस्थ द्वारा भी समय—अर्हत दर्शन—की ओर अनुशासित—आकृष्ट—किया हुआ साधु उनपर क्रोध न करे और न उन्हें पीड़ित करे। वह उनके प्रति कटु शब्द न कहे। पर मैं अबसे ऐसा ही करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करे। वह यह सोचकर कि यह मेरे खुदके भलेके लिए है कभी प्रमाद न करे।

वणंसि मूढस्स जहा अमूढा, मग्गाणुसासन्ति हियं पयाणं।
तेणेव मज्झं इणमेव सेयं, जं मे वुहा समणुसासयन्ति॥
सू० १, १४ : १०

वन में दिग्मूढ़ मनुष्य को दिशा निर्देश करने वाला अमूढ़ मनुष्य जैसे उसका हित करता है, उसी तरह से मेरे लिए भी यह श्रेयस्कर है जो वृद्ध पुरुष मुझे शिक्षा देते हैं।

२ : उपदेशके लिए

संखाइ धम्मं च वियागरन्ति, बुद्धा हु ते अन्तकरा भवन्ति।
ते पारगा दोण्ह वि मोयणाए, संसोधियं पण्हमुदाहरन्ति॥
सू० १, १४ : १८

धर्म को अच्छी तरह जान कर जो बुद्ध पुरुष उपदेश देते हैं, वे ही सर्व संशयों का अन्त कर सकते हैं। अपनी और दूसरों की—दोनों की मुक्ति साधने वाले पारगामी पुरुष ही गूढ़ प्रश्नों को हल कर सकते हैं।

नो छायए नो वि य लूसएज्जा, माणं न सेवेज्ज पगासणं च।
न यावि पन्ने परिहास कुज्जा, न यासियावाय वियागरेज्जा॥
सू० १, १४ : १९

बुद्ध पुरुष सत्य को नहीं छिपाते, न उसका लोप करते हैं, वे मान नहीं करते, न अपनी बड़ाई करते हैं। बुद्धिमान होकर वे दूसरों का परिहास नहीं करते और न आशीर्वाद देते हैं।

भूयाभिसंकाइ दुगुञ्छमाणे, न निव्वहे मन्तपएण गोयं।
न किंचिमिच्छे मणुए पयासुं, असाहुधम्माणि न संवएज्जा॥
सू० १, १४ : २०

साधु प्राणियों के विनाश की शंका से सावद्य वचन से घृणा करता रहे। वह मन्त्रविद्या के द्वारा अपने गोत्र—संयम—को नष्ट न करे। प्रजा—लोगोंमें—धर्मोपदेश करता हुआ उनसे किसी चीज की चाह न करे तथा असाधुओं के धर्मका (वस्तुदान, तर्पण आदि का) उपदेश न दे।

हासं पि नो संधइ पावधम्मे. ओए तहियं फरुसं वियाणे।
नो तुच्छए नो य विकंथइज्जा, अणाइले या अकसाइ भिक्खू॥
सू० १, १४ : २१

साधु, हास्य उत्पन्न हो ऐसा शब्द या मन, वचन काया की चेष्टा न करे। तथ्य होने पर भी दूसरे को कठोर लगने वाले शब्द न कहे। तुच्छ न हो। विकथा न करे। वह लोभ और कषाय रहित हो।

संकेज्ज या संकिय भाव भिक्खू, विभज्जवायं च वियागरेज्जा।
भासादुयं धम्मसमुट्ठिएहि, वियागरेज्जा समयासुपन्ने॥
सू० १, १४ : २२

अर्थ आदि के विषय में शंका रहित भी भिक्षु सभल कर बोले। वह विभज्यवाद—स्याद्वादमय वचन बोले। धर्म में समुपस्थित मनुष्यों में रहता हुआ दो भाषा—सत्य भाषा और व्यवहार का प्रयोग करे। सुप्रज्ञ साधु समभाव से सबका धर्म कहे।

अणुगच्छमाणे वितहं विजाणे, तहा तहा साहु अकक्कसेण।
न कत्थई भास विहिंसइज्जा, निरुद्धगं वा वि न दीहइज्जा॥
सू० १, १४ : २३

कई साधु के अर्थ को ठीक समझ लेते है और कई उसे विपरीत समझ लेते है। साधु अकर्कश शब्दो से वस्तु तत्व समझावे। कठोर बात न कहे। प्रश्नकर्त्ताकी भाषा का उपहास न करे और न छोटे अर्थ को लम्बा करे।

अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा, जइज्जया नाइवेलं वएज्जा।
से दिट्ठिमं दिट्ठि न लूसएज्जा, से जाणइ भासिउं तं समाहिं॥
सू० १, १४ : २५

उपदेशक वृद्ध वचनों को अच्छी तरह सीखे। गूढार्थ जानने के लिए यत्न करे। मर्यादा उपरान्त न बोले। वह दृष्टिवान् ज्ञानियो की दृष्टिको दूषित न करे। ऐसा उपदेशक ही सच्ची भाव समाधिको कहना जानता है।

अलूसए नो पच्छन्नभासी, नो सुत्तमत्थं च करेज्ज ताई।
सत्थारभत्तो अणुवीइ वायं, सुयं च सम्मं पडिवाययन्ति॥
सू० १, १४ : २६

धीर भिक्षु सब सम्बन्धोको छोडकर सब प्रकारके दुःखोको सहन करता हुआ चारित्रमे सम्पूर्ण होता है। वह अगृद्ध और अप्रतिबध-विहारी होता है। वह प्राणियोको अभय देता हुआ विषयो में अनाकुल रहता है।

भारस्स जाआ मुणि भुञ्जएज्जा, कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा, संगामसीसे व परं दमेज्जा॥

सू० १, ७ : २६

मुनि संयम भारके निर्वाह के लिए आहार करे। वह पूर्व पापो के विनाशकी इच्छा करे। परिषह और उपसर्ग आ पडने पर धर्ममे ध्यान रक्खे। जैसे सुभट युद्धभूमिमें शत्रुको दमन करता है उसी तरह वह अपनी आत्माका दमन करे।

अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी, समागमं कंखइ अन्तगस्स।
निधूय कम्मं न पवञ्चुपेइ, अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि॥

सू० १, ७ : ३०

हनन किया जाता हुआ साधु छिलीजाती हुई लकड़ीकी तरह राग द्वेष रहित होता है। वह शान्त भावसे मृत्युकी प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार कर्म क्षय करने वाला साधु उसी प्रकार भव-प्रपञ्चमें नही पड़ता जिस प्रकार गाड़ी धुरा टूटने पर आगे नही चलती।

२५ : ब्रह्मचर्य और मुनि

१—अबंभचरियं घोरं, पमायं दुरहिट्ठियं ।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

द० ६ : १६

चरित्रको भग करनेवाली बातोसे सदा सशक रहनेवाला मुनि इस लोकमे प्रमादके घर, घोर दुष्परिणामवाले और असेव्य अब्रह्मचर्यका सेवन नही करते ।

२—मूलमेयमहम्मस्स, महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

द० ६ : १७

अब्रह्मचर्य अघर्मका मूल और महा दोषोकी जन्म-भूमि है । अत निर्ग्रन्थ मुनि सब प्रकारके मैथुन-ससर्गका त्याग करते है ।

३—जउ कुम्भे जोइउवगूढे, आसुभितत्ते नासमुवयाइ ।
एविस्थियाहिं अणगारा, संवासेण नासमुवयंति ॥

सू० १, ४ । १ : २६

जैसे अग्निके पास रखा हुआ लाहका घडा शीघ्र तप्त होकर नाशको प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियोके सहवाससे अनगारका सयम रूपी जीवन नाशको प्राप्त हो जाता है ।

४—कामं तु देवीहि विभूसियाहिं, न चाइया खोभइउं तिगुत्ता।
तहावि एगंतहियं ति नच्चा, विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥
उत्त० ३२ : १६

मन, वचन और कायासे गुप्त जिस परम संयमीको विभूपित देवाङ्गनाएँ भी कामसे विह्वल नही कर सकती ऐसे मुनिके लिए भी एकान्तवास ही हितकर जान स्त्री आदिसे रहित एकान्त स्थानमे निवास करना ही श्रेष्ठ है।

५—मणपल्हायजणणी, कामरागविवड्ढणी।
बंभचेररओ भिक्खू, थीकहं तु विवज्जए॥
उत्त० १६ श्लो० २

ब्रह्मचर्यमे अनुरक्त मुनि मनको चंचल करनेवाली और विषय रागको बढानेवाली स्त्री-कथा न करे।

६—समं च संथवं थीहिं, संकहं च अभिक्खणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥
उत्त० १६ श्लो० ३

स्त्रियोकी संगतिसे, उनके साथ परिचय बढानेसे और उनसे बार बार बातचीत करनेसे ब्रह्मचारी हमेशा बचे।

७—पणिअं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥
उत्त० १६ श्लो० ७

ब्रह्मचारी भिक्षु विषय विकारको शीघ्र बढानेवाले मसालेदार खान पानसे हमेशा दूर रहे।

८—धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजिज्जा, बंभचेररओ सया।
उत्त० १६ श्लो० ८

ब्रह्मचारी गोचरीमे धर्मानुसार प्राप्त आहार, जीवन यात्राके निर्वाहके लिए ही नियत समय और मित मात्रामें ग्रहण करे। वह कभी भी अति मात्रामें आहारका सेवन न करे।

९—विभूसा इत्थिसंसग्गो, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

द० ८ ५७

विभूषा, स्त्री-ससर्ग तथा प्रणीत रसदार भोजन आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विषकी तरह होता है।

१०—न रूवलावण्णविलासहासं, न जंपियं इंगिय पेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी॥

उत्त० ३२ : १४

तपस्वी श्रमण, स्त्रियोके रूप, लावण्य, विलास, हास, प्रिय भाषण, सकेत और कटाक्षपूर्ण दृष्टिपातको चित्तमें स्थान न दे और न स्त्रियो को देखनेकी अभिलाषा करे।

११—विभूसं परिवज्जिज्जा, सरीरपरिमंडणं।
बंभचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥

उत्त० १६ श्रो० ६

ब्रह्मचारी विभूषा और बनाव ठनावको छोड़ दे। वह वस्त्रादि कोई भी वस्तु शृगार—शोभा—के लिए धारण न करे।

१२—नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो।
मेहुणा उवसंतस्स, किं विभूसाइ कारियं॥

द० ६ : ६५

नग्न, मुण्ड, दीर्घरोम और नखवाले तथा मैथुनसे उपशात अनगारको विभूषासे क्या मतलब ?

२६ : अपरिग्रह और मुनि

१—लोहस्सेस अणुप्फासो, मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निही कामे, गिही पव्वइए न से ॥

द० ६ : १६

सग्रह करना लोभका अनुस्पर्श है। जो लवण, तेल, घी, गुड़ अथवा अन्य किसी भी वस्तुके सग्रहकी कामना करता है वह गृहस्थ है—साधु नही, ऐसा मै मानता हू ।

२—जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य ॥

द० ६ : २०

वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि जो भी है उन्हे मुनि सयम की रक्षाके लिए ही रखते और उपयोग करते है ।

३—सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नायरंति ममाइयं ॥

द० ६ : २२

बुद्ध पुरुष आवश्यक वस्तुओको एक मात्र सयमकी रक्षाके लिए ही रखते है। अधिक क्या—वे अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते ।

४—संनिहिं च न कुविज्जा, अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असंबद्धे, हविज्ज जगनिस्सिए॥

द० ८ : २४

संयमी मुनि अणुमात्र भी संग्रह न करे। वह मुधाजीवी, गृहस्थों से साथ असंबद्ध और जगत्के सर्व जीवोंको रक्षा करनेवाला हो।

५—लूहवित्ती सुसंतुट्ठे, अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छिज्जा, सुच्चाणं जिणसासणं॥

द० ८ : २५

भिक्षु रूक्षवृत्ति, सुसंतुष्ट, अल्प इच्छावाला और थोड़े आहारसे तृप्त होनेवाला हो। जिनशासन को सुन वह कभी असुरवृत्तिको धारण न करे।

६—अणुक्कसाई अप्पिच्छे, अण्णाएसी अलोलुए।
रसेसु नाणुगिज्झिज्जा, नाणुतप्पेज्ज पण्णवं॥

उत्त० २ : ३९

कषाय रहित, अल्पेच्छु, अज्ञातगोचरी करनेवाला, अलोलुप और प्रज्ञावान् साधु रसमें गृद्धिभाव न रखे और न दूसरोंके सत्कारको देख कर अनुताप करे।

७—वयं च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा॥

द० १ : ४

हम इस तरहसे भिक्षा प्राप्त करेंगे जिससे कि किसी जीवका हनन न हो। जिस तरहसे भ्रमर पुष्पोंके पास जाते और मधुसंचय करते हैं उसी तरह से गृहस्थोंके घर स्वतः बने आहारमें से हम थोड़ा ग्रहण करेंगे।

८—महुकारसमा बुद्धा, जे भवंति अणिस्सिया।
नाना पिण्डरया दंता, तेण वुच्चंति साहुणो॥

द १ : ५

बुद्ध पुरुष मधुकरके समान अनाश्रित होते हैं जो अनेक घरोसे थोड़ा-थोड़ा ग्रहण करनेमें संतुष्ट और जितेन्द्रिय होते हैं वे अपने इन्ही गुणोके कारण साधु कहलाते हैं।

२७ : महा शील

१—जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा, न हणे णो वि घायए ॥

द० ६ : १०

इस लोकमें जो भी त्रस और स्थावर प्राणी है, निर्ग्रंथ उन्हे जान या अजानमें न मारे और न मरावे।

सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥

द० ६ : ११

सभी जीव जीनेकी इच्छा करते है, कोई मरना नही चाहता। अत. निग्रंथ निर्दय प्राणिवधका सर्वथा त्याग करते है।

२—वितहं पि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ॥

द० ७ : ५

बाह्य रूपमें सत्य बोलनेवाला भी यदि यथार्थमें असत्यभाषा बोलता है, तो इससे भी वह मनुष्य पापसे स्पृष्ट होता है ; फिर जो जानबूझकर झूठ बोलता है, उसके पापबंध हो इसमें कहना ही क्या ?

३—आयाणं नरयं दिस्स, नायइज्ज तणामवि।
दोगुंछी अप्पणो पाए, दिण्णं भुंजिज्ज भोयणं ॥

उत्त० ६ : ८

बिना दी हुई वस्तुके ग्रहणमें नरक देखकर, तृणमात्र भी बिना दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए। पापसे घृणा करनेवाला मुनि गृहस्थो द्वारा अपने पात्रमें दिए हुए भोजनका आहार करे।

४—संगो एस मणुस्साणं, जाओ लोगम्मि इत्थिओ।
जस्स एया परिण्णाया, सुकडं तस्स सामण्णं॥
एअमादाय मेहावी, पंकभूआ उ इत्थीओ।
नो ताहिं विणिहणेज्जा, चरेज्जत्तगवेसए॥

उत्त० २ : १६, १७

इस लोकमें स्त्रियां मनुष्यके लिए सग—बन्धन रूप—है, जिसने यह जान लिया उसका श्रामण्य—साधुभाव—सुकृत है—सफल है।

स्त्रिया पक—कादे—के समान है, यह जानकर बुद्धिवान पुरुष अपने सयमको उनके द्वारा हनन न होने दे। मुनि सदा आत्म-गवेषणा में रत रहे।

५—संनिहिं च न कुविज्जा, लेवमायाइ संजए।
पक्खी पत्तं समादाय, निरविक्खो परिव्वए॥

उत्त० ६ : १६

सयमी मुनि लेश मात्र भी सचय न करे। पात्र रूपी पांखोको ले एक पक्षीकी तरह वह निरपेक्ष होकर विचरे।

हिरण्णं जायरूवं च, मणसाऽवि न पत्थए।
समलेट्ठुकंचणे भिक्खू, विरए कयविक्कए॥

उत्त० ३५ : १३

अनगार सोने-चादी आदि वस्तुओकी मनसे भी इच्छा न करे। लोष्ठ और काञ्चनको एक समान देखनेवाला भिक्षु क्रय-विक्रयसे विरत हो।

६—अहो निच्चं तवोकम्मं, सव्व बुद्धेहिं वण्णियं।
जाव लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयणं॥

द० ६ : २३

अहो! साधु पुरुषोंके लिए यह कैसा सुन्दर नित्य तपकर्म है जो उन्हें संयम निर्वाह भरके लिए और केवल दिनमें ही भोजन करना होता है। सब ज्ञानियोंने इस रात्रि भोजन विरमण रूप व्रतका वर्णन किया है।

संति मे सुहुमा पाणा, तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे॥

द० ६ : २४

संसारमें बहुतसे त्रस और स्थावर प्राणी इतने सूक्ष्म होते हैं कि साधु द्वारा रात्रिमें नहीं देखे जा सकते। फिर वह रात्रिमें किस प्रकार एषणीय—निर्दोष आहारको भोग सकेगा?

२८ : तितिक्षा

१—छुहा तण्हा य सीउण्हं, दंसमसगवेअणा।
अक्कोसा दुक्खसिज्जा य, तणफासा जल्लमेव य ॥
तालणा तज्जणा चेव, वहबंधपरिषहा।
दुक्खं भिक्खायरिया, जायणा य अलाभया[१] ॥
उत्त० १९ : ३२-३३

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दशमच्छरके डंक, आक्रोश—कटुवचन, दु:खदशय्या, तृणस्पर्श, मल, ताड़ना, तर्जना, वध, बन्धन, भिक्षाचर्या, याचना और अलाभ—ये सब परिषह दु:सह है।

२—दिगिंछा परिगए देहे, तवस्सी भिक्खू थामवं।
ण छिंदे ण छिंदावए, ण पए ण पयावए ॥
कालीपव्वंगसंकासे, किसे धमणिसंतए।
मायण्णे असणपाणस्स, अदीणमणसो चरे ॥
उत्त० २ : २-३

१—परिषह २२ माने जाते है। देखिये उत्त० अ० २। निम्न परिषह उपरोक्त गाथाओमें नही आए :—अचेलक परिषह, अरति परिषह स्त्री परिषह, नैषेधिकी, रोग परिषह, सत्कार-पुरस्कार परिषह, प्रज्ञापरिषह, अज्ञान परिषह, और दर्शन परिषह। इन गाथाओमें आए ताड़न, तर्जन, और बन्धन नामक परिषह उत्त० अ० २ में बताए गये २२ परिषहके उपरांत है।

शरीर क्षुधासे व्याप्त हो जाय, बाहु जघा आदि अग कौएकी जाघ के मध्य भागकी तरह पतले—कृश—हो जाय और शरीर नशोंसे व्याप्त दीखने लगे तो भी आहार पानीके प्रमाणको जाननेवाला भिक्षु मनोबल रखे और अदीन भावसे सयमका पालन करे। वह स्वय फलादिका छेदन न करे, न दूसरोसे करावे। न स्वयं अन्नादि पकावे, न दूसरोंसे पकवावे।

३—तओ पुट्ठो पिवासाए, दोगुंछी लज्जसंजए।
सीओदगं ण सेविज्जा, विअडस्सेसणं चरे॥
छिण्णावाएसु पंथेसु, आउरे सुपिवासिए।
परिसुक्कमुहेऽदीणे, तं तितिक्खे परिषहं॥

उत्त० २ : ४, ५

निर्जन पथमें अत्यन्त तृषासे आतुर—व्याकुल—हो जाने और जिह्वाके सूख जाने पर भी भिक्षु प्यासपरिषहको अदीन मनसे सहन करे। ऐसी तृषामे व्याप्त होने पर भी अनाचारसे भयभीत और संयममें लज्जाशील भिक्षु शीतोदकका सेवन न करे। विकृत—अचित्त—जलकी गवेषणा करे।

४—ण मे णिवारणं अत्थि, छवित्ताणं ण विज्जए।
अहं तु अग्गिं सेवामि, इइ भिक्खू ण चिंतए॥
उसिणप्परिआवेणं, परिदाहेण तज्जिए।
घिंसु वा परिआवेणं, सायं णो परिदेवए॥
उण्हाहितत्तो मेहावी, सिणाणं णो वि पत्थए।
गायं णो परिसिंचेज्जा, ण वीएज्जा य अप्पयं॥

उत्त० २ : ७, ८, ९

शीत निवारणके लिए मेरे घरादि नहीं तथा शरीरके त्राणके लिए

वस्त्रादि नहीं, अतः मैं अग्निका सेवन करूं—भिक्षु ऐसा कभी भी न सोचे।

ग्रीष्म ऋतु, बालू आदि उष्ण पदार्थोंके परिताप, अन्तरदाह और सूर्यके आताप द्वारा तर्जित साधु, मुझे वायु आदिका सुख कब होगा, ऐसी इच्छा न करे।

गर्मीसे परितप्त होने पर भी मेधावी भिक्षु स्नानकी इच्छा न करे। शरीरको जलादिसे न सीचे—और न पखी आदिसे जरा भी हवा ले।

५—पुट्ठो अ दंसमसएहिं, समरेव महामुणी।
णागो संगामसीसे वा, सूरो अभिहणे परं॥
ण संतसे ण वारिज्जा, मणं पि ण पओसए।
उवेह ण हणे पाणे, भुंजंते मंससोणिअं॥

उत्त० अ० २ : १०, ११

डास और मच्छरो द्वारा स्पृष्ट होने—पीड़ित किए जाने—पर भी महामुनि समभाव रखे। सग्रामके मोर्चे पर जिस तरह नाग शत्रु का हनन करता है, उसी तरह शूरवीर साधु राग-द्वेष रूपी शत्रुका हनन करे।

मुनि डास मच्छर आदिको भय उत्पन्न न करे, उन्हे दूर न हटावे और न मनमें भी उनके प्रति द्वेषभाव आने दे। मास और शोणितको खा रहे हो तो भी उपेक्षा करे और उन्हे न मारे।

६—अक्कोसिज्ज परो भिक्खु, न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होई वालाणं, तम्हा भिक्खू न संजले॥
सोच्चा णं फरुसा भासा, दारुणा गामकंटया।
तुसिणीओ उवेहिज्जा, न ताओ मणसी करे॥

उत्त० अ० २ : २४, २५

दूसरोंसे दुर्वचन द्वारा आक्रोश किए जाने पर—तिरस्कार किए जाने पर—भिक्षु उन पर कोप न करे। कोप करनेसे भिक्षु भी उस मूर्खके समान हो जाता है; अतः भिक्षु प्रज्वलित—कुपित न हो।

भिक्षु कानोंमें कांटोंके समान चुभनेवाली अत्यन्त कठोर भाषाको सुनने पर मौन रह उपेक्षा करे, और उसे मनमें स्थान न दे।

७—उच्चावयाहिं सिज्जाहिं, तवस्सी भिक्खु थामवं।
नाइवेलं विहण्णेज्जा, पावदिट्ठी विहण्णइ॥
पइरिक्कुवस्सयं लद्धुं, कल्लाणं अदुव पावगं।
किमेगराइं करिस्सइ, एवं तत्थ हिआसए॥

उत्त० २ : २२, २३

तपस्वी भिक्षु अच्छे-बुरे स्थानके मिलने पर उसे सह ले। समभाव रूपी मर्यादाका उल्लंघन कर संयमको घात न करे। पापदृष्टि भिक्षु संयम-रूपी मर्यादाका उल्लंघन कर देता है।

अच्छे हो या बुरे रिक्त उपाश्रयको पाकर भिक्षु यह विचार करता हुआ कि एक रातमें यह मेरा क्या कर लेगा, उसे समभावसे सहन करे।

८—किलिण्णगाए मेहावी, पंकेण व रएण वा।
घिंसु वा परितावेणं, सायं नो परिदेवए॥
वेएज्ज निज्जरापेही, आरियं धम्मणुत्तरं।
जाव सरीरभेओ त्ति, जल्लं काएण धारए॥

उत्त० २ : ३६, ३७

ग्रीष्मादिमें अति गरमीसे पसीनेके कारण शरीर मैल अथवा रजसे लिप्त हो जाय तोभी मेधावी साधु सुखके लिए दीनभाव न लावे। सर्वोत्तम आर्य धर्मको प्राप्त कर निर्जराका अर्थी भिक्षु इस परिषहको

सहन करे और शरीर छोड़ने तक मैलको शरीर पर समभावपूर्वक धारण करे।

९—हओ न संजले भिक्खू, मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा, भिक्खुधम्मं विचिंतए॥
समणं संजय दंतं, हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति, एवं पेहिज्ज संजए॥

उत्त० २ : २६, २७

मारे जाने पर साधु क्रोध न करे। मनमें भी द्वेष न लावे। तितिक्षा परम धर्म है, ऐसा सोचकर वह भिक्षुधर्मका चिंतन करे। यदि कोई कहीं पर संयत दमेन्द्रिय श्रमणको मारे तो वह संयमी भिक्षु इस प्रकार विचार करे कि जीवका कभी नाश नहीं होता।

१०—दुक्करं खलु भो निच्चं, अणगारस्स भिक्खुणो।
सव्वं से जाइअं होई, नत्थि किंपि अजाइअं॥
गोअरग्गपविट्ठस्स, पाणी नो सुप्पसारए।
सेओ अगारवासो त्ति, इइ भिक्खू न चिंतए॥

उत्त० २ : २८, २९

हे शिष्य! घर रहित भिक्षुके पास सब कुछ मांगा हुआ होता है। उसके पास कुछ भी अयाचित नहीं होता। निश्चय ही नित्य की याञ्चा दुष्कर है।

भिक्षाचरीके लिए गृहस्थके घरमें प्रविष्ट भिक्षुके लिए हाथका पसारना सहज नहीं होता, इससे 'गृहवास ही अच्छा है'—भिक्षु ऐसा चिंतन न करे।

११—परेसु घासमेसिज्जा, भोअणे परिणिट्ठिए।
लद्धे पिंडे अलद्धे वा, नाणुतप्पिज्ज संजए॥

अज्जेवाहं न लब्भामि, अवि लाभो सुवे सिआ।
जो एवं पडिसंचिक्खे, अलाभो तं न तज्जए॥

उत्त० २ : ३०, ३१

गृहस्थोंके घर भोजन तैयार हो जाने पर भिक्षु आहारकी गवेषणा करे। आहारके मिलन या न मिलने पर विवेकी भिक्षु हर्ष शोक न करे। 'आज मुझे नहीं मिला तो क्या ? कल मिलेगा'—जो भिक्षु इस प्रकार विचार करता है, उसे अलाभ परिषह कष्ट नहीं देता।

१२—परिजुण्णेहिं वत्थेहिं, होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा सचेलए होक्खं, इइ भिक्खु ण चिंतए॥
एगया अचेलए होइ, सचेले आवि एगया।
एअं धम्महिअं णच्चा, णाणी णो परिदेवए॥

उत्त० २ १२, १३

जीर्ण वस्त्रोंके कारण मैं अचेलक हो जाऊंगा अथवा मैं वस्त्र सहित सचेलक बनूंगा—भिक्षु ऐसा चिंतन—हर्ष-शोक—न करे। भिक्षु एकदा—कभी—अचेलक हो जाता है और कभी सचेलक। इन दोनों अवस्थाओंको धर्ममें हितकारी जानकर ज्ञानी मुनि चिंता न करे।

१३—णच्चा उप्पइअं दुक्खं, वेअणाए दुहट्टिए।
अदीणो ठावए पण्णं, पुट्ठो तत्थ हिआसए॥
तेगिच्छं नाभिणंदिज्जा, संचिक्खत्तगवेसए।
एअं खु तस्स सामण्णं, जं न कुज्जा न कारवे॥

उत्तराध्ययन अ० २ : ३२, ३३

रोगको उत्पन्न देखकर उसकी वेदनासे दुखार्त्त भिक्षु अदीनभाव से 'ये मेरे ही कर्मोंका फल हैं'—ऐसी प्रज्ञामें अपनेको स्थिर करे। रोग द्वारा आक्रांत होने पर उसे समभावपूर्वक सहन करे। आत्म

गवेषी भिक्षु चिकित्साकी अनुमोदना न करे। समाधिपूर्वक रहे। श्रमणका श्रमणत्व इसीमे है कि वह चिकित्सा न करे और न करावे।

१४—निरट्ठगम्मि विरओ, मेहुणाओ सुसंवुडो।
जो सक्खं नाभिजाणामि, धम्मं कल्लाण पावगं ॥
उत्त०२ : ४२

'मैंने निरर्थक ही मैथुन आदिसे निवृत्ति ली और इन्द्रियोको संवृत किया है, जो छद्मस्थभावको दूर कर साक्षात् कल्याण अथवा पाप कारी धर्मको नही जान सकता'—भिक्षु ऐसा विचार कभी भी न करे।

१५—से नूणं मए पुव्विं, कम्माऽनाणफला कडा।
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठो केणइ कण्हुई ॥
अह पच्छा उइज्जंति, कम्माऽनाणफला कडा।
एवमासासि अप्पाणं, नच्चा कम्मविवागयं ॥
उत्त० २ : ४०, ४१

कही पर किसीके द्वारा पूछे जाने पर जो मैं उसका उत्तर नही जानता—यह निश्चय ही पूर्वमें मैंने जो अज्ञान फलवाले कर्म किये है, उन्हीका फल है। 'अज्ञान फलके देनेवाले कृत कर्मोंका फल बादमें उदयमें आता है'—भिक्षु कर्मके विपाकको जानकर अपनी आत्माको इसी तरह आश्वासन दे।

१६—नारई सहई वीरे, वीरे न सहई रइं।
जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जई।
आ० १, २ । ६

अरइं पिट्ठओ किच्चा, विरए आयरक्खिए।
धम्मारामेणिरारंभे उवसंते मुणि चरे ॥
उत्त० २ : १५

वीर पुरुष धर्ममें उत्पन्न अरुचि भावको सहन नहीं करता और न असंयममें उत्पन्न रुचिभावको सहन करता है। वीर साधक जिस तरह धर्मके प्रति उदासीन वृत्तिवाला नहीं होता, उसी तरह वह अधर्म के प्रति रागवृत्तिवाला भी नहीं होता।

हिंसादिसे विरत, निरारम्भी, उपशांत और आत्मरक्षक मुनि, अरति—संयमके प्रति अरुचिभावको हटाकर धर्मरूपी उद्यानमें विचरे—रमण करे।

३ : दर्शन पद :

१ : सम्यक्त्व-सार

१—नत्थि लोए अलोए वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि लोए अलोए वा एवं सन्नं निवेसए॥

ऐसी सज्ञा—विश्वास—मत रक्खो कि लोक और अलोक नही है पर विश्वास रक्खो कि लोक और अलोक है।

२—नत्थि जीवा अजीवा वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि जीवा अजीवा वा एवं सन्नं निवेसए॥

ऐसी सज्ञा—विश्वास—मत रक्खो कि जीव और अजीव नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि जीव और अजीव है।

३—नत्थि पुण्णे व पावे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पुण्णे व पावे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि पुण्य और पाप नही है, पर विश्वास रक्खो कि पुण्य और पाप है।

४—नत्थि आसवे संवरे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि आसवे संवरे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि आश्रव और सवर नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि आश्रव और सवर है।

५—नत्थि वेयणा निज्जरा वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि वेयणा निज्जरा वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि वेदना कर्म-फल—और निर्जरा नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि कर्म-फल और निर्जरा है।

६—नत्थि बन्धे व मोक्खे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि बन्ध और मोक्ष नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि बन्ध और मोक्ष है।

७—नत्थि धम्मे अधम्मे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि धम्मे अधम्मे वा एवं सन्नं निवेसए॥

ऐसी संज्ञा मत रक्खो कि धर्म और अधर्म नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि धर्म और अधर्म है।

८—नत्थि किरिया अकिरिया वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि किरिया अकिरिया वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि क्रिया और अक्रिया नहीं है पर विश्वास रक्खो कि क्रिया और अक्रिया है।

९—नत्थि कोहे व माणे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि कोहे व माणे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि क्रोध और मान नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि क्रोध और मान है।

१०—नत्थि माया व लोभे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि माया व लोभे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि माया और लोभ नहीं है, पर विश्वास रक्खो कि माया और लोभ है।

११—नत्थि पेज्जे व दोसे वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि पेज्जे व दोसे वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि राग और द्वेष नही है, पर विश्वास रक्खो कि राग और द्वेष है।

१२—नत्थि चाउरन्ते संसारे नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि चाउरन्ते संसारे एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि चार गति रूप संसार नही है, पर विश्वास रक्खो कि चार गति रूप संसार है।

१३—नत्थिसिद्धी असिद्धी वा नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी असिद्धी वा एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि मोक्ष और अमोक्ष नही है, पर विश्वास रक्खो कि मोक्ष और अमोक्ष है।

१४—नत्थि सिद्धी नियं ठाणं नेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि सिद्धी नियं ठाणं एवं सन्नं निवेसए॥

मत विश्वास रक्खो कि सिद्धि—सिद्धोका निर्दिष्ट—स्थान नही है, पर विश्वास रक्खो कि सिद्धि—सिद्धोका निर्दिष्ट स्थान—है।

१—सूत्रकृताग सूत्र श्रु० २ । ५: १२, १३, १६, १७, १८, १५, १४, १९, २०, २१, २२, २३, २५, २६

२ : लोक और द्रव्य

१—जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
अजीवदेसमागासे, अलोए से वियाहिए॥
उत्त० ३६ : २

आकाशके उस भागको, जिसमें जीव अजीव दोनो है, लोक कहा गया है और उस भागको, जहा केवल आकाश है और कोई जीव अजीव द्रव्य नहीं, उसे अलोक कहा गया है।

२—धम्मो अहम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं॥
उत्त० २८ : ७

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल ये पाच अजीव और छट्ठा जीव ये छ. द्रव्य है। यह लोक छ द्रव्यात्मक है, ऐसा ही श्रेष्ठ दर्शनके धारक जिन भगवान ने कहा है।

३—गुणाणमासओ दव्वं, एगदव्वस्सिया गुणा।
लक्खणं पज्जवाणं तु, उभओ अस्सिया भवे॥
उत्त० २८ : ६

गुण जिसके आश्रित होकर रहे—जो गुणोका आधार हो—उसे द्रव्य कहते है। किसी द्रव्यको आश्रय कर जो रहे वे गुण है तथा द्रव्य और गुण दोनोके आश्रित होना पर्यायका लक्षण है।

४—गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो।
भायणं सव्वदव्वाणं, नहं ओगाहलक्खणं॥
उत्त० २८ : ६

पदार्थोंकी गतिमें सहायक होना यह धर्मका लक्षण है, उनकी स्थितिमे सहायक होना यह अधर्म द्रव्यका लक्षण है और सर्व द्रव्योको अपनेमें अवकाश—स्थान देना—यह आकाशका लक्षण है।

५—वत्तणालक्खणो कालो, जीवो उवओगलक्खणो।
नाणेणं दंसणेणं च, सुहेण य दुहेण य॥
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरिअं उवओगो अ, एअं जीवस्स लक्खणं॥
उत्त० २८ : १०, ११

पदार्थोंके वर्तनमें सहायक होना यह काल का लक्षण है। जीवका लक्षण उपयोग है, जो ज्ञान, दर्शन, सुख और दुःखसे व्यक्त होता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये सब जीवके लक्षण हैं।

६—सद्दऽन्धार—उज्जोओ, पभा छायाऽऽतवो इ वा।
वण्ण-रस-गन्ध-फासा, पुग्गलाण तु लक्खणं॥
उत्त० २८ : १२

शब्द, अन्धकार, उद्योत—प्रकाश, प्रभा, छाया, धूप, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श ये पुद्गलके लक्षण हैं।

७—एगत्तं च पुहत्तं च, संखा संठाणमेव य।
संजोगा य विभागा य, पज्जवाणं तु लक्खणं॥
उत्त २८ · १३

एकत्व, पृथक्त्व, सख्या, सस्थान, सजोग और विभाग ये पर्यायोंके लक्षण हैं।

३ : अजीव

१—रूविणो चेवऽरूवी य, अजीवा दुविहा भवे।
अरूवी दसहा वुत्ता, रूविणो य चउव्विहा ॥

अजीव दो प्रकारके होते हैं—रूपी और अरूपी। अरूपी अजीव दस प्रकारके कहे गए हैं और रूपी अजीव चार प्रकार के।

२—धम्मत्थिकाए तद्देसे, तप्पएसे य आहिए।
अहम्मे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए ॥
आगासे तस्स देसे य, तप्पएसे य आहिए।
अद्धासमए चेव, अरूवी दसहा भवे ॥

उत्त० ३६ : ५,६

धर्मास्तिकाय समूची उसका देश और प्रदेश, अधर्मास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश,

आकाशास्तिकाय समूची, उसका देश और प्रदेश और अद्धा समय —काल ये सब मिलाकर अरूपी अजीवके दस भेद होते हैं।

३—खंधा य खन्ध देसा य, तप्पएसा तहेव य।
परमाणुणो य बोधव्वा, रूविणो य चउव्विहा ॥

३६ : १०

स्कध—समूची पुद्गलास्तिकाय, उसका देश, उसका प्रदेश और परमाणु ये रूपी अजीव पदार्थके चार भेद जानना।

४—धम्मो अहम्मो आगासं, दव्वं इक्किक्कमाहियं।
अणन्ताणि य दव्वाणि, कालो पुग्गलजन्तवो ॥

उत्त २८ : ८

धर्म, अधर्म, आकाश ये तीन द्रव्य एक-एक हैं। काल, पुद्गल और जीव ये तीन द्रव्य अनन्त हैं।

५—धम्माधम्मे य दोवेए, लोगमित्ता वियाहिया।
लोआलोए य आगासे, समए समयखेत्तिए ॥

उत्त० ३६ : ७

धर्म और अधर्म ये समूचे लोकमे व्याप्त है। आकाश लोक अलोक दोनोमें विस्तृत—फैला हुआ—है और समय समयक्षेत्रमे फैला हुआ है।

६—एगत्तेण पुहत्तेणं, खन्धा य परमाणुणो।
लोएगदेसे लोए य, भइयव्वा ते उ खेत्तओ ॥

उत्त० ३६ : ११

जब परमाणु एकत्रित होते है तो स्कध रूप होते है और अलग-अलग होते है तो परमाणु रूप। क्षेत्रकी अपेक्षासे परमाणु लोकके एक प्रदेश मात्रमे और स्कध एक प्रदेश या समूचे लोकमे व्याप्त है।

७—धम्माधम्मागासा, तिन्नि वि एए अणाइया।
अपज्जवसिया चेव, सव्वद्धं तु वियाहिया ॥

उत्त० ३६ : ८

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनो द्रव्य कालकी अपेक्षा अनादि और अनन्त है अर्थात् सदा काल शाश्वत है—ऐसा कहा गया है।

८—समए वि सन्तइं पप्प, एवमेव वियाहिए।
आएसं पप्प साईए, सपज्जवसिया वि य॥

उत्त० ३६ : ६

समय—काल—भी निरन्तर प्रवाहकी अपेक्षासे अनादि और अनन्त है परन्तु किसी कार्यकी अपेक्षासे सादि और अन्त सहित है।

९—संतइं पप्प तेऽणाई, अपज्जवसियावि य।
ठिइं पडुच्च साईया, सपज्जवसिया वि य॥

उत्त० ३६ : १२

प्रवाहकी अपेक्षासे पुद्गल अनादि और अनन्त है परन्तु रूपान्तर और स्थितिकी अपेक्षासे सादि और सांत है।

१०—असंख्यकालमुक्कोसं, एगो समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, ठिई ऐसा वियाहिया॥

उत्त० ३६ : १३

एक स्थानमें रहनेकी अपेक्षासे रूपी अजीव पुद्गलोंकी स्थिति कम से कम एक समय और अधिकसे अधिक असंख्यात कालकी बतलाई है।

११—अणंतकालमुक्कोसं, एगं समयं जहन्नयं।
अजीवाण य रूवीणं, अन्तरेयं वियाहियं॥

उत्त० ३६ : १४

अजीव रूपी पुद्गलोंके अलग-अलग होकर फिरसे मिलनेका अंतर कमसे-कम एक समय और अधिक-से-अधिक अनन्त काल कहा गया है।

१२—वण्णओ गंधओ चेव, रसओ फासओ तहा।
संठाणओ य विन्नेओ, परिणामो तेसि पंचहा॥

उत्त० ३६ : १५

वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श और संस्थान (आकार) इनकी अपेक्षासे पुद्गलोंके परिणाम—अवस्थान्तर भेद—पांच प्रकारके होते हैं।

४ : सिद्ध जीव

१—संसारत्था य सिद्धा य, दुविहा जीवा वियाहिया।
सिद्धाऽणेग विहा वुत्ता, तं मे कित्तयओ सुण॥

उत्त० ३६ : ४८

जीव दो तरहके बताए हैं— (१) संसारी और (२) सिद्ध। सिद्ध जीव अनेक प्रकारके कहे हैं। मैं उन्हे बतलाता हू सुनो।

२—इत्थी पुरिससिद्धा य, तहेव य नपुंसगा।
सलिंगे अन्नलिंगे य, गिहिलिंगे तहेव य॥
उक्कोसागाहणाए य, जहन्न मज्झिमाइ य।
उड्ढं अहे य तिरियं च, समुद्दम्मि जलम्मि य॥

उत्त० ३६ : ५०, ५१

स्त्री शरीरसे, पुरुष शरीरसे, नपुंसक शरीरसे, जैन साधुके वेशमें, अन्य दर्शनके साधुके वेशमें और गृहस्थके वेशमें सिद्ध हुए जीव—इस तरह सिद्ध जीव अनेक प्रकारके है। अधिकसे अधिक कदवाले, कमसे कम कदवाले और मध्यम कदवाले इस तरह सब शरीरवाले जीव सिद्ध हो सकते हैं और इसी तरह ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मनुष्यलोक आदि वाले जीव तीरछे लोकसे, समुद्र या अन्य जल-स्थानसे सिद्ध हो सकते हैं।

३—अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इहं बोन्दिं चइत्ता णं, तत्थ गन्तूण सिज्झई॥

उत्त० ३६ : ५६, ५७

सिद्ध इस लोकमें शरीर त्याग कर—यहीं पर सिद्ध होकर, स्वभाविक उर्ध्वगतिसे लोकके अग्रभाग पर जाकर स्थिर होते हैं—वहीं अटक जाते हैं। इससे आगे अलोकमें नहीं जा पाते।

४—तत्थ सिद्धा महाभागा, लोयग्गम्मि पइट्ठिया।
भवप्पवंचउ मुक्का, सिद्धिं वरगइं गया॥

उत्त० ३६ : ६४

महा भाग्यवंत सिद्ध पुरुष भव प्रपंचसे मुक्त हो, श्रेष्ठ सिद्धगति को पाकर लोकके अग्रभाग—अन्तिम छोर पर स्थिर होते हैं।

५—उस्सेहो जेस्स जो होइ, भवम्मि चरिमम्मि अ।
तिभागहीणा तत्तो य, सिद्धाणोगाहणा भवे॥

उत्त० ३६ : ६५

चरम भवमें जीवका जो कद—शरीर-ऊँचाई होती है, उसके तीन भागके एक भागको छोडकर जो ऊंचाई रहती है वही उस सिद्ध जीवका कद—ऊंचाई रहती है।

६—एगत्तेणं साईया, अपज्जवसिया वि य।
पुहत्तेण अणाईया, अपज्जवसिया वि य॥

उत्त० ३६ : ६६

एक जीवकी अपेक्षासे मोक्ष सादि और अंत रहित है। समूचे समुदायकी दृष्टिसे मोक्ष आदि और अंत रहित है।

७—अरूविणो जीवघणा, नाणदंसणसन्निया।
अउलं सुहंसंपत्ता, उवमा जस्स नत्थि उ॥

उत्त० ३६ : ६७

ये सिद्ध जीव अरूपी और जीवघन हैं। ज्ञान और दर्शन इनका स्वरूप हैं। जिसकी उपमा नहीं ऐसे अतुल सुखसे ये संयुक्त होते हैं।

८—लोएगदेसे ते सव्वे, नाणदंसणसन्निया।
संसारपारनित्थिण्णा, सिद्धिं वरगइं गया ॥

उत्त० ३६ : ६८

सर्व सिद्ध जीव लोकके एक देश—भाग विशेषमें वसते हैं। ये केवलज्ञान और केवलदर्शनमय स्वरूपवाले हैं। ये संसारको पारकर उत्तम सिद्ध नामा गतिको पहुंचते हैं।

५ : संसारी जीव

१—संसारत्था उ जे जीवा, दुविहा ते विआहिआ।
तसा य थावरा चेव, थावरा तिविहा तहिं॥
उत्त० ३६ : ६८

जो ससारी जीव है, वे दो प्रकारके कहे गए है—त्रस और स्थावर। स्थावर तीन प्रकारके है।

२—पुढवी आउजीवा य, तहेव य वणस्सई।
इच्चेते थावरा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे॥
उत्त० ३६ : ६९

पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव और वनस्पतिकायिक जीव—इस तरह स्थावर जीव तीन प्रकारके है, जिनके भेद मुझसे सुनो।

३—दुविहा पुढवी जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता , एवमेए दुहा पुणो॥
उत्त० ३६ : ७०

पृथ्वीकायिक जीव दो प्रकारके है—सूक्ष्म और बादर और इनमे से प्रत्येक पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो तरहके है।

किण्हा नीला य रुहिरा य, हालिद्दा सुक्किला तहा।
पण्डु पणगमट्टिआ, खरा छत्तीसई विहा॥
पुढवी य सक्करा वालुगा य, उवले सिला य लोणूसे।
अय तंब तउव सीसग रुप्प सुवण्णे य वइरे य॥
उत्त० ३६ : ७२, ७३

कृष्ण, नीली, लाल, पीली, श्वेत, पाडु तथा पनक मिट्टी—ये श्लक्षण—बादर कोमल पृथ्वीकायके सात भेद हैं। बादर खर—कठिन पृथ्वीकायके छतीस भेद हैं। यथा पृथ्वी, ककड़, वालु, उपल, शिला, लवण, खारी मिट्टी, लोह, तरुआ, ताम्बा, सीसा, चादी, सोना, वज्र आदि आदि। सूक्ष्म पृथ्वीकायजीव नाना भेदोसे रहित एक ही प्रकारके होते हैं।

४—दुविहा आउ जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥
उत्त० ३६ : ८४

अप्‌काय जीवोके सूक्ष्म बादर इस प्रकार दो भेद है। इन दोनोमें से प्रत्येकके फिर पर्याप्त अपर्याप्त ये दो भेद हैं।

बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिआ।
सुद्धोदए अ उस्से, हरतणू महिआहिमे ॥
उत्त० ३६ : ८५

जो बादर पर्याप्त अप्‌जीव है वे पाच प्रकारके कहे गए हैं—(१) मेघका जल, (२) ओस, (३) हरतनु (४) धुअर और (५) बर्फ। सूक्ष्म नाना भेदोसे रहित—एक प्रकारके होते हैं।

५—दुविहा वणस्सई जीवा, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो ॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, दुविहा ते विआहिआ।
साहारणसरीरा य, पत्तेगा य तहेव य ॥
पत्तेअसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिआ।
रुक्खा गुच्छा य गुम्मा य, लया वल्ली तणा तहा ॥

साहारणसरीरा उ, णेगहा ते पकित्तिआ।
आलूए मूलए चेव, सिंगवेरे तहेव य॥

उत्त० ३६ : ६२, ९३, ९४, ९८

वनस्पति जीव सूक्ष्म और बादर—इस तरह दो प्रकारके होते हैं। इनमेंसे प्रत्येक फिर पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो तरहके होते हैं।

जो बादर पर्याप्त हैं वे दो प्रकारके कहे गए हैं—(१) साधारण शरीरी और (२) प्रत्येक शरीरी

वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, तृण, वलय आदि इस तरह प्रत्येक शरीरी वनस्पति जीव अनेक प्रकारके कहे गए हैं।

साधारण शरीरी वनस्पति जीव भी अनेक प्रकारके कहे गए हैं—जैसे आलू, मूला, शृंगवेर और हरिली आदि।

६—तेउ वाऊ अ बोधव्वा, उराला य तसा तहा।
इच्चेते तसा तिविहा, तेसिं भेए सुणेह मे।

उत्त० ३६ : १०७

त्रस जीव तीन प्रकारके हैं—तेजस्, वायु और प्रधान त्रस। इनके उपभेद मुझसे सुनो।

७—दुविहा तेउ जीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, णेगहा ते पकित्तिआ।
अंगारे मुम्मुरे अगणी, अच्चि जाला तहेव य॥

उत्त० ३६ : १०८-९

तेजस्कायके जीव दो प्रकारके होते हैं—सूक्ष्म और बादर। पर्याप्त बादर तेजस्कायके जीव अनेक प्रकारके कहे गये हैं—अंगार, मुर्मुर, अग्नि, अर्चि, ज्वाला, उलका, विद्युत आदि। सूक्ष्म तेजस्जीव नाना भेदोसे रहित—एक ही प्रकारके—होते है।

८—दुविहा वाउजीवा उ, सुहुमा बायरा तहा।
पज्जत्तमपज्जत्ता, एवमेए दुहा पुणो॥
बायरा जे उ पज्जत्ता, पंचहा ते पकित्तिया।
उक्कलिया मंडलिया, घण गुंजा सुद्धवाया य॥

उत्त० ३६ : ११७-१८

वायु जीव दो प्रकारके है—सूक्ष्म और बादर। इनमेंसे प्रत्येक पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो प्रकारके होते है। पर्याप्त बादर वायुजीव—पाच प्रकारके कहे गये है—उत्कालिका, माडलिका, घन, गुजा, और शुद्ध वायु। सूक्ष्म वायुजीव नाना भेद रहित—एक प्रकारके है।

९—उराला य तसा जे उ, चउहा ते पकित्तिआ।
बेइंदिअ तेइंदिअ, चउरो पंचिदिया चेव॥

उत्त० ३६ : १२६

उदार त्रस जीव—चार प्रकारके कहे गये है—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय।

१०—बेइंदिआ उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥
किमिणो मंगला जेव, अलसा माइवाहया।
वासीमुहा य सिप्पीआ, संखा संखणया तहा॥

उत्त० ३६ : १२७-२८

त्रीन्द्रिय जीव दो प्रकारके कहे गए है—पर्याप्त और अपर्याप्त। अब उनके उपभेद मुझसे सुनो। कृमि, सुमगल, अलसिया, मातृवाहक—घुण, वासीमुख, सीप, शख, छोटे शख, पल्लक आदि—द्वीन्द्रिय—जीव अनेक प्रकार है।

११—तेइंदिया उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥
कुंथू पिपीलि उद्दंसा, उक्कलुद्देहिया तहा।
तणहारकट्ठहारा, मालुगा पत्तहारगा॥

उत्त० ३६ : १३६-३७,

त्रीन्द्रिय जीव—दो प्रकारके कहे गये हैं—पर्याप्त और अपर्याप्त। उनके प्रभेद मुझसे सुनो। कुंथु, चींटी, उद्दश, उपदेहिक, तृणहार, काष्ठहारक, मालुगा, पत्रहारक आदि अनेक तरहके त्रीन्द्रिय जीव हैं।

१२—चउरिंदिआ उ जे जीवा, दुविहा ते पकित्तिआ।
पज्जत्तमपज्जत्ता, तेसिं भेए सुणेह मे॥
अंधिआ पोत्तिआ चेव, मच्छिआ मसगा तहा।
भमरे कीडपयंगे अ, ढिंकुणे कुंकुणे तहा॥

उत्त० ३६ : १४५-४६

चतुरिन्द्रिय जीव पर्याप्त अपर्याप्त भेदसे दो प्रकारके कहे गये हैं। चतुरिन्द्रिय जीवके प्रकार मुझसे सुनो। अन्धिक, पौतिक मक्षिका, मशक, भ्रमर, कीट पतंग, ढिंकण, कुंकण आदि अनेक तरह के चतुरिन्द्रिय जीव होते हैं।

१३—पंचेंदिआ उ जे जीवा, चउव्विहा ते वियाहिआ।
नेरइआ तिरिक्खा य, मणुआ देवा य आहिआ॥

उत्त० ३६ : १५५

पचेन्द्रिय जीव चार प्रकारके कहे गये हैं—(१) नैरयिक, (२) तिर्यक् (३) मनुष्य और (४) देव।

१४—नेरईआ सत्तविहा, पुढवीसु सत्तसू भवे।
रयणाभसक्कराभा, वालुआभा य आहिआ॥

पंकाभा धूमाभा, तमा तमतमा तहा।
इति नेरइआ एते, सत्तहा परिकित्तिआ ॥

उत्त० ३६ : १५६-७

नैरयिक जीव सात प्रकारके सात पृथ्वियोमे होते हैं। रत्नाभा, शर्कराभा, वालुकाभा, पंकाभा, धूमाभा, तमा, तमस्तमा—इन सात भेदोसे नैरयिक सात प्रकारके कहे गए हैं।

१५—पंचिंदिअतिरिक्खा उ, दुविहा ते वियाहिया।
सम्मुच्छिमतिरिक्खा य, गब्भवक्कंतिआ तहा ॥

उत्त० ३६ : १७०

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च दो प्रकारके कहे गये है—सम्मूच्छिम और गर्भव्युत्क्रान्त।

१६—मणुआ दुविहभेया उ, ते मे कित्तयओ सुण।
सम्मुच्छियम मणुस्सा य, गब्भवक्कंतिया तहा ॥

उत्त० ३६ : १९३

मनुष्योंके दो भेद है। मनुष्य सम्मूच्छिम और गर्भ व्युत्क्रान्त—दो तरहके होते है।

१७—देवा चउव्विहा वुत्ता, ते मे कित्तयओ सुण।
भोमेज्जवाणमंतर, जोइसवेमाणिआ तहा ॥

उत्त० ३६ : २०२

देव चार प्रकारके है, उनका वर्णन मुझसे सुनो। भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ये चार देवोंके भेद है।

६ : कर्मवाद*

१—नो इन्द्रियग्गेज्झ अमुत्तभावा, अमुत्तभावा वि य होइ निच्चो।
अज्झत्थहेउं निययस्स बंधो, संसारहेउं च वयंति बंधं॥

उत्त० १४ : १६

आत्मा अमूर्त है इसलिए वह इन्द्रियग्राह्य नही है। अमूर्त होने के कारण ही आत्मा नित्य है। अज्ञान आदि कारणोसे ही आत्माके कर्म-बन्धन है और कर्म-बन्धन ही ससारका कारण कहलाता है।

२—अट्ठ कम्माइं वोच्छामि, आणुपुव्विं जहाक्कमं।
जेहिं बद्धो अयं जीवो, संसारे परिवट्टई॥

उत्त० ३३ : १

जिन कर्मोसे बन्धा हुआ यह जीव ससारमें परिभ्रमण करता है, वे सख्यामें आठ है। मै यथाक्रम उनका वर्णन करूंगा।

३—नाणस्सावरणिज्जं, दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥

---

* कर्मका अर्थ साधारण तौर पर क्रिया किया जाता है। परन्तु यहा पर कर्मका अर्थ क्रिया नही है। जैन परिभाषामें, क्रियासे आत्म प्रदेशोंके साथ जिन पुद्गल-स्कन्धोका सम्बन्ध होता है, उन्हे कर्म कहते है। आत्माके साथ इस प्रकार बधे हुए जड कर्म भिन्न-भिन्न प्रकृति व स्वभावके होते है। स्वभावके भेदसे कर्मोंके ज्ञानावरणीय आदि आठ वर्ग होते है।

नामकम्मं च गोत्तं च, अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥
उत्त० ३३ : २, ३

(१) ज्ञानावरणीय (२) दर्शनावरणीय (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु कर्म (६) नाम कर्म (७) गोत्र कर्म और (८) अन्तराय कर्म—ये सक्षेपमें आठ कर्म* हैं।

४—सव्वजीवा ण कम्मं तु, संगहे छद्दिसागयं।
सव्वेसु वि पएसेसु, सव्वं सव्वेण बज्झगं॥
उत्त० ३३ : १८

सर्व जीव अपने आस-पास छवो दिशाओंमें रहे हुए कर्म पुद्गलो को ग्रहण करते हैं और आत्माके सर्व प्रदेशोंके साथ सर्व कर्मोंका सर्व प्रकारसे बधन होता है।

५—जमिणं जगई पुढो जगा, कम्मेहिं लुप्पन्ति पाणिणो।
सयमेव कडेहि गाहइ, नो तस्स मुच्चेज्जपुट्ठयं॥
सू० १, २। १ : ४

. इस जगत्में जो भी प्राणी हैं, वे अपने-अपने सचित कर्मोंसे ही ससार-भ्रमण करते हैं और स्वकृत कर्मोंके अनुसार ही भिन्न-भिन्न योनिया पाते हैं। फल भोगे विना उपार्जित कर्मोंसे प्राणीका छुटकारा नही होता।

६—अस्सिं च लोए अदु वा परत्था, सयग्गसो वा तह अन्नहा वा।
संसारमावन्न परं परं ते, बंधंति वेयंति य दुन्नियाणि॥
सू० १, ७ : ४

* इन आठ कर्मोंके अथके लिए देखिए प्रकरणके अन्तमें क्रमशः टिप्पणी न० १ से ८

इसी जन्ममें अथवा पर जन्ममें कर्म फल देते हैं। किए हुए कर्म एक जन्ममें अथवा सहस्त्रों—अनेक भवोंमें भी फल देते हैं। जिस प्रकार से कर्म किए गए हैं उसी तरहसे अथवा दूसरी तरहसे भी फल देते हैं। संसारमें चक्र काटता हुआ जीव कर्म वश बड़ेसे बड़ा दुख भोगता है और फिर आर्त्त ध्यान कर नये कर्मको बांधता है। बांधे हुए कर्मोंका फल दुर्निवार्य है।

७—कामेहि य संथवेहि गिद्धा, कम्मसहा कालेण जन्तवो।
ताले जह बन्धणच्चुए, एवं आयुक्खयम्मि तुट्टई॥
सू० १: २। १ : ६

जिस तरह बन्धनसे मुक्त हुआ ताल फल भूमि पर गिर पड़ता है उसी तरह समय पाकर आयु शेष हो जाती है और कामभोग तथा सम्बन्धियोंमें आसक्त प्राणी अपने कर्मोंका फल भोगता है।

८—सव्वे सयकम्मकप्पिया, अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिण्डन्ति भयाउला सढा, जाइजरामरणेहिभिद्दुया॥
सू० १, २। ३ : १८

सर्व प्राणी अपने कर्मोंके अनुसार ही पृथक्-पृथक् योनियोंमें व्यवस्थित हैं। कर्मोंकी अधीनताके कारण अव्यक्त दुःखसे दुखित प्राणी जन्म, जरा और मरणसे सदा भयभीत रहते हुए चार गति रूप संसार-चक्रमें भटकते हैं।

९—तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए, सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इहं च लोए, कडाण कम्माण न मुक्खुअत्थि॥
उत्त० ४ : ३

जैसे पापी चोर खातके मुंह पर पकड़ा जाकर अपने कर्मोंके कारण ही दुःख उठाता है उसी तरहसे इस लोक या परलोकमें कर्मोंके फल

भोगने ही पडते हैं। फल भोगे विना संचित कर्मोसे छुटकारा नहीं हो सकता।

१०—तम्हा एएसिं कम्माणं, अणुभागा वियाणिया।
एएसिं संवरे चेव, खवणे य जए बुहो॥
उत्त० ३३ : २५

अत इन कर्मोके अनुभाग—फल देनेकी शक्तिको समझकर बुद्धिमान पुरुष नये कर्मोके सचयको रोकनेमे तथा पुराने कर्मोके क्षय करने मे सदा यत्नवान रहे।

११—रागो य दोसो वि य कम्मवीयं, कम्मंच मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥
उत्त० ३२ : ७

राग और द्वेष ये दोनो कर्मके वीज है—कर्म मोहसे उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियोका कथन है। कर्म जन्म-मरणका मूल है और जन्म-मरणको दु खकी परम्परा कहा है।

१२—सुक्कमूले जहा रुक्खे, सिंचमाणे ण रोहति
एवं कम्मा ण रोहंति मोहणिज्जे खयं गए
दशाश्रुत स्कंध ५ : १४

जिस तरह मूल सूख जानेसे सीचने पर भी वृक्ष लहलहाता-हरा भरा नही होता है, इसी तरहसे मोह कर्मके क्षय हो जाने पर पुन कर्म उत्पन्न नही होते।

१३—जहा दड्ढाणं वीयाणं, ण जायंति पुणअंकुरा
कम्म वीएसु दड्ढेसु, न जायंति भवंकुरा
दशाश्रुत स्कंध ५ : १५

जिस तरह दग्ध बीजोमे से पुन. अकुर प्रगट नही होते, उसी तरह

से कर्म-रूपी बीजोंके दग्ध हो जानेसे भव-अङ्कुर उत्पन्न नहीं होते हैं।

१४—जह जीवा बज्झंति मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति
जह दुक्खाण अंतं करेंति केई अपडिबद्धा
औपपातिक सू० ३४

जैसे कई जीव कर्मोंसे बधते हैं, वैसे ही मुक्त भी होते हैं और जैसे कर्मोंके संचयसे महान कष्ट पाते हैं वैसे ही कर्मोंके क्षयसे दुःखोंका अन्त भी कर डालते हैं। अप्रतिबद्ध विहारी निर्ग्रन्थोंने ऐसा कहा है।

१५—अट्टदुहट्टियचित्ता जह जीवा दुक्खसागरमुवेंति
जह वेरग्गमुवगया कम्मसमुग्गं विहाडेंति
औपपातिक सू० ३४

जैसे आर्त-रौद्र ध्यानसे विकल चित्तवाले दुःखसागरको प्राप्त होते हैं, वैसे ही वैराग्यको प्राप्त हुए जीव कर्म-समूहको नष्ट कर डालते हैं।

१६—जह रागेण कडाणं कम्माणं पावगो फलविवागो
जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुवेंति
औपपातिक

जैसे राग (—द्वेष) द्वारा उपार्जित कर्मोंके फल बुरे होते हैं, वैसे ही सर्व कर्मोंके क्षयसे जीव सिद्ध होकर सिद्ध लोकको पहुचते हैं।

टिप्पणियाँ

१—आत्माकी ज्ञान शक्तिको प्रगट होनेसे रोके उसे ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं। ज्ञान पांच तरहके होते हैं। (१) इन्द्रिय व मनके सहारेसे जो ज्ञान होता है वह मति ज्ञान; (२) शास्त्रोंके अध्ययन व सुननेसे जो ज्ञान होता है व श्रुति ज्ञान; (३) किसी सीमाके अन्दरके पदार्थोंका इन्द्रिय आदिके सहारे बिना ही जो ज्ञान होता

है वह अवधि ज्ञान, (४) विना इन्द्रिय आदिकी सहायताके सज्ञी जीवोके मनोगत भावोका ज्ञान होना मन पर्यव ज्ञान, (५) पदार्थो का सम्पूर्ण ज्ञान केवल ज्ञान—इस तरह ज्ञानके पाच भेद होते है।

—दर्शन—आत्माकी देखनेकी शक्तिको रोकनेवाले कर्मको दर्शनावरणीय कर्म कहते है। निद्रा—सजग नीद, निद्रा निद्रा—कठिनाई से जागनेवाली नीद; प्रचला—बैठे-बैठे या खडे-खडे नीद आना; प्रचला-प्रचला—चलते फिरते नीदका आना; स्त्यानगृद्धि—दिनमे व रातमे विचारे हुए कामको नीदमें ही कर डालना। नीदके ये पाच भेद है। पाचो प्रकारके निद्रा भाव दर्शनावरणीय कर्मके उसी नामके उपभेदके उदयसे होते है। निद्राके भेदोके अनुसार ही इन उपभेदोके नाम निद्रा दर्शनावरणीय आदि कर्म है।

चक्षुदर्शन—आखके द्वारा पदार्थोका सामान्य बोध होना।

अचक्षुदर्शन—आख बिना त्वचा, कान, जिह्वा आदिसे पदार्थोका सामान्य बोध होना।

अवधि दर्शन—इन्द्रिय और मनके सहारे विना ही किसी खास सीमाके अन्दर रहे रूपी पदार्थोका सामान्य बोध।

केवल दर्शन—सम्पूर्ण पदार्थोका सामान्य बोध।

—वेदनीय कर्म—जिस कर्मसे सुख दु:खका अनुभव होता हो उसे वेदनीय कर्म कहते है। सुखात्मक व दु:खात्मक अनुभूतिके भेदसे यह कर्म साता वेदनीय व असाता वेदनीय दो प्रकारका होता है।

—मोहनीय कर्म—जो कर्म आत्माको मोह विह्वल करे, स्व-पर विवेकमें बाधा पहुचावे उसे मोहनीय कर्म कहते है। आत्माके सम्यक्त्व या चरित्र गुणकी घात करनेसे यह कर्म दर्शन व चरित्र मोहनीय दो तरहका होता है।

५—जो कर्म प्राणीकी जीवन-अवधि—आयुको निर्धारित करे उसे आयु कर्म कहते हैं। जीवकी नरकादि गतिके अनुसार आयु कर्मके चार भेद हैं।

६—जो कर्म प्राणीकी गति, शरीर, परिस्थिति आदिका निर्मायक हो उसे नाम कर्म कहते हैं। शुभ अशुभ भेदसे यह दो तरहका है।

७—गोत्र कर्म—वह कर्म है जो मनुष्यके ऊच नीच कुलका निर्धारण करे।

८—जो कर्म—दान, लाभ, भोग-उपभोग, पराक्रम—इन चार बातोंमे रुकावट डाले, उसे अन्तराय कर्म कहते है।

७ : मोक्ष मार्ग

[१]

१—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एस मग्गु त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वर दंसिहिं॥

उत्त० २८।२

वस्तु स्वरूपको जाननेवाले—परमदर्शी जिनोने ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस चतुष्टयको मोक्ष-मार्ग कहा है।

२—एयं पंचविहं नाणं, दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाण च सव्वेसिं, नाणं नाणीहि देसियं॥

उत्त० २८ : ५

सर्व द्रव्य, उनके सर्व गुण और उनकी सर्व पर्यायके यथार्थ ज्ञान को ही ज्ञानी भगवानने 'ज्ञान' कहा है। यह ज्ञान पाच[1] प्रकारसे होता है।

३—जीवाऽजीवा य बन्धो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव॥

उत्त० २८ : १४

(१) जीव, (२) अजीव, (३) बंध, (४) पुण्य, (५) पाप, (६) आश्रव, (७) सवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष—ये नौ तत्त्व—सत् पदार्थ है।

१—देखिए पृ० ४१४ टिप्पणी नं० १

४—तहियाणं तु भावाण, सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं॥
उत्त० २८ : १५

स्वय ही—अपने आप ही या उपदेशसे उपरोक्त सत् भूत तत्त्वो के अस्तित्वमें आन्तरिक श्रद्धा—विश्वास—होना—इसे ही सम्यकत्व कहा गया है।

५—परमत्थसंथवो वा, सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि।
वावन्नकुदंसणवज्जणा, य सम्मत्तसद्दहणा॥
उत्त० २८ : २८

परमार्थका सस्तव—परिचय, तत्त्वज्ञानी—जो परमार्थको अच्छी तरह पा चुके उनकी सेवा तथा सन्मार्ग-भ्रष्टता और कुदर्शनका वर्जन—ये ही सम्यकत्वकी श्रद्धा—सत्य श्रद्धानके लक्षण है।

६—निस्संकिय-निक्कंखिय, निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह-थिरीकरणे, वच्छल्लपभावणे अट्ठ॥
उत्त० २८ ३१

(१) नि.शका—(२) नि काक्षा, (३) निर्विचिकित्सा (४) अमूढदृष्टित्व (५) उपवृहण (६) स्थिरीकरण, (७) वात्सल्य भाव और (८) प्रभावना—ये आठ सच्ची श्रद्धावालेके आचार है।

७—नत्थिचरित्तं सम्मत्तविहूणं, दंसणे उ भइयव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं॥
उत्त० २८ : २९

सच्ची श्रद्धा विना चारित्र सभव नही है, श्रद्धा होनेसे ही चारित्र होता है। जहा सम्यकत्व और चारित्र युगपत्—एक साथ होते है वहा पहले सम्यकत्व होता है।

८—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥
उत्त० २८ : ३०

जिसके श्रद्धा नही है, उसके सच्चा ज्ञान नही होता और सच्चे ज्ञान विना चारित्रगुण नही होते और चारित्रगुणोके विना कर्म मुक्ति नही होती और कर्म-मुक्ति विना निर्वाण नही होता।

९—जहा सूई ससुत्ता, पडियावि न विणस्सई।
तहा जीवे ससुत्ते, संसारे न विणस्सइ॥
उत्त० २९ : ५९

जिस तरह सूतेमें पिरोई हुई सूई गिरने पर भी नहीं खोती, उसी प्रकार ज्ञानरूपी सूतेमें पिरोई हुई आत्मा ससारमें विनाशको प्राप्त नही होती।

१०—नाणेण जाणई भावे, दंसणेणं य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झइ॥
उत्त० २८ : ३५

ज्ञानसे जीव पदार्थोको जानता है, दर्शनसे श्रद्धा करता है, चारित्र से आस्रवका निरोध करता है और तपसे कर्मोको झाड कर शुद्ध होता है।

[२]

१—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य, एयं जीवस्स लक्खणं॥
उत्त० २८ : ११

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग—ये सब जीवके लक्षण है।

२—तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।
ओहिनाणं तु तइयं, मणनाणं च केवलं॥

उत्त० २८।४

ज्ञान पांच प्रकारका है. (१) श्रुत ज्ञान, (२) आभिनिबोधिक—मति ज्ञान, (३) अवधिज्ञान, (४) मन पर्यव ज्ञान और (५) केवल ज्ञान।

३—निसग्गुवएसरुई, आणारुई सुत्त-बीयरुइमेव।
अभिगम-वित्थाररुई, किरिया-संखेव-धम्मरुई॥

उ० २८ : १६

सम्यक्त्व दस प्रकारका है (१) निसर्ग रुचि, (२) उपदेश रुचि, (३) आज्ञा रुचि, (४) सूत्र रुचि (५) बीज रुचि, (६) अभिगम रुचि, (७) विस्तार रुचि, (८) क्रियारुचि, (९) संक्षेप-रुचि और (१) धर्मरुचि।

४—सामाइयत्थ पढमं, छेदोवट्ठावण भवे बीयं।
परिहारविसुद्धीयं, सुहुमं तह संपरायं च॥
अकसाय महक्खायं, छउमत्थस्स जिणस्सवा।
एयं चयरित्तकरं, चारित्तं होइ आहियं॥

उ० २८ : ३२, ३३

(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थानीय, (३) परिहार विशुद्धि, (४) सूक्ष्मसपराय तथा (५) कषाय रहित यथाख्यात चारित्र (जो छद्मस्थ या जिनको प्राप्त होता है) ये सब कर्मोंकी राशिको रिक्त—क्षय करनेवाले चारित्रके पांच भेद है।

५—तवो य दुविहो वुत्तो, बाहिरब्भंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो, एवमब्भंतरो तवो॥

उ० २८ : ३४

तप दो प्रकारका कहा गया है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप छ. प्रकारका है और आभ्यन्तर तप भी छ प्रकार का।

६—अणसणमूणोयरिया, भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य, बज्झो तवो होइ॥
उत्त० ३० : ८

अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचारी, रस-परित्याग, कायक्लेश और सलेपना—ये छ बाह्य तप है।

७—पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो॥
उत्त० ३० : ३०

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग—ये छ आभ्यन्तर तप हे।

८—नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥
उ० २८ : ३

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप—इस मार्गको प्राप्त हुए जीव सुगतिको जाते हे।

८ : सिद्धि-क्रम

१—जया जीवमजीवे य, दोऽवि एए वियाणइ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ॥

द० ४ : १४

जब मनुष्य जीव और अजीव—इन दोनोंको अच्छी तरह जान लेता है, तब सब जीवोंकी बहुविध गतियोंको भी जान लेता है।

२—जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणइ।
तया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ॥

द० ४ : १५

जब मनुष्य सर्व जीवोंकी बहुविध गतियोंको जान लेता है, तब पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको भी जान लेता है।

३—जया पुण्णं च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणइ।
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे॥

द० ४ : १६

जब मनुष्य पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षको जान लेता है, तब जो भी देवों और मनुष्योंके कामभोग हैं, उन्हे जानकर उनसे विरक्त हो जाता है।

४—जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे अ माणुसे।
तया चयइ संजोगं, सब्भिंतरबाहिरं॥

द० ४ : १७

जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगोंसे विरक्त हो जाता है, तब वह अन्दर और बाहरके संयोग—सम्बन्धोंको छोड़ देता है।

५—जया जयइ संजोगं, सब्भिन्तरबाहिरं।
तया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं॥

द० ४ : १८

जब मनुष्य बाहर और भीतरके सांसारिक सम्बन्धोंको छोड़ देता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्तिको धारण करता है।

६—जया मुण्डे भवित्ताणं, पव्वयइ अणगारियं।
तया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं॥

द० ४ : १९

जब मनुष्य मुण्ड हो अनगार वृत्तिको ग्रहण करता है, तब वह उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्मका स्पर्श करता है।

७—जया संवरमुक्किट्ठं, धम्मं फासे अणुत्तरं।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं॥

द० ४ : २०

जब मनुष्य उत्कृष्ट संयम और अनुत्तर धर्मका स्पर्श करता है, तब वह अज्ञानसे संचित की हुई कलुष कर्मरजको धुन डालता है।

८—जया धुणइ कम्मरयं, अबोहिकलुसं कडं।
तया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ॥

द० ४ : २१

जब मनुष्य अज्ञानसे संचित की हुई कलुष कर्मरजको धुन डालता है, तब सर्वगामी केवलज्ञान और केवलदर्शनको प्राप्त कर लेता है।

९—जया सव्वत्तगं नाणं, दंसणं चाभिगच्छइ।
तया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली॥
द० ४ : २२

जब मनुष्य सर्वगामी केवल ज्ञान और केवल दर्शनको प्राप्त कर लेता है, तब वह जिन केवली लोक-अलोकको जान लेता है।

१०—जया लोगमलोगं च, जिणो जाणइ केवली।
तया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ॥
द० ४ : २३

जब मनुष्य जिन केवली हो लोक अलोकको जान लेता है, तब योगोंका निरोध कर वह शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है।

११—जया जोगे निरुंभित्ता, सेलेसिं पडिवज्जइ।
तया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ॥
द० ४ : २४

जब मनुष्य योगोंका निरोध कर शैलेशी अवस्थाको प्राप्त करता है, तब कर्मोंका क्षय कर निरज सिद्धिको प्राप्त करता है।

१२—जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ।
तया लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ॥
द० ४ : २५

जब मनुष्य सर्व कर्मोंका क्षय कर निरज सिद्धिको प्राप्त करता है, तब वह लोकके मस्तक पर स्थित शाश्वत सिद्ध होता है।

१३—सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे॥
द० ४ : ११

जीव सुनकर कल्याणको जानता है और सुनकर ही पापको जानता है। पाप और कल्याण दोनों सुनकर ही जाने जाते हैं। सुन कर मनुष्य जो श्रेय हो उसका आचरण करे।

९ : अज्ञान क्षय-क्रम

१—ओयं चित्तं समादाय, झाण समुप्पज्जइ।
धम्मे ठिओ अविमाणो, निव्वाणमभिगच्छइ॥

द० श्रु० ५ : १

राग द्वेष रहित निर्मल चित्तवृत्तिको धारण करनेसे जीव धर्म ध्यानको प्राप्त करता है। जो शङ्का रहित मनसे धर्ममे स्थित होता है, वह निर्वाण-पदकी प्राप्ति करता है।

२—ण इमं चित्तं समादाय, भुज्जो लोयंसि जायइ।
अप्पणो उत्तमं ठाणं, सन्नि-णाणेण जाणइ॥

द० श्रु० ५ : २

इस प्रकार द्वेष रहित निर्मल चित्तको धारण करनेवाला मनुष्य इस लोकमें बार-बार जन्म नही लेता, वह सज्ञि-ज्ञानसे अपने उत्तम स्थानको जान लेता है।

३—अहातच्चं तु सुमिणं, खिप्पं पासेति संवुडे।
सव्वं वा ओहं तरति, दुक्ख-दोय विमुच्चइ॥

द० श्रु० ५ : ३

संवृतात्मा शीघ्र ही यथातथ्य स्वप्नको देखता है और सर्व प्रकार से संसाररूपी समुद्रसे पार हो, शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के दुःखसे छुट जाता है।

४—पंताइं भयमाणस्स, विवित्तं सयणासणं।
अप्पाहारस्स दंतस्स, देवा दंसति ताइणो॥

द० श्रु० ५ : ४

जो अन्त प्रान्त आहारका भोजन करनेवाला होता है, जो एकांत शयन आसनका सेवन करता है, जो अल्पाहारी और दांत-इन्द्रियोंको जीतनेवाला—होता है तथा जो षट्कायके जीवोंका त्राता होता है, उसे देव शीघ्र ही दर्शन देते है।

५—सव्व-काम-विरत्तस्स, खमणो भय-भेरवं।
तओ से ओही भवइ, संजयस्स तवस्सिणो॥

द० श्रु० ५ : ५

जो सर्वकामसे विरक्त होता है, जो भय-भैरवको सहन करता है, उस संयमी और तपस्वी मुनिके अवधिज्ञान उत्पन्न होता है।

६—तवसा अवहट्टूलेस्सस्स, दंसण परिसुज्झइ।
उड्ढं अहे तिरियं च, सव्वमणुपस्सत्ति॥

द० श्रु० ५ : ६

जो तपसे अशुभ लेश्याओंको दूर हटा देता है, उसका अवधिदर्शन विशुद्ध—निर्मल—हो जाता है और फिर वह ऊर्ध्वलोक अधोलोक और तिर्यक्लोकके जीवादि पदार्थोंको सब तरहसे देखने लगता है।

७—सुसमाहिएलेस्सस्स, अवितक्कस्स भिक्खुणो।
सव्वतो विप्पमुक्कस्स, आया जाणाइ पज्जावे॥

द० श्रु० ५ : ७

जो साधु भली प्रकार स्थापित शुभ लेश्याओंको धारण करने वाला होता है, जिसका चित्त तर्क-वितर्कसे चचल नहीं होता-इस तरह जो सर्व प्रकारसे विमुक्त होता है उसकी आत्मा मनके पर्यवोंको

जान लेती हैं—उसे मन.पर्यव ज्ञान उत्पन्न होता है।

८—जया से णाणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोगं च, जिणो जाणति केवली ॥

द० श्रु० ५ : ८

जिस समय उस मुनिका ज्ञानावरणीय कर्म सब प्रकारसे क्षय-गत हो जाता है, उस समय वह केवल ज्ञानी और जिन हो लोक-अलोकको जानने लगता है।

९—जया से दरसणावरणं, सव्वं होइ खयं गयं।
तओ लोगमलोगं च, जिणो पासति केवली ॥

द० श्रु० ५ : ९

जिस समय उस मुनिका दर्शनावरणीय कर्म सब प्रकारसे क्षय गत होता है, उस समय वह जिन और केवली हो लोक-अलोकको देखने लगता है।

१०—पडिमाए विसुद्धाए, मोहणिज्जं खयं गयं।
असेसं लोगमलोगं च, पासेति सुसमाहिए ॥

द० श्रु० ५ : १०

प्रतिज्ञाके विशुद्ध आराधनसे जब मोहनीय कर्म क्षय-गत होता है, तब सुसमाहित आत्मा अशेष—सम्पूर्ण—लोक और अलोकको देखने लगता है।

११—जहा मत्थय सूइए, हंताए हम्मइ तले।
एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गयं ॥

द० श्रु० ५ : ११

जिस तरह अग्रभाग पर छेदन करनेसे ताडका गुच्छ भूमि पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके क्षय-गत होनेसे सर्व कर्म

भी नष्ट हो जाते हैं।

१२—सेणावतिम्मि निहते जहा, सेणा पणस्सत्ति
एवं कम्माणि णस्संति, मोहणिज्जे खयं गयं।

द० श्रु० ५ : १२

जिस प्रकार सेनापतिके मारे जाने पर सारी सेना नाशको प्राप्त होती है, उसी तरह मोहनीय कर्मके क्षय गत होने पर सर्व कर्म नाश को प्राप्त होते हैं।

१३—धूमहीणो जहा अग्गी, खीयति से निरिंधणे।
एवं कम्माणि खीयंति, मोहणिज्जे खयं गए॥

द० श्रु० ५ : १३

जिस तरह अग्नि इन्धनके अभावमें धूम रहित होकर क्रमश क्षय को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके क्षय होने पर सर्व कर्म क्षयको प्राप्त होते हैं।

१४—चिच्चा औरालियं बोंदि, नाम गोयं च केवली।
आउयं वेयणिज्जं च, छित्ता भवति नीरए॥

दशा० श्रु० ५ : १६

केवली भगवान् इस शरीरको छोडकर तथा नाम, गोत्र, आयु और वेदनीय कर्मका छेदन कर कर्म रजसे सर्वथा रहित हो जाते हैं।

१५—एवं अभिसमागम्म, चित्तमादाय आउसो।
सेणि-सुद्धिमुवागम्म, आया सुद्धिमुवागई॥

दशा० श्रु० ५ : १७

हे शिष्य! इस प्रकार समाधिके भेदोको जान, राग और द्वेषसे रहित चित्तको धारण करनेसे शुद्धि श्रेणीको प्राप्त कर आत्मा शुद्धिको प्राप्त करता है।

१० : सिद्ध और उनके सुख

१—असरीरा जीवघणा उवउत्ता, दंसणे य णाणे य।
सागार मणागारं, लक्खणमेय तु सिद्धाणं ॥
उव० सू० १७८

सिद्ध अशरीर—शरीर रहित—होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान-केवलदर्शनसे सयुक्त होते है साकार और अनाकार उपभोग उनका लक्षण होता हैं।

२—केवलणाणुवउत्ता जाणंहि सव्वभावगुणभावे।
पासंति सव्वओ खलु केवलदिट्ठीअणंताहिं ॥
उव० सू० १७९

सिद्ध केवलज्ञानसे सयुक्त होनेसे सर्वभाव, गुणपर्यायको जानते है और अपनी अनन्त केवल दृष्टिसे सर्वभाव देखते है।

३—णवि अत्थि माणुसाणं तं सोक्खं ण विय सव्वदेवाणं।
जं सिद्धाणं सोक्खं अव्वाबाहं उवगयाणं ॥
उव० सू० १८०

न मनुष्यके ऐसा सुख होता है और न सब देवोंके जैसा कि अव्याबाध गुणको प्राप्त सिद्धोंके होता है।

४—जइ णाम कोइ मिच्छो णगरगुणे बहुविहे वियाणंतो।
ण चएइ परिकहेउं उवमाए तहिं असंतीए ॥

इय सिद्धाण सोक्खं अणोवमं णत्थि तस्स ओवम्मं।
किंचि विसेसेणेत्तो ओवम्ममिणं सुणह वोच्छं।
उव० सू० १८३, १८४

जैसे कोई म्लेच्छ नगरकी अनेक विध विशेषताका देख चुकने पर भी उपमा न मिलनेसे उनका वर्णन नहीं कर सकता, इसी तरह सिद्धो का सुख अनुपम होता है। उनकी तुलना नहीं हो सकती।

५—जह सव्वकामगुणियं पुरिसो भोत्तूण भोयणं कोई।
तण्हा छुहाविमुको अच्छेज्ज जहा अमियतित्तो॥
इय सव्वकालतित्ता अउलं निव्वाणमुवगया सिद्धा।
सासयमव्वाबाहं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥
उव० सू० १८५, १८६

जिस प्रकार सर्व प्रकारके पाचो इन्द्रियोके भोगको प्राप्त हुआ मनुष्य भोजन कर, क्षुधा और प्याससे रहित हो अमृत पीकर तृप्त हुए मनुष्यकी तरह होता है उसी तरह अतुल निर्वाण प्राप्त सिद्ध सदा काल तृप्त होते है। वे शाश्वत सुखको प्राप्तकर अव्याबाधित सुखी रहते है।

६—सिद्धत्ति य बुद्धति य पारगयत्ति य परंपरगयत्ति।
उम्मुक्ककम्मकवया अजरा अमरा असंगा य॥
उव० सू० १८७

सर्व कार्य सिद्ध होनेसे वे सिद्ध है सर्व तत्त्वके पारगामी होनेसे बुद्ध है, ससार-समुद्रको पार कर चुके होनेसे पारगत है, हमेशा सिद्ध रहेंगे इससे परंपरागत है।

७—णिच्छिण्णसव्वदुक्खा जाइजरामरणबंधणविमुक्का।
अव्वाबाहं सुक्खं अणुहोंति सासयं सिद्धा॥
उव० सू० १८८

वे सब दुःखोंको छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरणके बंधनसे विमुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुखका अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं।

८—अतुल सुहसागरगया अव्वाबाहं अणोवमं पत्ता।
सव्वमणागयमद्धं चिट्ठंति सुही सुहं पत्ता॥

उव० सू० १८६

वे अतुल सुख-सागरको प्राप्त होते हैं, वे अनुपम अव्याबाध सुखको प्राप्त हुए होते हैं। अनन्त सुखको प्राप्त हुए वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी कालमें वैसे ही सुखी रहते हैं।

११ : दुर्लभ सुलभ

१—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा हु हिंसगा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

उत्त० ३६ : २५५

जो जीव मिथ्यादर्शनमें रत हैं, जो निदान—फल पानेकी कामना—सहित हैं तथा जो हिंसामे प्रवृत्त हैं—ऐसी स्थितिमें जो जीव मरते हैं उनके लिए पुन. बोधि—सम्यक्त्व—का पाना दुर्लभ है।

२—सम्मदंसणरत्ता, अनियाणा सुक्कलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं सुलहा भवे बोही॥

उत्त० ३६ : २५६

जो सम्यक्दर्शनमें अनुरक्त, निदान—फल-कामनासे रहित और शुक्ललेश्यामें प्रतिष्ठित हैं—ऐसी स्थितिमें जो जीव मरते हैं, उनके लिए बोधि—सम्यक्त्व—सुलभ होता है।

३—मिच्छादंसणरत्ता, सनियाणा कण्हलेसमोगाढा।
इय जे मरन्ति जीवा, तेसिं पुण दुल्लहा बोही॥

उत्त० ३६ : २५७

जो जीव मिथ्यादर्शनमे रत, निदान—फल कामनासे सहित तथा कृष्णलेश्यामें प्रतिष्ठित है, इस प्रकारकी स्थितिमें जो जीव मरते है, उन्हे पुन. बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है।

४ – जिणवयणे अणुरत्ता, जिणवयणं जे करेंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा, ते होंति परित्तसंसारी॥
उत्त० ३६ : २६१

जो जीव जिन वचनोंमें अनुरक्त, जिन वचनोंके अनुसार भावसे आचरण करनेवाले, अमल—मिथ्यात्व-मल और रागादि क्लेशोंसे रहित है, वे परितसंसारी—संसारको छोटा करनेवाले होते है।

१२ : दिग्मूढ

१—वणे मूढे जहा जन्तू, मूढे नेयाणुगामिए।
दो वि एए अकोविया, तिव्वं सोयं नियच्छई॥
अन्धो अन्धं पहं नेन्तो, दूरमद्धाण गच्छइ।
आवज्जे उप्पहं जन्तू, अदु वा पन्थाणुगामिए॥
एवमेगे नियागट्ठी, धम्ममाराहगा वयं।
अदु वा अहम्ममावज्जे, न ते सव्वज्जुयं वए॥

सू० १, १।२ : १८, १६,२०

जैसे वनमे भूला कोई दिग्मूढ जीव दूसरे दिग्मूढ जीवका अनुसरण कर ठीक रास्ते पर नही आता और रास्तेको नहीं जाननेसे दोनो ही तीव्र शोकको प्राप्त होते है।

जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धेको मार्ग दिखाता हुआ दूर निकल जाता है या उत्पथमे चल आता या उल्टे पथ पर चला जाता है, उसी तरहसे कई मुक्तिकी कामना रखनेवाले समझते है कि हम धर्म की आराधना कर रहे है परन्तु मिथ्या धर्म पर चलनेसे वे सर्वथा ऋजु—सरल—मार्गको नही पाते।

२—एवमेगे वियक्काहि, नो अन्नं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं, अयमञ्जुहि दुम्मई॥

एवं तक्काइ साहेन्ता, धम्माधम्मे अकोविया।
दुक्खं ते नाइतुट्टन्ति, सउणि पञ्जरं जहा॥

सू० १, १।२ : २१, २२

कई ऐसे है जो केवल कुतर्क ही किया करते हैं और दूसरे सच्चे हो तो भी उनकी पर्युपासना नही करते। दुर्मति अपनी तर्कसे ही सोचते रहते कि उनका मार्ग ही सरल है। इस प्रकार अपनी पक्षमें तर्क करते हुए तथा धर्माधर्मको नही जानते हुए ऐसे लोग पीजरेमें बधे हुए पक्षीकी तरह दुःखका अन्त नहीं कर सकते।

३—सयं सयं पसंसन्ता, गरहन्ता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्सन्ति, संसारं ते विउस्सिया॥

सू०१, १।२ : २३

अपने-अपने मतकी प्रशसा करनेमें और दूसरोंके मतकी गर्हा—निन्दा करनेमें ही जो पाण्डित्य दिखाते है वे ससारमें बधे रहते है—उसके पार नही पहुचते।

४—ते नावि संधिं नच्चा णं, न ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं, न ते ओहंतराहिया॥

सू० १,१।१ : २०

इन सब वादियोको न सच्चे ज्ञानकी खबर है और न सच्चे धर्मका भान। इसलिए वे ससार-समुद्रको नही तिर सकते।

५—नाणाविहाइ दुक्खाइं, अणुहोन्ति पुणो पुणो।
संसारचक्कवालम्मि, मच्चुवाहिजराकुले॥

१, १।१ : २६

जरा-मृत्यु और व्याधिसे पूर्ण इस ससार-चक्रमें वे ऐसे कुतर्की बार बार अनेक प्रकारके दुःख भोगते रहते है।

७—जहा अस्साविणिं नावं, जाइअन्धो दुरूहिया।
इच्छई पारमागन्तुं, अन्तरा य विसीयई॥
एवं तु समणा एगे, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते, संसारं अणुपरियट्टन्ति॥

सू० १, १ । २ : ३१, ३२

जिस तरह छेदवाली फूटी नावमें बैठकर पार जानेकी इच्छा करनेवाले जन्मान्ध पुरुष पार नहीं पा सकते और बीचमें ही डूबते हैं इसी तरहसे कई अनार्य और मिथ्यादृष्टी श्रमण ससारसे पार पानेकी आकाक्षा रखते हुए भी ससारमें ही गोते खाया करते हैं।

८—सुद्धं मग्गं विराहित्ता, इहमेगे उ दुम्मई।
उम्मग्गगया दुक्खं, घायमेसन्ति तं तहा॥

सू० १, ११ : २६

शुद्ध मार्गकी विराधना करते हुए कई दुर्मति उन्मार्ग पर चले जाते हैं और (कर्मोंका संचय कर) दुःख और घातको प्राप्त होते हैं।

६—इमं च धम्ममायाय, कासवेण पवेइयं।
तरे सोयं महाघोरं, अत्तत्ताए परिव्वए॥

सू० १, ११ : ३२

काश्यप भगवान महावीर द्वारा कहे हुए धर्मके ग्रहण करनेसे मनुष्य इस ससार-रूपी घोर समुद्रसे तिर जाता है। इसलिए आत्माकी रक्षाके अभिप्रायसे मुमुक्षु इसी मार्गमें विहार करते हैं।

४ : क्रांति पद

१ : अनाथ

१—जो पव्वइत्ता ण महव्वयाइं, सम्मं च नो फासयई पमाया।
अणिग्गहप्पा य रसेसु गिद्धे, न मूलओ छिंदइ बंधण से॥
उत्त० २० : ३९

जो प्रव्रजित हो बादमें प्रमादके कारण महाव्रतोंका समुचित रूपसे पालन नही करता, जो आत्म-निग्रही नही होता और रसमें गृद्ध होता है, वह ससार-बन्धनकी जडोको मूलसे नही उखाड सकता।

२—चिरं पि से मुंडरुई भवित्ता, अथिरव्वए तवनियमेहि भट्ठे।
चिरं पि अप्पाण किलेसइत्ता, न पारए होइ हु संपराए।
उत्त० २० : ४१

जो चिरकालसे मुड होकर भी व्रतोंमें स्थिर नही होता और तप नियमोंसे भ्रष्ट होता है, वह चिरकाल तक आत्माको क्लेश पहुचाने पर भी इस ससारका पार नही पाता।

३—पोल्लेव मुट्ठी जह से असारे, अयंतिए कूडकहावणे वा।
राढामणी वेरुलियप्पगासे, अमहग्घए होइ हु जाणएसु॥
उत्त० २० : ४२

जिस तरह पोली मुट्ठी और विना छापका खोटा सिक्का असार होता है, उसी तरह जो व्रतोमे स्थिर नही होता उसके गुण हीन वेपकी कीमत नही होती—वह असार ही होता है; क्योंकि वैडूर्य मणि की

तरह प्रकाश करता हुआ भी काच जानकारके सामने मूल्यवान नहीं होता।

४—विसं तु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥

उ० २० : ४४

जिस तरह कालकूट विष पीनेवालेको मारता है, जिस तरह उल्टा ग्रहण किया हुआ शस्त्र शस्त्रधारीको ही घातक होता है और जिस तरह विधिसे वश नहीं किया हुआ वैताल मन्त्रधारीका ही विनाश करता है, उसी तरह विषयकी पूर्तिके लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्माके पतनका ही कारण होता है।

५—कुसील लिंगं इह धारइत्ता, इसिज्झयं जीविय वूहइत्ता।
असंजए संजयलिप्पमाणे, विणिघायमागच्छइ से चिरंपि॥

उ० २० : ४३

जो दुराचारी केवल रजोहरणादि बाह्य वेषको रखता है, जो पेट पूर्तिके लिए ही साधु लिंगको धारण करता है और जो असयमी होने पर भी सयमी होनेका दिखाव करता है वह चिरकाल तक दुःखी होता है।

६—निरट्ठिया नग्गरुई उ तस्स, जे उत्तमट्ठं विवज्जासमेइ।
इमे वि से नत्थि परे वि लोए, दुहओ वि से झिज्झइ तत्थलोए॥

उ० २० : ४६

उसका नग्नभाव निरर्थक है, जो उत्तमार्थमें विपर्यास करता है—पुरुषार्थी नहीं होता। वह न इस लोकका होता है, न परलोक का। वह इह भव और पर भव दोनोंको खोता है।

७—न तं अरी कंठछेत्ता करेइ, जं से करे अप्पणिया दुरप्पा ।
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते, पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥

उ० २० : ४८

दुरात्मा अपना जो अनिष्ट करती है वह कठछेदकरनेवाला वैरी भी नही करता। दुराचारी अपनी आत्माके लिए सवसे वडा दया हीन होता है, पहले उसे अपने कर्मोका भान नहीं होता परन्तु जब वह मृत्युके मुखमे पहुचता है तो पछताता हुआ वहुत दुखी होता है।

८—एमेवहाछंदकुसीलरूवे, मग्गं विराहित्तु जिणुत्तमाण।
कुररी विवा भोगरसाणुगिद्धा, निरट्ठसोया परितावमेइ॥

उ० २० : ५०

जो स्वछद, कुशील और निरावेपधारी होता है और जो उत्तम जिन मार्गकी विराधना कर टीटोडीकी तरह रस भोगमे गृद्ध होता है, उसका वादमे पछताना निरर्थक है।

२ : ब्राह्मण कौन ?

१—न वि मुंडिएण समणो, न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्णवासेणं, कुसचीरेण न तावसो ॥
उत्त० २५ : ३१

सिर मुडा लेने मात्रसे कोई श्रमण नहीं होता, 'ओम्' के उच्चारण मात्रसे कोई ब्राह्मण नहीं होता, अरण्यवास करनेमात्रसे कोई मुनि नहीं होता और न वल्कल चीर धारण मात्रसे तापस होता है।

२—समयाए समणो होइ, बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ, तवेणं होइ तावसो ॥
उत्त० २५ : ३२

समभावसे ही कोई श्रमण होता है और ब्रह्मचर्यसे ही कोई ब्राह्मण, ज्ञानसे ही कोई मुनि होता है और तपसे ही कोई तापस।

३—कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥
उत्त० २५ : ३३

कर्मसे ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्मसे ही क्षत्रिय। कर्मसे ही मनुष्य वैश्य होता है और शूद्र भी कर्मसे ही।

४—जो लोए बंभणो वुत्तो, अग्गी वा महिओ जहा।
सया कुसलसंदिट्ठं, तं वयं बूम माहणं ॥
उत्त० २५ : १९

जिसे कुशल पुरुषोने ब्राह्मण कहा है तथा जो लोकमें अग्निकी तरह पूज्य है, उसे हम सदा कुशल पुरुष द्वारा कहा हुआ ब्राह्मण कहते हैं।

५—जो न सज्जइ आगन्तुं, पव्वयंतो न सोयई।
रमइ अज्जवयणंमि, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २०

जो आए हुए सम्बन्धियोमे प्रीतिवान नही होता, जो जाते समय शोक नही करता और जो आर्य वचनोमें सदा अनुरक्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

६—जायरूवं जहामट्ठं, निद्धन्तमलपावगं।
रागद्दोसभयाईयं, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २१

जो अग्निमें तपाकर शुद्ध किये और घिसे हुए सोनेकी तरह पाप-मल रहित होता है तथा जो राग-द्वेष और भयसे शून्य होता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

७—तवस्सियं किसं दन्तं, अवचयमंससोणियं।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २२

जो तपस्वी है, कृश है, जितेन्द्रिय है, तप साधनासे जिसने रक्त और मास सूखा दिया है, जो सुव्रती है और जिसने क्रोध, मान, माया और लोभसे मुक्ति पाली है, उसे हम ब्राह्मण कहते हैं।

८—तसे पाणे वियाणित्ता, संगहेण य थावरे।
जो न हिंसइ तिविहेणं, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २३

जो त्रस (चलने फिरनेवाले) और स्थावर (स्थिर) जीवोको अच्छी तरह जान कर उनकी तीनो प्रकारसे कभी हिंसा नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

९—कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।
मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं॥
उ० २५ : २४

जो क्रोध, हसी-मजाक, लोभ, भय इन किसी भी कारणोसे झूठ नही बोलता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

१०—चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
न गिण्हइ अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं॥
उ० २५ : २५

जो सचित्त या अचित्त कोई भी पदार्थ, थोड़ा या अधिक कितना ही क्यो न हो, मालिकके दिए विना ग्रहण नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

११—दिव्वमाणुसतेरिच्छं, जो न सेवइ मेहुणं।
मणसा कायवक्केणं, तं वयं बूम माहणं॥
उ० २५ : २६

जो देव, मनुष्य तथा तिर्यञ्च सम्बन्धी सभी प्रकारके मैथुनका मन, वचन और शरीरसे सेवन नही करता, उसे हम ब्राह्मण कहते है।

१२—जहा पोम्मं जले जायं, नोव लिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं, तं वयं बूम माहणं॥
उ० २५ : २७

जिस तरह कमल जलमे उत्पन्न होकर भी जलसे लिप्त नही होता,

इसी प्रकार भोगोमें उत्पन्न होकर भी जो उनसे सर्वथा अलिप्त रहता है, उसे हम ब्राह्मण कहते हे।

१३—अलोलुयं मुहाजीवि, अणगारं अकिंचणं।
असंसत्तं गिहत्थेसु, तं वयं बूम महणं॥

जो लोलुपी नही है, जो पेटके लिए सग्रह नही करता, जो घरवार रहित है, जो अकिंचन ह, और जो गृहस्थोसे परिचय नही करता, उसे ब्राह्मण कहते हैं।

१४—जहित्ता पुव्वसंजोगं, नाइसंगे य वन्धवे।
जो न सज्जइ भोगेसु, तं वयं बूम माहणं॥
उत्त० २५ : २८,२६

जो पूर्व संयोग (स्त्री, माता-पिताके मोह-पाश), जाति बिरादरी और बान्धवोको एक बार छोड चुकने पर फिर भोगोमे अनुरक्त नही होता, उसे हम ब्राह्मण कहते हे।

१५—एए पाउकरे वुद्धे, जहि होइ सिणायओ।
सव्वकम्मविणिम्मुक्कं, तं वयं बूम माहणं॥

बुद्ध पुरुषोने जो गुण वतलाए है, उनसे सयुक्त होनेसे ही कोई स्नातक होता है। जो सब कर्मोसे मुक्त होता है, उसे ही हम ब्राह्मण कहते हे।

१६—एवं गुणसमाउत्ता, जे भवन्ति दिउत्तमा।
ते समत्था समुद्धत्तुं, परमप्पाणमेव च॥
उ० २५ : ३४,३५

इस भाति उत्तम गुणोसे सक्त जो द्विजोत्तम होते है, वे ही अपना तथा दूसरोका उद्धार करनेमें समर्थ है।

३ : कुशील

१—एवमेगे उ पासत्था, पन्नवन्ति अणारिया।
इत्थीवसं गया बाला, जिणसासणपरंमुहा॥

स्त्रीके वश हुए तथा सदाचारमें ढीले कई मूर्ख अनार्य जिन शासन से पराङ्मुख हो इस प्रकार कहते हैं :

२—जहा गण्डं पिलागं वा, परिपीलेज्ज मुहुत्तगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोसो तत्थ कओ सिया॥

जैसे फुन्सी अथवा फोड़ेको मुहूर्त भर दबा दिया जाता है, उसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करना चाहिए, इस कार्यमे दोष कैसे हो सकता है ?

३—जहा मन्धादणे नाम[1], थिमियं भुञ्जई दगं।
एवं विन्नवणित्थीसु, दोषो तत्थ कओ सिया॥

जैसे मेंड या पिङ्ग नामक पक्षिणा बिना हिलाए जल पीती है, उसी तरह समागमकी प्रार्थना करनेवाली स्त्रीके साथ समागम करनेसे किसी को पीडा न होनेसे इसमे कोई दोष कैसे हो सकता है ?

४—एवमेगे उ पासत्था, मिच्छदिट्ठी अणारिया।
अज्झोववन्ना कामेहिं, पूयणा इव तरुणए॥

सू० १, ३।४: ९, १०, ११, १३

१—जहा विहगमा पिङ्गा

इस तरह कितने ही शीलभ्रष्ट, मिथ्या दृष्टि तथा अनार्य पुरुष कामभोगमें वैसे ही अत्यन्त मूर्छित रहते हैं जैसे पूतना डाकिनी बालकों पर।

५—अणागयमपस्सन्ता, पच्चुप्पन्नगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पन्ति, खीणे आउम्मि जोव्वणे॥

सू०१, ३।४: १४

भविष्यमें होनेवाले दुखोंकी ओर न देख जो केवल वर्तमान सुखको खोजते हैं वे आयु और यौवन क्षीण होने पर पश्चाताप करते हैं।

६—अबंभचारी जे केइ, बंभचारी त्ति हं वए।
गद्दहेव्व गवा मज्झे, विस्सरं नयई नदं॥

दशा० श्रु० ६: १२

ब्रह्मचारी न होते हुए भी जो मैं ब्रह्मचारी हूं, ऐसा कहता है, वह गायोंके बीचमें गर्दभकी तरह विस्वर नाद करता है।

४ : वस्त्र और मार्ग

पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छयं ।

उत्त० २३ : २५

पच्चयत्थं च लोगस्स, नाणाविहविगप्पणं ।
जत्तत्थं गहणत्थं च, लोए लिंगप्पयोयणं ।।
अह भवे पइन्ना उ, मोक्खसब्भूयसाहणो ।
नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव निच्छए ।।

उत्त० २३ : ३२-३३

प्रज्ञासे ही धर्म अच्छी तरह देखा जाता है और उसके द्वारा ही तत्त्वका विनिश्चय होता है ।

नाना प्रकारकी वेषभूषा लोगोंकी प्रतीतिके लिए है । संयम यात्रा के निर्वाह तथा मैं साधु हूं इस बातकी स्मृतिके लिए ही लोकमें लिंग का प्रयोजन है ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र यही निश्चय रूपसे मोक्षकी साधना है—इसमें तीर्थंकर एक मत हैं ।

५ : पापी श्रमण

१—दुद्धदही विगईओ, आहारेइ अभिक्खणं।
अरए य तवोकम्मे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : १५

जो दूध, दही आदि विकृतियोंका बार-बार आहार करता है और जिसे तप-कर्ममें रति नही वह पापी श्रमण कहा जाता है।

२—सयं गेहं परिच्चज्ज, परगेहंसि वावरे।
निमित्तेण य ववहरइ, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : १८

जो अपना घर छोड कर पर घरोंमें काम करता है और निमित्तसे —शुभाशुभ बतलाकर—व्यवहार—आजीविका—करता है, वह पापी श्रमण कहा जाता है।

३—दवदवस्स चरई, पमत्ते य अभिक्खणं।
उल्लंघणे च चण्डे य, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : ८

जो शीघ्र-शीघ्र चलता है, उन्मत्त होकर बार-बार बालादिका उल्लंघन कर जाता है और क्रोधी है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

४—जे केई उ पव्वइए, निद्दासीले पगामसो।
भोच्चा पेच्चा सुहं सुअइ, पावसमणे त्ति वुच्चइ॥

उत्त० १७ : ३

जो कोई प्रव्रजित होकर अत्यन्त निन्द्राशील और आलसी होता है और खा-पीकर सुखसे सोता रहता है वह पापी श्रमण कहा जाता है।

५—आयरियउवज्झाएहिं, सुयं विणयं च गाहए।
ते चेव खिंसई बाले, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : ४

जो मूर्ख आचार्य और उपाध्यायसे श्रुत और विनय ग्रहण कर उन्हींकी निन्दा करता है वह पापी श्रमण कहलाता है।

६—सम्मद्दमाणे पाणाणि, बीयाणि हरियाणि य।
असंजए संजयमन्नमाणे, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : ६

जो प्राणी, बीज और हरी वनस्पतिका मर्दन करता हुआ असयमी होने पर भी अपनेको सयमी मानता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

७—बहुमाई पमुहरी, थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अचियत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : ११

जो अत्यन्त मायावी, विना विचारे बोलनेवाला, अहकारी, लोभी, अनिग्रही, असविभागी और प्रेमभाव नहीं रखनेवाला होता है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

८—विवायं च उदीरेइ, अहम्मे अत्तपन्नहा।
वुग्गहे कलहे रत्ते, पावसमणे त्ति वुच्चई॥

उत्त० १७ : १२

जो विवाद को खड़ा करता है, जो अधर्ममें आत्मप्रज्ञा—बुद्धिवाला है और युद्ध और कलहमें रत है, वह पापी श्रमण कहलाता है।

६ : परमार्थ

१—जो सहस्सं सहस्साणं, मासे मासे गवं दए।
तस्सावि संजमो सेओ, अदिन्तस्स वि किंचण ॥
उत्त० ६ : ४०

जो प्रतिमास दस दस लाख गायोका दान देता है, उसकी अपेक्षा कुछ भी नहीं देनेवाले संयमीका संयम श्रेष्ठ है।

२—सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहि य सव्वेहि, साहवो संजमुत्तरा ॥
उत्त० ५ : २०

कई कई भिक्षुओंसे तो गृहस्थ ही संयममें उत्तम होते हैं परन्तु साधु पुरुष सभी गृहस्थोंसे संयममें उत्तम होते हैं।

३—चीराजिणं नगिणिणं, जडी संघाडि मुण्डिणं।
एयाणि वि न तायन्ति, दुस्सीलं परियागयं ॥
उत्त० ५ : २१

वल्कलके चीर, मृग-चर्म, नग्नता, जटा, संघाटि—कंथा, सिर मुंडन इत्यादि नाना वेष दुराचारी पुरुषकी जरा भी रक्षा नहीं कर सकते।

४—पिंडोलए व्व दुस्सीले, नरगाओ न मुच्चई।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं ॥
उत्त० ५ : २२

भिक्षा माग कर जीवन चलनेवाला भिक्षु भी अगर दुराचारी है तो नरकसे नही बच सकता। भिक्षु हो या गृहस्थ, जो सुव्रती—सदाचारी—होता है वह स्वर्गको प्राप्त करता है।

५—पडन्ति नरए घोरे, जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छन्ति, चरित्ता धम्ममारियं॥
उत्त० १८ : २५

(साधु हो या गृहस्थ) जो मनुष्य पापी होते हैं वे घोर नरकमें गिरते हैं और आर्य धर्म—सत्य धर्मका जो अनुसरण करते है वे दिव्य गति में जाते है।

६—वत्थगन्धमलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छन्दा जे न भुंजन्ति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥
द० २ : २

वस्त्र, गन्ध, अलकार स्त्रिया और शयन इनके अभावसे जो इनका भोग नही करता वह कोई त्यागी नही कहा गया है।

७—जे य कन्ते पिए भोए, लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चई॥
द० २ : ३

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोग उपलब्ध होने पर भी उनसे मुह फेरता है—उन्हे पीठ दिखा देता है और जो स्वाधीन भोगोको भी त्यागता है उसे ही सच्चा त्यागी कहा गया है।

७ : मद

१—जे यावि अप्पं वसुमं ति मत्ता, संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता, अन्नं जणं पस्सइ बिम्बभूयं ॥
एगन्तकूडेण उ से पलेइ, न विज्जई मोणपयंसि गोत्ते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, वसुमन्नतरेण अबुज्झमाणे ॥

सू० १, १३ : ८,९

जो अपनेको सयमी समझ, मान करता है, परमार्थकी परख न होने पर भी जो अपनेको ज्ञानी मान बडाई करता है और जो मैं ही तपस्वी हूं, ऐसा गुमान करता हुआ दूसरेको परछाईकी नाई देखता है, वह कर्म-पाश में जकडा जाकर—जन्म मरणके एकान्त दु खपूर्ण चक्रमे घूमता है । ऐसा पुरुष सयमरूपी सर्वज्ञमान्य गोत्रमे अधिष्टित नही होता । जो मानका भूखा अपनी बडाई करता है और सयम धारण करने पर भी अभिमानी होता है, वह परमार्थको नहीं समझता ।

२—जे माहणे खत्तियजायए वा, तहुग्गपुत्ते तह लेच्छई वा ।
जे पव्वईए परदत्तभोई, गोत्ते न जे थब्भइ माणबद्धे ॥

सू० १, १३ : १०

ब्राह्मण, क्षत्रिय, उग्रपुत्र व लेच्छविय, कोई भी जिसने घरवार छोड़ प्रव्रज्या ले ली है और जो दूसरेके दिए हुए भोजन पर ही जीवन

चलाता है, उसे अपने मानस्पद गोत्रका अभिमान नही होना चाहिए।

३—न तस्स जाई व कुलं व ताणं, नन्नत्थ विज्जाचरणं सुचिण्ण।
निक्खम्म से सेवइ गारिकम्मं, न से पारए होइ विमोयणाए॥
सू० १, १३ : ११

गोत्राभिमानीको उसकी जाति व कुल शरणभूत—रक्षाभूत नही हो सकते। सुआचरित विद्या और चरण—धर्मके सिवा अन्य वस्तु नही जो उसकी रक्षा कर सके। जो घरबारसे निकल चुकने पर भी गृह-कर्मोंका सेवन करता है, वह कर्म मुक्त होकर ससारके पार नहीं पहुचता।

४—निक्किंचणे भिक्खु सुलूहजीवी, जे गारवं होइ सिलोगकामी।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो, पुणो पुणो विप्परियासुवेन्ति॥
सू० १, १३ : १२

निष्किंचन और रूखे-सूखे आहार पर जीवन चलानेवाला भिक्षु होकर भी जो मानप्रिय और स्तुतिकी कामनावाला होता है, उसक वेष केवल आजीविकाके लिए होता है। परमार्थको न जान वह बार-बार ससार-भ्रमण करता है।

५—जे भासवं भिक्खु सुसाहुवाई, पडिहाणवं होइ विसारए य।
आगाढपन्ने सुविभावियप्पा, अन्नं जणं पन्नया परिहवेज्जा॥
एवं न से होइ समाहिपत्ते, जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।
अहवा वि जे लाहमयावलित्ते, अन्नं जणं खिंसइ बालपन्ने॥
सू० १, १३ १३,१४

भाषाका जानकार, हित-मित बोलनेवाला, प्रतिभावान, विशारद, स्थिर प्रज्ञ और आत्माको धर्मभावमें लीन रखनेवाला—ऐसा भी जो

साधु अपनी प्रज्ञासे दूसरेका तिरस्कार करता है, जो लाभ-मदसे अव-लिप्त हो दूसरेकी निन्दा करता है और अपनी प्रज्ञाका अभिमान रखता है वह मूर्ख बुद्धिवाला पुरुष समाधि प्राप्त नहीं कर सकता।

६—पन्नामयं चेव तवोमयं च, निन्नामए गोयमयं च भिक्खू।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु, से पण्डिए उत्तमपोग्गले से॥

सू० १, १३ : १५

प्रज्ञा-मद, तप-मद, गोत्र-मद और चौथा आजीविकाका मद—इन चार मदोको नही करनेवाला निस्पृह भिक्षु सच्चा पण्डित और उत्तम आत्मावाला होता है।

७—मयाइं एयाइं विगिञ्च धीरा, न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा।
ते सव्वगोत्तावगया महेसी, उच्चं अगोत्तं च गतिं वयन्ति॥

उत्त० १, १३ : १६

जो धीर पुरुष इन मदोको दूर कर धर्ममें स्थिर बुद्धि हो इनका सेवन नही करते वे सर्व गोत्रसे पार पहुचे हुए महर्षि उच्च अगोत्र गतिको—मोक्षको पाते हैं।

८—तय सं व जहाइ से रयं, इइ संखाय मुणी न मज्जई।
गोयन्नतरेण माहणे, अहसेयकरी अन्नेसि इंखिणी।

सू १,२।२ : १

जिस तरह सर्प कांचलीको छोड़ता है उसी तरह संत पुरुष पाप रजको झाड़ देते हैं। यह जान कर मुनि गोत्र या अन्य बातोका अभि-मान न करे और न दूसरोकी अश्रेयस्कारी निन्दा करे।

९—जो परिभवई परं जणं, संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इइ संखाय मुणी न मज्जई॥

सू० १, २।२ : २

जो दूसरोका तिरस्कार करते हैं, वे ससारमें अत्यन्त, परिभ्रमण करते है। पर निन्दाको पापकारी समझ कर मुनि किसी प्रकारका मद न करे।

१०—जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगेसिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए, नो लज्जे समयं सया चरे॥

सू० १, २।२ : ३

कोई अनाथ हो और कोई नौकरका नौकर तो भी सयम ग्रहण कर लेने पर मुनि परस्पर वदनादि करनेमें निःसकोच भाव हो और सदा परस्पर समभाव रक्खे।

८ : सच्चा तप

१—जइ वि य नगिणे किसे चरे, जइ वि य भुञ्जिय मासमंतसो।
जे इह मायाहि मिज्जई, आगन्ता गब्भाय णन्तसो॥
सू० १, २।१ : ६

भले ही कोई नग्न रहे और देहको कृश करे, भले ही कोई मास-मासके अन्तरसे भोजन करे, जो मायावी होता है, वह अनन्त बार गर्भावास करता है।

२—मासे मासे उ जो बालो, कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स, कलं अग्घइ सोलसि॥
उत्त० ६ : ४४

यदि अज्ञानी मनुष्य महीने-महीनेके उपवास करे और पारणमें कुशाके अग्रभाग पर आवे उतना ही आहार करे तो भी वह सत्पुरुषो के बताये धर्मके सोलहवें हिस्सेको भी नही पहुच सकता।

३—जो लक्खणं सुविण पउंजमाणे, निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी, न गच्छई सरणं तम्मि काले॥
उत्त० २० : ४५

जो लक्षण विद्या, स्वप्न विद्या, ज्योतिप और विविध कुतूहल आदि मे रत रहता है और जो तुच्छ विद्याओ द्वारा उदर पोषण करता है, उसकी ये सब बातें मरण समयमे शरणभूत नही होतीं।

४—तमंतमेणेव उ से असीले, सया दुही विप्परियासुवेइ।
संधावइ नरगतिरिक्खजोणी, मोणं विराहित्तु असाहुरूवे॥
उत्त० २० ४६

दुराचारी मनुष्य सदा दुःखी रहकर घोर तमस्तमा नरकमें गिरता है। असाधु पुरुष सदाचारके नियमोका उल्लघन कर नरक और पशु-पक्षियोकी योनिमें उत्पन्न होता है।

५—सक्खं खु दीसइ तवोविसेसो, न दीसई जाइविसेस कोई।
सोवागपुत्तं हरिएससाहुं, जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा॥
उत्त० १२ : ३७

निश्चय ही तपकी विशेपता तो यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है और जातिकी विशेपता तो थोड़ी सी भी नजर नही आती। चाण्डाल पुत्र हरिकेश साधुकी महा ऋद्धि और प्रभावको तो देखो!

६—तेसिं पि न तवो सुद्धो, निक्खन्ता जे महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणन्ति, न सिलोगं पवेज्जए॥
सू० १, ८ : २४

जो कीर्ति आदिकी कामनासे तप करते हैं, उनका तप शुद्ध नही है, भले ही उन्होंने महाकुलमेंसे प्रव्रज्या भी हो। जो दूसरे नही जाने (वही सच्चा तप है)। तपस्वी आत्मश्लाघा न करे।

७—जे कोहणे होइ जयट्ठभासी, विओसियं जे उ उदीरएज्जा।
अन्धे व से दण्डपहं गहाय, अविओसिए धासइ पावकम्मी॥
सू० १, १३ : ५

जो स्वभावसे क्रोधी होता है, जो कटुभाषी है, जो शान्त हुए कलहको उखाड़ता है वह अनुपशांत परिणामवाला पापी जीव पगडडी पर चलनेवाले अन्धेकी तरह धर्ममार्गसे पतित होता।

८—जे विग्गहीए अन्नायभासी, न से समे होइ अभंभपत्ते।
ओवायकारी य हिरीमणे य, एगन्तदिट्ठी य अमाइरूवे ॥

सू० १, १३ : ६

जो झगड़ा करनेवाला और अन्यायभाषी है वह कलह रहित न होनेसे—सम—मध्यस्थभावी नहीं होता। जो आज्ञाकारी और पाप कर्म करनेमें लज्जाशील होता है और जिसकी आत्मार्थमें एकान्त दृष्टि होती है वही अमायी है।

९ : पात्र कौन ?

१—कोहो य माणो य वहो य जेसिं, मोसं अदत्तं च परिग्गहो च ।
ते माहणा जाइविज्जाविहीणा ताइं तु खित्ताइं सुपावयाइं ॥
उत्त० १२ : १४

जिनके क्रोध, मान, हिंसा, असत्य, चोरी और परिग्रह है वे ब्राह्मण जाति और विद्या दोनोसे ही रहित हैं। ऐसे ब्राह्मण निश्चय ही पाप रूप क्षेत्र है।

२—तुब्भेत्थ भो भारधरा गिराणं, अट्ठं न याणाह अहिज्ज वेए।
उच्चावयाइं मुणिणो चरन्ति, ताइं तु खित्ताइं सुपेसलाइं ॥
उत्त० १२ : १५

हे ब्राह्मणो ! तुम लोग इस लोकमे वेदरूप वाणीके केवल भार उठानेवाले ही हो ! वेदोको पढकर भी तुमने उनके अर्थको नही जाना। सामान्य व उच्च घरोमें भिक्षाचर्या करनेवाले मुनि ही वास्तवमें कृत्यकारी पुण्यरूप क्षेत्र है।

१० : बाह्य शुद्धि

१—कि माहणा जोइसमारभन्ता, उदएण सोहि बहिया विमग्गह।
जं मग्गहा बाहिरियं विसोहिं, न तं सुदिट्ठं कुसला वयंति ॥
उत्त० १२ : ३८

हे ब्राह्मणो ! अग्निका आरम्भ कर और जल-मंजन कर बाह्य शुद्धि द्वारा अन्तर शुद्धिकी गवेषणा क्यो करते हो ? जो मार्ग केवल बाह्य शुद्धिका है, उसे कुशल पुरुषोंने इष्ट नही बतलाया है।

२—कुसं च जूवं तणकट्ठमग्गिं, सायं च पायं उदगं फुसन्ता।
पाणाइं भूयाइं विहेडयन्ता भुज्जो वि मन्दा पकरेह पावं ॥
उत्त० १२ : ३९

कुशा, यूप, तृण, काष्ट और अग्नि तथा प्रातः और सन्ध्या उदक का स्पर्श कर प्राणी और भूतोका विनाश कर, हे मन्द बुद्धि पुरुष ! तुम केवल पापका ही उपार्जन करते हो !

३—इहेग मूढा पवयंति मोक्खं, आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीओदगसेवणेणं, हुएण एगे पवयंति मोक्खं ॥
सू० १, ७ : १२

कई मूर्ख लवण छोड़नेसे मोक्ष बतलाते है और कई शीतोदक सेवन करनेसे (सुबह साम नहाने धोनेसे) और कई हुताशन—धूनी तपनेसे मोक्ष बतलाते है।

४—पाओ सिणाणाइसु णत्थि मोक्खो, खारस्स लोणस्स अणास णेणं।
ते मज्जमंसं लसुणं च भोच्चा, अन्नत्थ वासं परिकप्पयंति ॥

सू० १, ७ : १३

प्रात: स्नानादिसे मोक्ष नही होता और न नमकके वर्जनसे। मूर्ख मनुष्य मद्य, मास तथा लहसुनका सेवनकर मोक्षकी आशा रखता है परन्तु वह अपने लिए कोई दूसरा ही वास (नर्कस्थान) तैयार करता है।

५—उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं उदगं फुसंता।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी, सिज्झिंसु पाणा बहवे दगंसि ॥

सू० १, ७ : १४

जो सुबह और साम जलका स्पर्श करते हुए—जल स्नानसे मुक्ति बतलाते है वे मूर्ख है। जो जल-स्पर्शसे ही सिद्धि होती हो तब तो जलमे रहनेवाले बहुत जीव मोक्ष प्राप्त करे।

६—उदगं जई कम्ममलं हरेज्जा, एवं सुहं इच्छामित्तमेव।
अंधं व नेयारमणुस्सरित्ता, पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥

सू० १, ७ : १६

जैसे जलसे पाप मल दूर होता होगा वैसे ही पुण्य भी क्यो नही घुलता होगा? जल स्नानसे पाप-मल धुलनेकी बात मनोकल्पना मात्र है। जिस तरह अन्धा पुरुष अन्धे पुरुषका अनुसरण कर अभिप्रेत स्थानको नही पहुच सकता उसी तरह स्नान आदिसे मोक्ष मानने वाले मूर्ख प्राणियोकी घात करते हुए सिद्धि नही पा सकते।

७—पावाइं कम्माइं पकुव्वोहि, सिओदगं उ जइ तं हरिज्जा।
सिज्झिंसु एगे दगसत्तघाई, मुसं वयन्ते जलसिद्धिमाहु ॥

सू० १, ७ : १७

यदि पाप कर्मोंको करता हुआ मनुष्य शीतोदकके स्पर्शसे उनको दूर कर सकता है तब तो जीव घातक जल जंतु भी मुक्त हो सकते होंगे? जो जल-स्नानमें मुक्ति बतलाते हैं वे मिथ्या बोलते हैं।

८—हुएण जे सिद्धिमुदाहरंति, सायं च पायं अगणिं फुसन्ता।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तम्हा, अगणिं फुसंताण कुकंमिणं पि।
सू० १, ७ : १८

मूढ़ मनुष्य सुबह और सन्ध्या अग्निका स्पर्श करते हुए हुताशनमें सिद्धि बतलाते हैं। अगर इस तरहसे मुक्ति मिले तब तो रात-दिन अग्निका स्पर्श करनेवाले लोहारादि कर्मी भी मोक्ष पहुँचेंगे।

९—जे मायरं वा पियरं च हिच्चा, समणव्वए अगणिं समारभिज्जा।
अहाहु से लोए कुसील धम्मे, भूयाइं जे हिंसइ आयसाए॥
सू० १, ७ : ५

जो माता-पिता आदिको छोड़कर सन्यासी हो चुकने पर भी अग्नि का समारम्भ करते हैं तथा जो आत्म-सुखके लिए प्राणियोंकी हिंसा करते हैं, उन्हें कुशीलधर्मी कहा है।

१०—उज्जालओपाण निवायएज्जा, निव्वावओ अगणिं निवायवेज्जा
तम्हा उमेहावि समिक्ख धम्मं, ण पंडिए अगणिं समारभिज्जा
सू० १, ७ : ६

जो अग्नि सुलगाता है, वह त्रस-स्थावर जीवोंका विनाश करता है और जो अग्नि बुझाता है वह भी अनेक जीवोंका विनाश करता है। अतः विवेकी पुरुष दया धर्मको अच्छी तरह समझ अग्निका समारम्भ नहीं करते।

११—पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा, पाणा य संपाइम संपयंति।
संसेयया कट्ठसमस्सिया य, एए दहे अगणिं समारभंते॥
सू० १, ७ : ७

अग्निका समारम्भ करनेवाला पृथ्वीकायिक जीव, जलकायिक जीव, उड उडकर गिरनेवाले सपातिम प्राणी, सस्वेदज तथा काष्ठ इधनादिमें रहे हुए जीव आदि स्थावर-जगम प्राणियोको जला डालता है।

१२—हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि, आहार देहा य पुढो सियाइ
जे छिंदई आयसुहं पडुच्च, पगब्भि पाणे बहुणं तिवाई ॥
सू० १, ७ : ८

मनुष्यकी तरह ही हरी वनस्पति विकास शील होती है। इसके अलग-अलग भागोमें पृथक्-पृथक् जीव होते हैं। जो आत्म-सुखके लिए—आहार तथा शरीरके लिए वनस्पतिका छेदन-भेदन करते हैं, वे ढीठतापूर्वक अनेक जीवोका नाश करते हैं।

१३—जातिं च वुड्ढिं च विणासयंते, बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे, बीयाइ जे हिंसति आयसाते ॥
सू० १, ७ : ९

जो कंद-मूल, शाखा-प्रशाखा, फल-फूल, बीज आदि वनस्पतिकाय का विनाश करता है, वह असयमी अपनी आत्माकी ही घात करता है। जो आत्म-सुखके लिए बीज प्रमुख हरी कायकी हिंसा करता है, उसे लोकमे अनार्यधर्मी कहा है।

१४—अपरिक्ख दिट्ठं णहु एव सिद्धी, एहिंति ते घायमवुज्झमाणा।
भूएहिं जाणं पडिलेह सातं, विज्जंगहायं तसथावरेहिं ॥
सू० १, ७ : १९

जो स्नान और होमादिसे सिद्धि बतलाते हैं, वे आत्मार्थको नहीं पहचानते। इस तरह मुक्ति नही होती। वे परमार्थको समझे बिना प्राणी-हिंसा कर ससारमें भ्रमण करेंगे। विवेकी पुरुष 'त्रस-स्थावर

सब जीव सुख चाहते हैं'—इस तत्त्वको ग्रहण कर वर्तन करते हैं।

१५—थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी, पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हाविऊ विरतो आयगुत्ते, दट्ठुं तसेया पडिसंहरेज्जा ॥

सू० १, ७ : २०

पापी जीव नरकमें जाकर आक्रंद करता है, छेदा-भेदा जाता है और व्याकुल हो इधर-उधर दौड़ता है। इसलिए विद्वान् मुनि पापसे निवृत्त होकर अपनी आत्माकी रक्षा करे। वह त्रस और स्थावर प्राणियोंकी घातकी क्रिया न करे।

११ : तुष

१—जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे, वियडेण साहट्टु यजे सिणाइं।
जे धोवई लूसयई व वत्थं, अहाहु ते नागणियस्स दूरे॥
सू० १, ७ : २१

जो सग्रह कर रखे हुए भोजनका आहार करते है फिर वह आहार निर्दोष और नियमानुसार प्राप्त भी क्यो न हो और जो स्नान करते है, फिर चाहे वह शरीर सकोच कर और प्रासुक जलसे ही क्यो न किया गया हो तथा जो वस्त्रोको धोते अथवा वस्त्रो को शोभाके लिए छोटा व लम्बा करते है वे श्रमणधर्मसे दूर है—ऐसा ज्ञानियोने कहा है।

२—जे मायरं च पियरं च हिच्च, गारं तहा पुत्तपसुं धणं च।
कुलाइं जे धावइ साउगाइं, अहाहु से सामणियस्स दूरे॥
सू० १, ७ : २३

माता-पिता, घर, पुत्र, पशु और धनको त्यागकर सर्वव्रती साधु हो चुकने पर भी जो जिह्वा-लोलुपी बन स्वादु भोजनवाले घरोमे दौड़ता है, वह श्रमण भावसे दूर है ऐसा ज्ञानियोने कहा है।

३—कुलाइं जे धावइ साउगाइं, आघाइ धम्मं उयराणुगिद्धे।
अहाहु से आयरियाण सयंसे, जे लावएज्जा असणस्स हेऊ।
सू० १, ७ : २४

जो स्वादु भोजनवाले घरोमें वार-वार जाता है और उदर पूर्ति के लिये लोलुपी बना मन चाहा धर्म कहता है तथा जो आहार वस्त्र आदि वस्तुओकी प्राप्तिके लिए अपनी प्रशसा करता है वह आर्य धर्म के शताशसे भी दूर है।

४—णिक्खम्म दीणे परभोयणंमि, मुहमंगलीए उयराणुगिद्धे।
नीवारगिद्धे व महावराहे, अदूरए एहिइ घायमेव॥
सू० १, ७ : २५

जो घरवार छोड़ चुकने पर पर भी भोजनके लिए दीनता दिखाते है और उदर पूर्तिके लिए गृद्ध बने भाटकी तरह गृहस्थोकी प्रशसा करते फिरते है वे चावलमें आसक्त सूअरकी तरह शीघ्र ही विनाशको प्राप्त होते है।

५—अन्नस्स पाणस्सिहलोइयस्स, अणुप्पियं भासइ सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च, निस्सारए होइ जहा पुलाए॥
सू० १, ७ : २६

जो अन्न-पान व वस्त्रादिके लिये नौकरकी तरह खुशामद करता हुआ प्रिय बोलता रहता है वह सदाचार-भ्रष्ट पासत्थ कुशीलभाव को प्राप्त हो विना धानके तुषकी तरह नि:सार होता है।

६—आउत्तया जस्स न अत्थि काइ, इरियाए भासाए तहेसणाए।
आयाणनिक्खेव दुगुंछणाए, न वीरजायं अणुजाइ मग्गं॥
उत्त० २० : ४०

गमनागमान, बोलने, एषणा—भोजनादि शोधने और ग्रहण करने, वस्त्रादि सामगियोको रखने उठाने तथा दुगछनीय चीजोके उत्सर्ग करने इन—समितियोके विषयोमें जिसके निरन्तर उपयोग—सावधानता नही है वह वीरोपदिष्ट मार्गका अनुयायी नही है।

७—उद्देसियं कीयगडं नियागं, न मुञ्चई किंचि अणेसणिज्जं।
अग्गीविवा सव्वभक्खी भवित्ता, इओ चुओ गच्छइ कट्टुपावं॥
उत्त० २० : ४७

जो अग्निकी तरह सर्वभक्षी बन साधुको उद्देश्य कर किया हुआ, साधुके लिए खरीद कर लाया हुआ और नित्य पिण्ड—इस तरहके किसी भी अनैषणीय आहारको नहीं छोडता वह यहांसे देह छोडकर अत्यन्त पापवाली नारकीको जाता है।

८—चरित्तमायार गुणण्णिए तओ, अणुत्तरं संजम पालिया णं।
निरासवे संखवियाणकम्मं, उवेइ ठाणं विउलुत्तमंधुवं॥
उत्त० २० : ५२

जो चारित्राचारके गुणोंसे संयुक्त है, जो सर्वोत्तम संयमका पालन करता है, जिसने सर्व आश्रवोंको रोक दिया है। जिसने कर्मोंका क्षय कर दिया है वह विपुल, उत्तम और ध्रुवगति—मुक्तिको पाता है।